

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

७४



श्रीमदुदयनाचार्यप्रणीतः

न्यायकुसुमाञ्जलिः

विद्वद्वर-श्रीहरिदासभट्टाचार्यविरचितव्याख्याविभूषितः
'कुसुमाञ्जलिपरिमल' हिन्दीव्याख्योपेतश्च

हिन्दीव्याख्याकारः—

श्रीमदाचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि
अध्यक्ष, 'श्रीरामदास दर्शनपीठ' गुरुकुल विश्वविद्यालय,
वृन्दावन, मथुरा

No. 12



चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०१९

मूल्य : ९-००

© The Chowkhamba Vidya Bhawan,
Chowk, Varanasi-1 (India)
1962

Phone : 3076

THE VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA

74



THE

NYĀYA KUSUMĀÑJALI

OF

S'RĪ UDAYANĀCHĀRYA

WITH

THE SANSKRIT COMMENTARY

OF

S'RĪ HARIDAS BHĀṬṬĀCHĀRYA

EDITED WITH

THE 'KUSUMĀÑJALI PARIMAL' HINDI COMMENTARY

By

Āchārya Viśveśvar Siddhānta S'iromaṇi

DIRECTOR, SHRI RAMDAS DARSHAN PEETH

GURUKUL VISWA VIDYALAYA, VRINDABAN, MATHURA



THE

CHOWKHAMBA VIDYA BHAWAN

VARANASI-1

श्री हरजीमल डालमिया पुरस्कार

नई देहली,

वर्ष–२००७–२००८

विजेता : श्री आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि

कृति : न्यायकुसुमाञ्जलि

विषय : दर्शन

पुरस्कार : एक हजार रुपया

श्रीराम श्रीवास्तव
मन्त्री

सरस्वती डालमिया
सभानेत्री

डालमिया जैन-निवास

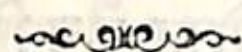
तिथि–चैत्र शुक्ल पञ्चमी

संवत् २००९ वि०

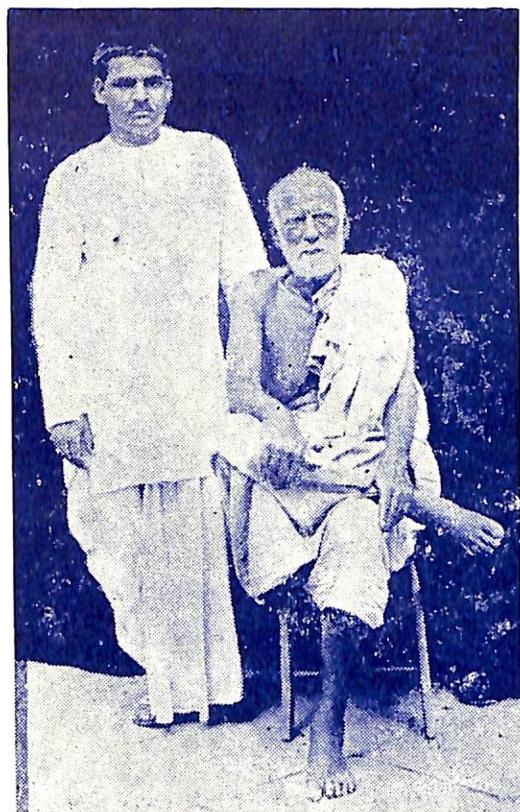


आचार्य विश्वेश्वर-कृत ग्रन्थों की सूची

१. हिन्दी तर्कभाषा (उत्तरप्रदेश तथा विन्ध्यप्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत)	४–५०
२. हिन्दी न्यायकुसुमाञ्जलि (हरजीमल डालमिया पुरस्कार प्राप्त)	९–००
३. हिन्दी ध्वन्यालोक (उत्तरप्रदेश एवं विन्ध्यप्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत)	१०–००
४. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित (उत्तरप्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत)	१६–००
५. हिन्दी काव्यालङ्कारसूत्र " "	१२–००
६. मनोविज्ञान-मीमांसा " "	८–००
७. नीतिशास्त्रम् " "	अप्रकाशित
८. खगोलप्रकाशः " "	"
९. हिन्दी अभिनव भारती (दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पुरस्कृत)	२५–००
१०. हिन्दी नाट्यदर्पण " "	२२–००
११. हिन्दी भक्तिरसामृतसिन्धौ " "	२२–००
१२. हिन्दी काव्यप्रकाश	१६–००
१३. महात्मा ईसा	४–००
१४. प्रपञ्च परिचय	४–००

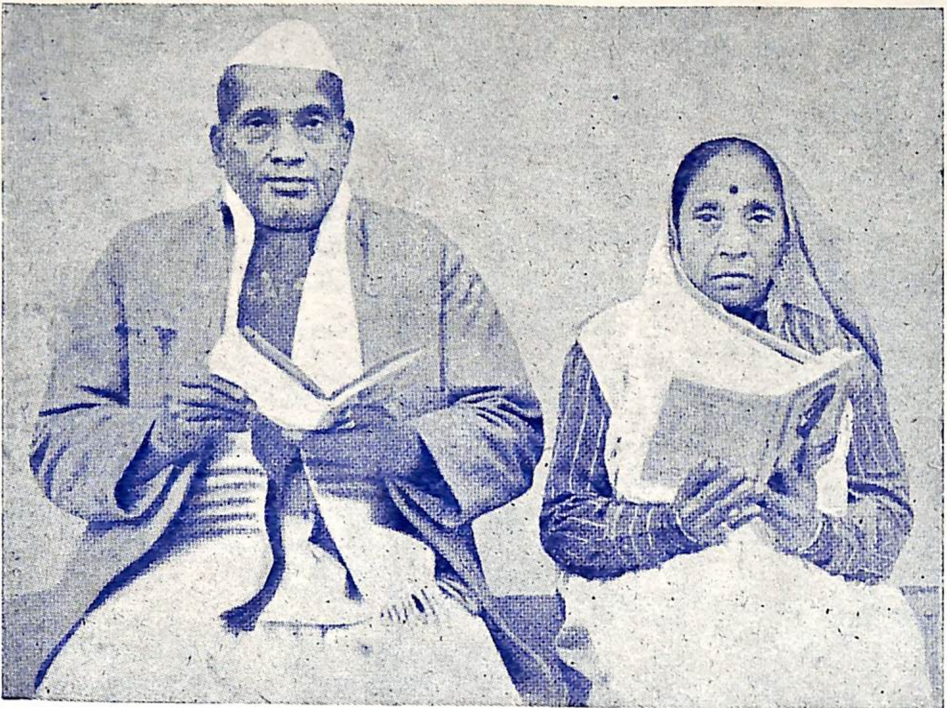


ग्रन्थकार



सर्वतन्त्रस्वतन्त्र गुरुवर श्री काशीनाथ जी महाराज के
साथ ग्रन्थकार विश्वेश्वर सिद्धान्तसिरोमणि
काशी, २ मई सन १९३३

श्री 'रामदास-दर्शनपीठ' के संस्थापक



श्री रामदास जी आर्य तथा श्रीमती राजकुंवरदेवी जी, चैत्र शुक्ला १, सं० २००७, नववर्ष दिवस

आभार-प्रदर्शन

श्रीमान् सेठ रामदास जी आर्य

ने

अपनी धर्मशीला धर्मपत्नी

श्रीमती राज कुंवर देवी

के

सत्परामर्श से

दर्शन ग्रन्थों की रचना एवं अध्यापन के लिए

सं० २००७ में बत्तीस हजार पांच सौ रुपये की राशि

दान देकर

गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन में

'श्री रामदास दर्शन पीठ'

की

स्थापना की है

और सं० २०१६ में दस हजार की लागत से उसी के निमित्त

नवीन भवन का निर्माण कराया

इस 'रामदास दर्शन पीठ' के तत्त्वावधान में अब तक 'तर्कभाषा' एवं 'मनोविज्ञान मीमांसा' दो ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं और यह तीसरा ग्रन्थ 'न्यायकुसुमाञ्जलि' प्रकाशित हो रहा है।

अत एव इन दम्पति के प्रति

हम

आभार प्रदर्शित करते हैं

विश्वेश्वर



समर्पणम्

गौतम और कणाद के आदर्शों से अनुप्राणित एक आदर्श आर्य
पिता के अनुरूप स्वर्णिम महत्त्वकांक्षाओं के साथ जिन्होंने
अपने प्रिय पुत्र को 'गुरुकुल' में प्रविष्ट किया

केवल

पञ्चम कक्षा में पढ़ते समय ही 'न्यायदर्शन' का भाषानुवाद
उपहार स्वरूप उसके हाथों में देकर जिन्होंने उसके कोमल
हृदय में दार्शनिक प्रवृत्ति का बीजारोपण किया

और

फिर उस बीज को 'सुधा-सिञ्चित' करने के लिए उसकी
स्नेहमयी माता को भी साथ लेकर जो तुरन्त
ही स्वर्ग सिधार गए

उन्हीं

प्रातःस्मरणीय पितृदेव श्री शिवलाल बख्शी महोदय

और

अखण्ड-सौभाग्य-शालिनी माता प्रेमवती देवी

की पुण्य-स्मृति में

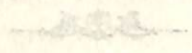
उनकी अव्यक्त 'स्नेह-सुधा' से सिञ्चित उस
सङ्कल्प-तरु का यह मधुर फल
सादर समर्पित है।

[नव वर्ष दिवस सं० २०१९]



विषय-सूची





भूमिका

१. श्रीउदयनाचार्य : काल तथा स्थान

न्यायकुसुमाञ्जलि ग्रन्थके प्रणेता न्यायाचार्य-पदाङ्कित श्रीउदयनाचार्य भारतके प्रसिद्धतम दार्शनिक विद्वानोंमें गिने जाते हैं। उनका जन्म दशम शताब्दी के उत्तरार्धमें मिथिलामें दरभंगासे २० मील उत्तरकी ओर कमला नदीके पूर्वीय तटपर स्थित 'मणरोणी' नामक ग्राममें एक उच्च ब्राह्मण वंशमें हुआ था। इनके कालनिर्णयका विषय अधिक सन्देहास्पद अथवा विवादग्रस्त नहीं हैं क्योंकि इन्होंने स्वयं ही अपने 'लक्षणावली' नामक दूसरे ग्रन्थमें उसके लेखनकालका उल्लेख इस प्रकार किया है—

'तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः। वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम् ॥'

इसके अनुसार ९०६ शकाब्द अर्थात् ९८४ ईसवीय सन्में उदयनाचार्यने 'लक्षणावली' ग्रन्थका निर्माण किया। अत एव इनका जन्मकाल दशम शताब्दीके उत्तरार्धमें किसी समय रहा होगा यह प्रायः निश्चित है। 'भक्ति-माहात्म्य' नामक ग्रन्थमें श्रीउदयनाचार्यका परिचय देते हुए लिखा है—

'भगवानपि तत्रैव मिथिलायां जनार्दनः। श्रीमदुदयनाचार्यरूपेणावततार ह ॥

बौद्धसिद्धान्तमुग्धान्तःसुखाय हितकारिणीम् ।
व्यातेने विदुषां प्रीत्यै विमलां किरणावलीम् ॥
अद्यापि मिथिलायान्तु तदन्वयभवा द्विजाः ।
विद्वांसः शास्त्रसम्पन्नाः पाठयन्ति गृहे गृहे ॥'

इसके अनुसार श्रीउदयनाचार्य मिथिलामें अवतीर्ण हुए और उन्होंने बौद्धसिद्धान्तोंके प्रचारसे मोहमें पड़े हुए विद्वानोंके लिए आनन्ददायिनी 'किरणावली' की रचना की। वैशेषिक दर्शनके 'प्रशस्तपादभाष्य' पर 'किरणावली' नामक उदयनाचार्यकृत बड़ा प्रौढ़ और प्रसिद्ध टीका-ग्रन्थ है, जिसमें बौद्ध सिद्धान्तोंका खण्डन किया गया है। इधर बंगदेशका प्रसिद्ध वारेन्द्र-ब्राह्मण-समाज श्रीउदयनाचार्यको अपने वंशका प्रधान पुरुष मानता है। वारेन्द्र-ब्राह्मणोंके कुल-ग्रन्थ 'भादुणी-वंशावली' में श्रीउदयनाचार्यके विषयमें लिखा है—

'बृहस्पतिसुतः श्रीमान् भुवि विख्यातमङ्गलः। धर्मसंस्थापनार्थाय बौद्धविध्वंसहेतवे ॥
ख्यात उदयनाचार्यो बभूव शङ्करो यथा। ब्रह्मतत्त्वप्रकाशाय चकार कुसुमाञ्जलिम् ॥'

२. बाण, मयूर और उदयन

इस 'भादुड़ी-वंशावली' ने उदयनाचार्यको 'मनुस्मृति'के प्रसिद्ध टीकाकार 'श्रीकुल्लूक-भट्ट' और 'सूर्यशतक' के निर्माता 'श्रीमयूर-भट्ट' का समकालीन माना है—

'स एवोदयनाचार्यो बौद्धविध्वंसकौतुकी। कुल्लूकं भट्टमाश्रित्य भट्टाख्यं मयूरं तथा॥'
इसके अनुसार 'उदयनाचार्य' 'श्रीकुल्लूक-भट्ट' तथा 'मयूर-भट्ट' के समकालीन सिद्ध होते हैं। 'मयूरभट्ट' का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सूर्यशतक' है। इस ग्रन्थके निर्माणके विषयमें इस प्रकारकी किंवदन्ती अथवा कथा प्रसिद्ध है जिससे प्रतीत होता है कि संस्कृत साहित्यके सुप्रसिद्ध उपन्यास और सर्वोत्तम गद्यग्रन्थ 'कादम्बरी' के निर्माता महाकवि 'बाणभट्ट' इन 'मयूर-भट्ट' के भगिनीपति (बहनोई) थे। ऐसी कथा प्रसिद्ध है कि एक बार 'बाणभट्ट' की पत्नी 'बाणभट्ट' से किसी कारण नाराज हो गई। बाणभट्टने उनको मनानेका बड़ा प्रयत्न किया परन्तु सारी रात प्रयत्न करनेपर भी उनका मान दूर नहीं हुआ। प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तके समय तक भी जब वह पत्नीके मानापनोदनमें समर्थ न हो सके तो अपनी कवित्वमयी भाषामें चाटुकारिताकी पराकाष्ठा प्रदर्शित करते हुए अपनी पत्नीसे बोले—

'गतप्राया रात्रिः कृशतनु शशी शीर्यत इव प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णित इव। प्रणामान्तो मानस्त्यजसि न तथापि क्रुधमहो,'

'बाण-भट्ट' यह तीन चरण कह ही पाए थे कि प्रातःकालके परिभ्रमणके लिए निकले हुए 'मयूर-भट्ट' 'बाणभट्ट' के घरके सामने आ पहुँचे और ऊपरके कोठेमें कहे जाते हुए इस श्लोकको सुनकर उसके अवशिष्ट चतुर्थ चरणकी पूर्त्ति करके उन्होंने जोरसे कह दिया कि—

'कुचप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि कठिनम्॥'

बाणपत्नीने जब इसको सुना तो उन्हें बड़ा क्रोध आया और उन्होंने बिना जाने कि यह किसने कहा है, उसको कोढ़ी हो जानेका शाप दे दिया। मयूर-भट्ट उस समय तो अपने भ्रमणके लिये चले गये परन्तु उस शापके प्रभावसे उनको कुष्ठरोग हो गया। अपने इस कुष्ठरोगको दूर करनेके लिए मयूरभट्टने सूर्यकी उपासना की और सूर्यदेवकी स्तुतिमें ही अपने एकमात्र प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सूर्यशतक' की रचना की। इस सूर्योपासना तथा स्तुतिके प्रभावसे उनका कुष्ठरोग दूर हो गया, यह 'सूर्यशतक' की रचनाके सम्बन्धमें प्रसिद्ध कथा है। इस कथाके अनुसार बाणभट्ट तथा मयूरभट्ट समकालीन हैं। 'भादुड़ी-वंशावली' ने कुल्लूकभट्ट और मयूरभट्टको भी समकालीन माना है। अत एव कुल्लूकभट्ट, मयूरभट्ट और बाणभट्ट यह भट्टत्रय उदयनाचार्यके समकालीन प्रतीत होते हैं।

३. श्रीहर्ष और उदयन

इधर 'नैषधीयचरितम्' नामक प्रसिद्ध महाकाव्यके निर्माता श्रीहर्षके साथ भी श्रीउदयनाचार्यके सम्बन्धकी कथा पाई जाती है। महाकवि श्रीहर्षके पिता श्रीहीर कान्यकुब्जकी राजसभाके प्रधान राजपण्डित थे। एक बार उदयनाचार्य उधर जा पहुँचे और राजसभामें ही श्रीहीरसे उनका शास्त्रार्थ हुआ जिसमें श्रीहीर हार गए और उदयनाचार्यकी विजय हुई। श्रीहर्ष उस समय बालक थे और उनके पिता वृद्ध हो चले थे। उनके भीतर अपनी इस पराजयका बदला लेनेकी शक्ति नहीं

रह गई थी। अत एव उन्होंने अपने पुत्रको इसका बदला लेनेका आदेश दिया और उसी दृष्टिसे श्रीहर्षकी शिक्षाकी ओर विशेष ध्यान देने लगे। श्रीहर्षने भी प्रखर पाण्डित्य प्राप्त करने और अपने पिताकी इस पराजयका प्रतिकार करनेका संकल्प कर लिया। अपूर्व वैदग्ध्यकी प्राप्तिके लिए उन्होंने 'चिन्तामणि-मन्त्र' की साधना की और उससे उनको अपूर्वप्रतिभा तथा पाण्डित्यकी प्राप्ति हुई। अपने 'नैषध-महाकाव्य' को श्रीहर्षने चिन्तामणि मन्त्रके चिन्तनका फल बताया है। 'नैषध' के प्रत्येक सर्गके अन्तमें उन्होंने सर्गसमाप्तिसूचक एक-एक श्लोक दिया है। उस श्लोकमें उन्होंने अपने माता-पिताका नाम तथा चिन्तामणि मन्त्रकी चर्चा की है। प्रथम सर्गके अन्तमें दिया श्लोक इस प्रकार है—

'श्रीहीरः कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहर्षं सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारभङ्ग्या महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽयमादिर्गतः॥

श्रीहर्षने इस प्रकार कठिन परिश्रम कर उदयनाचार्यकी पराजयके लिए आवश्यक प्रतिभा और पाण्डित्यका सञ्चय तो कर लिया परन्तु दुर्भाग्यसे उनको अपना मनोरथ पूर्ण करनेका अवसर न मिल सका। जब तक वह इस योग्य हुए उसके पूर्व ही सम्भवतः उदयनाचार्यका देहान्त हो गया। अत एव उन दोनोंके शास्त्रार्थका अवसर नहीं आ सका। तब श्रीहर्षको उदयनाचार्यके मतका खण्डन ग्रन्थ-रूपमें ही करके सन्तोष करना पड़ा। श्रीउदयनाचार्य नैयायिक थे अत एव नैयायिक मतका खण्डन करनेके लिए श्रीहर्षने 'खण्डनखण्डखाद्य' नामक अत्यन्त प्रौढ़ वेदान्त-ग्रन्थकी रचना की। इस ग्रन्थमें श्रीहर्षने न्याय-सिद्धान्तोंका अत्यन्त उग्र खण्डन कर वेदान्तके अद्वैतवादका प्रतिपादन किया है। इसमें श्रीउदयनाचार्यके किसी निजी ग्रन्थ अथवा सिद्धान्तका तो खण्डन नहीं किया गया है परन्तु श्रीहीरके साथ उनका शास्त्रार्थ वेदान्त और न्यायके जिस सिद्धान्तभेदको लेकर हुआ था उसका प्रतिपादन अवश्य है। श्रीहीर वेदान्तमतके अद्वैतवादके समर्थक थे और उदयनाचार्यने उसका खण्डन किया था। अत एव श्रीहर्षने अपने खण्डनखण्डखाद्य ग्रन्थमें न्यायका खण्डन कर वेदान्त-सिद्धान्तका समर्थन करनेका प्रयत्न किया। मानो खण्डनखण्डखाद्य जैसे प्रौढ़ ग्रन्थकी रचना की प्रेरणा श्रीहर्षने श्रीउदयनाचार्यसे ही प्राप्त की हो। इस विरोधने संस्कृत-साहित्यको इतनी उत्कृष्ट कृति प्रदान की इसलिए यह विरोध भी गौरवकी वस्तु है।

४. भविष्य-पुराणमें उदयन-माहात्म्य

भविष्य-पुराण परिशिष्ट अध्याय ३० में भी श्रीउदयनाचार्यके माहात्म्यका वर्णन करते हुए उनके और किसी बौद्ध विद्वान्‌के बीच हुए एक शास्त्रार्थका विस्तृत विवरण लगभग १०० श्लोकोंमें दिया है। इस विवरणका प्रारम्भ इस प्रकार किया गया है—

'अथ वक्ष्ये तृतीयस्य हरेरंशस्य धीमतः।
उदयनाचार्यनाम्नस्तु माहात्म्यं लोमहर्षणम् ॥
भूत्वा स मिथिलायान्तु शास्त्राण्यध्यैष्ट सर्वतः।
विशेषतो न्यायशास्त्रं साक्षाद् वै गोतमो मुनिः ॥'

किसी बौद्धाचार्यके साथ श्रीउदयनाचार्यके शास्त्रार्थकी भूमिका करते हुए भविष्य-पुराणने आगे लिखा है—

'एकदा बौद्धसिद्धान्तान् प्रकटीकर्तुमागतः।
बौद्धाचार्यस्तीरभुक्तौ नृपग्रामे समागतः ॥
स्वशिष्यैः स्वीयशास्त्रस्य पुस्तकैर्बहुभिर्वृतः।
राजानं प्रेषयामास दूतं दर्पवशादसौ ॥
कञ्चिच्छिष्यं, गच्छ शिष्य मिथिलेशं वदाधुना।
मद्वाक्याद्, वेदशास्त्राभ्यां मुधा भ्रान्तोऽसि भूपते ॥
निरीक्ष्य मम शास्त्राणि मत्पथानुगतो भव।
अस्ति चेत्तव देशेऽस्मिन् वेदस्थापनकृत् पुमान्।
तमानय मया सार्धं विचारं प्रकरोतु सः ॥'

इसका भाव यह है कि एक बार कोई बौद्ध आचार्य अपने सिद्धान्तोंके प्रचारके लिए शिष्यमण्डल सहित तीरभुक्तिकी राजधानी मिथिलामें आए और उन्होंने अपने शिष्यको दूत बनाकर मिथिलानरेशके पास यह सन्देह भेजा कि आप वेद और शास्त्रोंके धोखेमें व्यर्थ ही पड़े हैं। मेरे बौद्धधर्मके ग्रन्थोंको देखें और बौद्धधर्ममें प्रविष्ट हो जायँ। यदि आपके यहाँ वेदमतके स्थापनमें समर्थ कोई विद्वान् हो तो उसे बुलावें, वह मेरे साथ आकर विचार करे।

'तदा श्रुत्वा तद् वचनं दूतभाषितम्।
उवाच, गच्छ दूत त्वं स्वगुरुं ब्रूहि मे वचः ॥
अहं भ्रान्तः स वा भ्रान्त इत्येवं निश्चयो महान्।
आगच्छ सदसि प्रातः स ते व्यक्तीभविष्यति ॥
इत्युक्तः स गतो दूतः प्राह सर्वं नृपोदितम्।
गुरवे, स तु शृण्वन् वै जहासातिमदान्वितः ॥'

राजाने उस दूत शिष्यके मुखसे उस सन्देशको सुनकर कहा कि जाकर अपने गुरुजीसे कह दो—वह कल राजसभामें आवें। उस समय यह सब स्पष्ट हो जायगा कि वह भ्रम में हैं या हम भ्रममें हैं।

'अथ राजा तत्क्षणात्तु देशस्थान् पण्डितान् बहून्।
श्रीमदुदयनाचार्यमुख्यानानाय्य चोक्तवान् ॥

अहोयं नास्तिको ग्रामे समायातोऽतिपण्डितः।
अनेन विवदध्वं वै यूयं, स चेज्जयेत्।
तदाहं च भवन्तश्च सर्वे तन्मतगामिनः॥
भविष्यामो न सन्देहो, भवतां चेज्जयो भवेत्।
तदाहं भवतां दास्यं करिष्यामि न संशयः॥'

—तब राजाने उदयनाचार्य प्रभृति देशके मुख्य-मुख्य बहुतसे पण्डितोंको बुलाकर कहा कि आज नगरमें एक बड़ा नास्तिक पण्डित आया है। आप लोग उसके साथ शास्त्रार्थ करें। यदि वह जीत गया तो हम और आप सबको उसका मतानुयायी होना पड़ेगा यह निश्चय है। और यदि आपकी विजय होती है तो मैं आपकी सेवा करता रहूँगा इसमें कोई सन्देह नहीं है।

'इत्युक्तास्ते तु विद्वांसः सर्वे तूष्णीं स्थिता अथ।
श्रीमदुदयनाचार्यस्तेषां मध्येऽब्रवीन्नृपम्॥
सत्यमस्त्यथ महाराज श्रृणु किञ्चिन्मयोदितम्।
जयः पराजयो वापि श्रीहरेरिच्छया नृणाम्॥
यथाशक्ति विवादं तु करिष्यामि न संशयः।
त्वं तु चिन्तां परित्यज्य पश्यास्माकं पराक्रमम्॥'

—राजाकी बात सुनकर सब पण्डित चुप रह गये। तब उनकी ओरसे श्रीमान् उदयनाचार्य राजासे बोले कि महाराज, जय और पराजय तो भगवान्की इच्छा पर है परन्तु हम यथाशक्ति उसके साथ शास्त्रार्थ करेंगे। आप निश्चिन्त होकर हमारे पराक्रमको देखें।

'द्वितीये दिवसे प्राप्ते राजा सदसि चागतः।
आहूय पंडितान् सर्वान् तं चापि जिनशास्त्रिणम्॥
उवाच युवयोरस्तु विचारः पश्यतो मम।
एवं बहुदिनान्यासीद् विचारः सुमहांस्तयोः॥
तदा बौद्धो हृदा मत्वाचार्यान्निजपराजयम्।
मायां विस्तारयामास महदाश्चर्यदायिनीम्॥'

दूसरे दिन राजाने सब पण्डितोंको और उस बौद्ध आचार्यको बुलाकर कहा कि अब आप दोनों मेरे सामने शास्त्रार्थ करें। उन दोनों पक्षोंका विचार बहुत दिन तक चलता रहा। अन्तमें बौद्ध आचार्य अपने मनमें अपनी पराजय मानकर, शास्त्रचर्चाको छोड़कर अन्य मायामय उपायों का अवलम्बन करने लगे। उन्होंने राजासे कहा कि इनका ईश्वर शालिग्राम शिलामें रहता है। आप उस शालिग्राम-शिलाको मँगावें, मैं उसे तोड़कर गलाकर और भाप बनाकर उड़ाए देता हूँ फिर देखें कहाँ इनका ईश्वर रह जाता है। यदि वह इनका ईश्वर है तो ये फिर उस शालिग्राम-शिलाको अदृश्यसे दृश्य बना दें। उदयनाचार्य इस मायाजालको समझ गये। उन्होंने राजासे

कहा कि महाराज ! यह माया हम भी जानते हैं। परन्तु इस प्रकारकी माया करनेसे तो अर्थका निर्णय नहीं होगा। जब दोनों पक्ष उस मायाको करके दिखा देवेंगे तो फिर लोग दोनों मतोंको सत्य माननेके सन्देह में पड़ सकते हैं। इससे अच्छा हो कि हम दोनों सामने ताड़के पेड़पर चढ़कर अपने अपने सिद्धान्तकी घोषणा करते हुए एक साथ कूदें। नीचे आकर जो बच जाय उसका मत ठीक और जो मर जाय उसका मत असत्य समझा जाय—

'उवाच नृपतिं राजन् सर्वेऽमी मद्विरोधिनः।
न कोऽपि मद्धितं ब्रूते तस्मादेकं वदाम्यहम्॥
शालिग्रामशिलायान्तु सत्यमेषां स्थितो हरिः।
तामानयात्र स्वमतैः खण्डयामि शिलामहम्॥
यदि सा जलवद् भूत्वा स्याददृश्या शिला पुनः।
तदा मदुक्तं सत्यं स्यात्, अथ चेत् ताम्पुनः स तु॥
आचार्यो जलवत् कृत्वा शिलां व्यक्तीकरिष्यति।
तदास्यापि मतं सत्यं मन्येऽहं नात्र संशयः॥'

बौद्धाचार्यके प्रस्तावको सुनकर उदयनाचार्यने कहा—

'मायामपि च जानामि परं त्वेकं ब्रवीम्यहम्।
जातायां च पुनस्तस्यां शिलायां च मतद्वयम्॥
सत्यं चेति वदिष्यन्ति भ्रान्त्या सर्वे सभासदः।
तस्मादेकमहं वच्ये सत्यमिथ्याविचारणे॥
एकस्तालद्रुमो द्वारि तिष्ठत्यतिमहानहो।
तमारुह्य पतिष्यावो यः स्थास्यति स तथ्यवाक्॥'

राजा इस प्राणघातक परीक्षाके लिये तैयार नहीं थे। उन्होंने दोनोंको इसके लिये मना किया। परन्तु उदयनाचार्य ने कहा कि हम दोनों अपने अपने सिद्धान्तके ऊपर दृढ़ भक्ति और विश्वासके साथ यह परीक्षा कर रहे हैं। आपकी कोई हानि नहीं। हममेंसे जो बच जाय उसके मतका आप अवलम्बन कर सकते हैं। अन्तमें दोनों पक्षोंकी प्रबल इच्छा देखकर राजाने अनुमति दे दी। वे दोनों बाँसकी सीढ़ी आदिके सहारे उस ताड़ वृक्षके शिखर तक चढ़ गये और वहाँ पर से उदयनाचार्य 'वेद प्रमाण हैं' यह घोषणा करते हुए और बौद्ध आचार्य 'वेद अप्रमाण हैं' इस प्रकारकी घोषणा करते हुए कूद पड़े—

'तत उत्थाय ते सर्वे आगतास्ताडसन्निधौ।
वंशादिनाथ तौ द्वौ तमारुह्योच्चैर्महातरुम्॥
वेदाः प्रमाणमित्युक्त्वा ह्याचार्यो न्यपतद् भुवि।
बौद्धो वेदा अप्रमाणमित्युक्त्वा निपपात ह॥'

और, लोगोंने आश्चर्यके साथ देखा कि उदयनाचार्य भगवान्‌का स्मरण करते हुए सुरक्षित रूपमें पृथ्वी पर पहुँच गये परन्तु बौद्धाचार्यके पृथ्वी तक पहुँचते-पहुँचते ही प्राणपखेरू उड़ गये।

> 'आचार्यो निपतन् भूमौ वेदैः संरक्षितः स्वयम्।
> मन्दं मन्दं समागत्य तस्थौ वेदं हरिं स्मरन्॥
> बौद्धाचार्यः पतन् मार्गे भ्राम्यमाण उपर्यधः।
> परिवर्तितशीर्षो हि पपात धरणीतले॥
> व्यस्तमस्तकबाह्वंघ्रिर्निष्प्राणो न्यपतत् खलु॥'

यह वस्तुतः बड़ी भयंकर परीक्षा थी। उदयनाचार्य और बौद्धाचार्य दोनोंने ही अपने सिद्धान्तोंकी परीक्षाके लिये अपने प्राणोंकी बाजी लगा दी थी। उदयनाचार्यके आत्मविश्वासने उनको सहायता दी और भगवान्‌ने उनके जीवन तथा लाजकी रक्षा की। अपने सिद्धान्तकी रक्षाके लिए अपने जीवन को संकटमें डालकर भी साहस और आत्मविश्वासके साथ आगे बढ़नेवाले पुरुष ही महापुरुष होते हैं और उनकी सहायता भगवान् सदा ही करते हैं। 'न हि संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।' अपनेको संकटमें डाले बिना मनुष्य सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

उस समयके तात्कालिक विवादमें उदयनाचार्यको विजय प्राप्त हो गई इसमें सन्देह नहीं फिर भी उनकी इस योजनाने एक विद्वान् पुरुषके जीवनका अन्त कर दिया इसका पाप भी उनको लगा। वही कथा आगे कहती है कि इस पापका प्रभाव यह हुआ कि जब वह जगन्नाथ-पुरीमें जगन्नाथजीके दर्शनके लिये गये तो उनके लिए जगन्नाथके मन्दिरके चारों फाटक स्वयं बन्द हो गये। उन्होंने एकके बाद दूसरे द्वारसे मन्दिरमें दर्शनार्थ प्रवेश करनेका प्रयत्न किया। परन्तु वह जिस द्वार पर जाते वही द्वार स्वयं बन्द हो जाता। इस पर क्षुब्ध होकर उन्होंने जगन्नाथको उलाहना देते हुए कहा कि आज आप अपने ऐश्वर्य-मद में मत्त होकर यहाँ मन्दिरके भीतर बैठे हुए हैं और मुझे दर्शनका अवसर भी नहीं देना चाहते हैं। परन्तु याद रखिये, जब बौद्ध लोग आपका खण्डन करने आवेंगे तब मेरे सिवा आपकी रक्षा करनेवाला दूसरा नहीं मिलेगा—

> 'ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय तिष्ठसि।
> समायाते पुनः बौद्धे मदधीना तव स्थितिः॥'

इस उपालम्भको सुनकर जगन्नाथके मन्दिरके कपाट खुल गये और फिर जगन्नाथकी प्रेरणासे मन्दिरके पुजारियोंने पीताम्बर आदिकी भेंट देकर उदयनाचार्यका स्वागत किया।

५. कथाओंका सन्दिग्ध प्रामाण्य

यह सब कथाएँ कथाके रूपमें प्रसिद्ध हैं परन्तु ऐतिहासिक दृष्टिसे उनमें कितना तथ्य और कितना सम्बन्ध है यह कह सकना कठिन है। उदाहरणके लिए श्रीहर्षके पिता और उदयनाचार्यके शास्त्रार्थकी ऊपर जो चर्चा की गई है उसकी सम्पुष्टि चण्डू पण्डितने अपनी टीकामें यह लिख कर की है—

'श्रीहर्षः स्वपितुर्विजेतुरुदयनस्य कृतीः खण्डनखण्डखाद्यनामकग्रन्थेनाखण्डयत् ।'

परन्तु आधुनिक विद्वान् श्रीहर्षका समय १२वीं शताब्दिमें स्थिर करते हैं जबकि उदयनाचार्यका समय दशम शताब्दी का अन्तिम भाग है। श्रीहर्षने स्वयं—

'ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्'

लिखकर कान्यकुब्जेश्वरके साथ अपना सम्बन्ध सूचित किया है। उन्होंने 'विजयप्रशस्ति' नामक एक ग्रन्थ सम्भवतः अपने आश्रयदाता कान्यकुब्जेश्वर विजयचन्द्र की प्रशस्तिमें ही लिखा है। 'नैषध' को उस विजयप्रशस्ति ग्रन्थका तात कहा है—'तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य', यह विजयचन्द्र कन्नौजके राजा जयचन्द्र के पिता हैं। जयचन्द्र का समय बारहवीं शताब्दी है। उदयनाचार्यने ९८४ में अपनी 'किरणावली' टीका लिखी है। इसलिये सम्भव है कि ग्यारहवीं शताब्दी के मध्यकालमें उदयनाचार्य और कान्यकुब्जेश्वर विजयचन्द्र के सभापण्डित श्रीहीरका शास्त्रार्थ हुआ हो। उस दशामें चण्डू पण्डितका लेख यथार्थ ही होगा।

दूसरी ओर 'भादुड़ी-वंशावली'के अनुसार उदयनाचार्य मयूरभट्ट और कुल्लूकभट्टके समकालीन हैं। आधुनिक विद्वान् बाणभट्टका समय सप्तम शताब्दी बताते हैं। बाणभट्टने अपने हर्षचरितमें स्थानेश्वरके राजा हर्षवर्धनके साथ अपने सम्बन्धका वर्णन किया है। इन हर्षवर्धनका समय ऐतिहासिकोंके मतसे सप्तम शताब्दी का पूर्वार्द्ध पड़ता है। ६५८ में हर्षवर्धनका देहान्त हो गया था। ऐसी दशामें मयूरभट्ट और उदयनाचार्यका समकालीन होना संगत प्रतीत नहीं होता है। अत एव इस विषयमें 'भादुड़ी-वंशावली' को प्रमाण नहीं माना जा सकता है। यही नहीं बल्कि 'भादुड़ी-वंशावली' में वारेन्द्र कुलमें परिवर्तित मर्यादा के प्रतिष्ठाता-रूपमें जिन उदयनाचार्यका वर्णन है वह १०वीं शताब्दी के गौडेन्द्रनरेश गणेशके समयमें विद्यमान थे यह भी लिखा है। इसलिए यह उदयनाचार्य हमारे प्रकृत उदयनाचार्यसे भिन्न कोई दूसरे ही व्यक्ति हैं। 'संबन्ध-निर्णय' नामक ग्रन्थमें इनको राजशाही के अन्तर्गत निसिन्ट ग्रामका निवासी बताया गया है और खल्लीके भट्टाचार्य लोग इन्हें माणिकगंजके अन्तर्गत बालीघाट ग्रामका निवासी बताते हैं। इन 'भादुड़ी-वंशावली' वाले उदयनाचार्यके नामके साथ 'भादुड़ी' उपपद भी जुड़ा हुआ है अर्थात् उनका नाम केवल 'उदयनाचार्य' नहीं अपितु 'उदयनाचार्य भादुड़ी' उल्लिखित है; जब कि हमारे 'उदयनाचार्य' के नामके आगे कहीं भी 'भादुड़ी' पद का प्रयोग नहीं किया जाता है। 'कुसुमाञ्जलि'कार उदयनाचार्य और उस भादुड़ी-वंशावली वाले उदयनाचार्य-भादुड़ी अवश्य ही भिन्न व्यक्ति हैं। 'भादुड़ी-वंशावली' में उन दोनोंको एक बताने और कुसुमाञ्जलिकारको मयूरभट्टका समकालीन बतानेका जो प्रयास किया गया है वह अप्रामाणिक है।

इसी प्रकार बाणभट्ट और मयूरभट्टके सम्बन्ध और 'सूर्यशतक' की रचनाकी कथामें भी कुछ अन्तर पाया जाता है। सूर्यशतककी भावबोधिनी टीकाके लेखक श्रीमधुसूदनने—जिनका समय श्रीब्हूलर महोदयके अनुसार १६५४ ई० है—बाणभट्ट और मयूरभट्ट को स्थानेश्वरके राजा

हर्षवर्धनके वदले 'रत्नावली-नाटिका' के रचयिता मालवराज श्रीहर्षकी सभाका पण्डित माना है और उनमेंसे मयूरभट्टको बाणभट्टका श्वसुर और बाणभट्टको उनका जामाता बताया है। कवित्वके विषयमें उन दोनोंमें घोर प्रतिस्पर्धा थी। मयूरभट्टके कुष्ठका कारण केवल 'कुचप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि कठिनम्' वाला श्लोकांश ही नहीं था अपितु उन्होंने अपनी कन्या अथवा बहिन, (बाणकी पत्नी) के संभोग शृंगारका अनुचित वर्णन किया है। यह वर्णन 'मयूराष्टक' के नामसे प्रसिद्ध आठ श्लोकोंका संग्रह है। इस मयूराष्टकका एक श्लोक उदाहरणार्थ यहाँ दिया जा रहा है—

'एषा का भुक्तमुक्ता प्रचलितनयना स्वेदलग्नाङ्गवस्त्रा,
प्रत्यूषे याति बाला मृग इव चकिता सर्वतः शङ्कयन्ती।
केनेदं वक्त्रपद्मं स्फुरदधररसं षट्पदेनावपीतं,
स्वर्गः केनाथ भुक्तो हरनयनहतो मन्मथः कस्य तुष्टः॥'

मयूरभट्ट-विरचित मयूराष्टकका यह अनुचित प्रयास ही बाण-पत्नीके क्रोधानलको उद्दीप्त कर मयूरके कुष्ठरोगका कारण हुआ। यह विवरण जैन कवि मानतुंग-विरचित भक्तामरस्तोत्रकी टीकाके आधारपर दिया गया है। मयूरभट्ट और बाणभट्टके सम्बन्धको प्रदर्शित करनेवाले चार प्रकारके विवरण मिलते हैं। उनसे यह तो सिद्ध होता है कि इन दोनोंका श्वशुर-जामाता अथवा साले-बहनोईका कोई सम्बन्ध अवश्य था। परन्तु भादुड़ी-वंशावलीकारने जो कुसुमाञ्जलि-कार उदयनाचार्यको उन दोनोंका समकालीन प्रतिपादित किया है वह अप्रामाणिक और अविश्व-सनीय प्रतीत होता है।

इसी प्रकार भविष्य-पुराणमें प्रतिपादित उदयनाचार्यके माहात्म्यमें कितना अंश यथार्थ और कितना अंश अत्युक्तिपूर्ण अथवा कल्पित है यह कहना कठिन है। जगन्नाथपुरीके मन्दिरका वृत्तान्त भी अत्युक्तिपूर्ण जान पड़ता है और उसकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध-सी प्रतीत होती है। कहीं-कहीं यही वृत्तान्त उदयनाचार्यके बदले कुमारिलभट्टके जीवनके साथ जोड़ा गया है और 'ऐश्वर्यमदमत्तोसि मामवज्ञाय तिष्ठसि। समायाते पुनर्बौद्धे मदधीना तव स्थितिः॥' वाला श्लोक कुमारिलभट्टका श्लोक कहा गया है, अत एव इन कथाओंका प्रामाण्य सन्दिग्ध है। फिर भी उदयनाचार्यके सम्बन्धमें जो कथाएँ प्रचलित हैं उनका संग्रह कर देना उचित ही है।

बौद्ध संघर्षकी परम्परा

श्रीउदयनाचार्यके जीवनसे सम्बन्धित जो कथाएँ ऊपर उद्धृत की गई हैं उन सबमें ही बौद्धोंके साथ उनके संघर्षका वर्णन है। बौद्ध सिद्धान्तोंका खण्डन करके वैदिक सिद्धान्तोंकी पुनः स्थापना करनेमें जो श्लाघनीय प्रयत्न उदयनाचार्यने किया है वही उनकी ख्याति और प्रतिष्ठाका कारण है। बौद्धोंके साथ उदयनाचार्यको जो संघर्ष करना पड़ा वह केवल उदयनाचार्यके ही जीवनकी विशेष घटना नहीं है बल्कि उसके पीछे लगभग पन्द्रह सौ वर्षकी एक लम्बी परम्परा है। बौद्धधर्मके प्रवर्तक

महात्मा गौतम बुद्धके बुद्धत्व-लाभके कालसे ही इस संघर्षका प्रारम्भ हो जाता है। यह संघर्ष नदीकी धाराकी तरह ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता गया है त्यों-त्यों प्रबल और तीव्रतर होता गया है। तात्कालिक प्रचलित वैदिक धर्मकी बुराइयोंके कारण ही बुद्धदेवके मनमें एक नवीन विचारधाराका उद्भव हुआ और उन्होंने हिंसामय वैदिक कर्मकाण्डके स्थानपर अहिंसाप्रधान बौद्धधर्मको जन्म दिया। प्रारम्भमें यह केवल धार्मिक सिद्धान्तोंका भेद था परन्तु कालक्रमसे आगे चलकर उसने सूक्ष्म दार्शनिक भेदका रूप धारण कर लिया और इस सिद्धान्तभेदके आधारपर दोनों पक्षों द्वारा उत्कृष्ट दार्शनिक साहित्यकी रचना हुई। इस शास्त्रचर्चा और संघर्षमें सबसे मुख्य भाग नैयायिकोंका रहा इसलिए वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म दोनोंके अलग-अलग न्यायशास्त्र बन गए और दोनोंके न्याय-सिद्धान्तोंका अलग-अलग विकास हुआ। दोनों धर्मोंके न्यायाचार्योंने एक दूसरेके सिद्धान्तोंका खण्डन और अपने सिद्धान्तोंके समर्थनमें प्रौढ़ दार्शनिक न्यायग्रन्थोंकी रचना की। इस शास्त्रीय संघर्षमें यदि वैदिक धर्मकी ओरसे अक्षपाद गौतम, वात्स्यायन ३००, उद्योतकराचार्य ६३५ ई०, वाचस्पति मिश्र ८९८ और उदयनाचार्य ९८४ ई० का मुख्य भाग रहा है तो बौद्ध विद्वानोंमें नागार्जुन ३०० ई०, दिङ्नाग ५०० ई०, वसुबन्धु ४८० ई०, धर्मपाल ६०० ई०, उनके शिष्य धर्मकीर्ति ६३५ ई०, कल्याणरक्षित ८२९ और धर्मोत्तराचार्य ८४७ आदि आचार्योंका प्रमुख हाथ रहा है।

न्यायशास्त्रके आदि प्रवर्तक महर्षि गौतम या अक्षपाद हैं। अक्षपाद महर्षि गोतमप्रणीत न्यायसूत्र न्यायशास्त्रका सबसे प्रमुख आधारभूत ग्रन्थ है। इसकी रचना सम्भवतः इस संघर्ष-कालके पूर्व हो चुकी थी। फिर भी अनेक स्थलों पर उसमें बौद्ध सिद्धान्तोंकी आलोचना मिलती है, जिसे कुछ विद्वान् पीछेका प्रक्षिप्त भाग मानते हैं। उदाहरणार्थ न्याय दर्शनके चतुर्थाध्यायके प्रथमाह्निकके ३९ तथा ४० वें सूत्रों—'न स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात्' और 'व्याहतत्वादयुक्तम्'—के भाष्यमें नागार्जुनकी माध्यमिक कारिका—

'न सम्भवः स्वभावस्य युक्तः प्रत्ययहेतुभिः।
स्वभावः कृतको नाम भविष्यति कथं पुनः॥' माध्यमिक सूत्र परि० १५ पृ० ३३

की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। इसी प्रकार न्याय दर्शन ४, २, ३१, ३२ 'स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेयाभिमानः' और 'मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद् वा' इन सूत्रों पर—

'यथा माया यथा स्वप्नो गन्धर्वनगरं यथा।
तथोत्पादस्तथा स्थानं तथा भंग उदाहृतम्॥' माध्यमिक सूत्र ७ परि०

की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। यही बात माध्यमिक वृत्तिमें इस प्रकार कही है—

'यथैव गन्धर्वपुरं मरीचिका यथैव माया सुपिनं यथैव।
स्वभावशून्या तु निमित्तभावना तथोपमान् जानत सर्वधर्मान्॥'

इस प्रकार न्यायसूत्रोंमें जो बौद्ध प्रभाव दिखाई देता है उसे विद्वान् लोग पीछेका प्रक्षेप मानते और न्यायसूत्रोंको इस संघर्षकालसे पूर्वकी रचना मानते हैं। फिर भी यह स्पष्ट है कि इन न्यायसूत्रोंपर लिखा गया वात्स्यायन भाष्य पूर्णतः संघर्षके प्रभाव-क्षेत्र के अन्तर्गत है। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् नागार्जुनने अपने 'उपायकौशल्यसूत्र'के प्रथम परिच्छेदमें त्र्यवयवात्मक अनुमान-वाक्यका प्रतिपादन किया है। उसके अनुसार प्रतिज्ञा, हेतु, और उदाहरण केवल इन तीन अवयवोंसे ही अनुमान-वाक्य पूर्ण हो जाता है। परन्तु नैयायिक इन तीनके अतिरिक्त उपनय और निगमन यह दो अवयव और मानकर पंचावयव अनुमान-वाक्यका प्रतिपादन करते हैं। वात्स्यायन-भाष्यमें नागार्जुनके इस मतकी आलोचना करते हुए लिखा गया है—

'उपनयं चान्तरेण साध्येऽनुपसंहृतः साधको धर्मो नार्थं साधयेत्। निगमनाभावे वा नानभिव्यक्तसम्बन्धानां प्रतिज्ञादीनामेकार्थे प्रवर्तनम्।......न चैतस्यां हेतूदाहरणपरिशुद्धौ सत्यां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वं प्रक्रमते। अव्यवस्थाप्य खलु साध्यसाधनभावमुदाहरणं जातिवादी प्रत्यवतिष्ठते। व्यवस्थिते तु खलु धर्मयोः साध्यसाधनभावे दृष्टान्तस्थे गृह्यमाणे साधनभूतस्य हेतुत्वेनोपादानं न साधर्म्यमात्रस्य न वैधर्म्यमात्रस्य वेति।' न्याय० १, १, ३९।

इसी प्रकार ४, २, २६ तथा २७ के वात्स्यायन-भाष्यमें विज्ञानवाद और ३, २, ११ के वात्स्यायन-भाष्यमें क्षणभंगवादकी आलोचना की गई है। यों तो वात्स्यायन-भाष्यमें जो इन सिद्धान्तोंकी आलोचना की गई है वह न्यायसूत्रोंके ही आधारपर है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि वस्तुतः न्यायसूत्रोंमें ही बौद्ध सिद्धान्तोंकी आलोचना की गई है। परन्तु न्यायशास्त्रकी रचना बुद्धके प्रादुर्भावसे पहिले हो चुकी थी और बुद्धदेव बुद्धत्व-लाभके पूर्व न्याय-सांख्यादिके वेत्ता अनेक विद्वानोंके सम्पर्कमें आए थे, इस प्रकारका उल्लेख त्रिपिटकमें मिलता है। गोतम बुद्धके नामके साथ जुड़ा हुआ गोतम शब्द भी गोत्र-सम्बन्धसे सम्भवतः न्यायसूत्रकार गोतमकी पूर्ववर्तिताका ही सूचक है। इसलिए न्यायसूत्रोंमें जो बौद्ध सिद्धान्तोंकी चर्चा मिलती है उसे विद्वान् लोग बादका प्रक्षिप्त अंश ही मानते हैं। परन्तु वात्स्यायन-भाष्यके विषयमें यह स्थिति नहीं है। इसलिए वात्स्यायन-भाष्यमें जो बौद्ध सिद्धान्तोंकी चर्चा है वह नागार्जुन आदि पूर्ववर्ती बौद्धाचार्योंके ग्रन्थोंके आधारपर ही है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रारम्भमें नागार्जुनने गोतमके न्यायसूत्रोंके पञ्चावयव अनुमान-वाक्यके स्थान पर त्र्यवयव अनुमान-वाक्यकी स्थापना की। इसी प्रकार अन्य मतभेदके स्थलोंपर प्राचीन न्यायसे भिन्न अपने सिद्धान्तोंकी स्थापना की। इस प्रकार नागार्जुनने ३०० ई० के लगभग न्यायाचार्योंके साथ दार्शनिक संघर्षका सूत्रपात किया। बीचमें भी इस संघर्षकी धारा अविच्छिन्न रूपसे चलती ही रही होगी परन्तु उस सबकी कोई साहित्यिक स्मृति सुरक्षित नहीं है। नागार्जुनके बाद ४०० वि० के लगभग वात्स्यायन-भाष्यकी रचना हुई

और उसमें नागार्जुन आदि पूर्ववर्ती बौद्ध विद्वानोंके न्यायविरोधी सिद्धान्तोंका खण्डन कर न्याय-सिद्धान्तोंकी स्थापनाका प्रयत्न किया गया।

हेमचन्द्र जैन विरचित 'अभिधानचिन्तामणि' नामक कोषग्रन्थमें वात्स्यायनके निम्नाङ्कित अनेक नाम दिए हैं—

'वात्स्यायनो मल्लनागः कौटिल्यश्चणकात्मजः।
द्रामिलः पक्षिलस्वामी विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च सः॥'

इन नामोंमें कौटिल्य और चाणक्य भी वात्स्यायनके नाम बताए गये हैं इससे प्रतीत होता है कि चतुर्थ शताब्दीमें समुत्पन्न प्रसिद्ध चाणक्य या कौटिल्य ही इस वात्स्यायन-भाष्यके रचयिता हैं। वात्स्यायन-भाष्यके प्रारम्भमें कौटिल्यअर्थशास्त्रका एक श्लोक भी उद्धृत हुआ है, जो इस प्रकार है—

'सेयमान्वीक्षिकी प्रमाणादिभिः पदार्थैर्विभज्यमाना,
प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्। आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देश्ये प्रकीर्तिता॥'

न्याय भाष्य १, १, १। अर्थशास्त्र अ० ११।

वात्स्यायनके इन नामोंमें 'द्रामिलः' और 'पक्षिलस्वामी' ये दो नाम जो मिलते हैं इनके आधारपर सतीशचन्द्र विद्याभूषण प्रभृति विद्वानोंका अनुमान है कि वे सम्भवतः द्रविड़देशके निवासी थे जिसकी राजधानी थी वर्तमानकांचीवरम्, जिसका प्राचीन नाम कांचीपुर भी था। पक्षिल स्वामी नाम के अन्तमें प्रयुक्त 'स्वामी' शब्द भी उसी देशके साथ इनके सम्बन्धको सूचित करता है। कांचीपुर उस समय विद्याका प्रधान केन्द्र था और न केवल वात्स्यायन आदि वैदिक विद्वानोंकी दृष्टिसे ही अपितु बौद्ध धर्मका भी वह एक प्रधान केन्द्र था। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् दिङ्नाग ५०० वि० और धर्मपाल ६०० वि० भी उसी स्थानपर उत्पन्न हुए थे। इस प्रकार कांचीपुरका भी इस संघर्षमें प्रमुख स्थान रहा है। वात्स्यायन-भाष्यकारके विरुद्ध वहींसे बौद्ध विद्वान् आचार्य दिङ्नागने अपनी आवाज उठाई और अपना प्रमाणसमुच्चय ग्रन्थ लिखकर वात्स्यायन-भाष्यके विरुद्ध अपने सिद्धान्तों को स्थिर किया।

'प्रमाणसमुच्चय' आचार्य दिङ्नागका सबसे प्रमुख ग्रन्थ है। इसका प्रारम्भ करते हुए दिङ्नागने लिखा है—

'प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने।
प्रमाणसिद्धयै स्वकृतिप्रकीर्णात्, निबध्यते विप्रसृतं समुच्चितम्॥'

अर्थात् उन्होंने अपने विविध ग्रन्थोंमें प्रमाणसम्बन्धी विशेष अंशोंका संग्रह कर इसकी रचना की है। मूल ग्रंथ संस्कृतमें लिखा गया था परन्तु दुर्भाग्यसे आज उसका मूल संस्कृत संस्करण उपलब्ध नहीं है। उसके तिब्बतीय अनुवादसे पुनरनूदित रूपमें केवल प्रत्यक्ष खण्ड मैसूर विश्व-विद्यालयके प्रकाशन विभागकी ओरसे प्रकाशित हुआ है।

न्याय दर्शनमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण माने गए हैं। 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि।' न्याय० १, १, ३। इसके विरुद्ध दिङ्नागने 'प्रमाणसमुच्चय'में केवल प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण माने हैं—

'प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणं, हि द्विलक्षणम्।
प्रमेयं, तत्प्रयोगार्थं न प्रमाणान्तरं भवेत्॥' प्र० स० २

स्वलक्षण और सामान्य लक्षण अर्थात् विशेष और सामान्य रूप दो प्रकारका ही प्रमेय है। इसलिये उसके ग्रहण के लिये प्रमाण भी दो ही प्रकारके हैं जिनमें प्रत्यक्ष प्रमाणसे स्वलक्षण अर्थात् वस्तु-विशेषका और अनुमानसे सामान्य लक्षणका ग्रहण हो जाता है। इसलिए इन दो के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नहीं है। स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदि ज्ञातविषयक ज्ञानोंको प्रमाण माननेपर अनवस्था होगी इसलिए दिङ्नाग प्रत्यभिज्ञा आदिको प्रमाण नहीं मानते हैं और उनके अनुसार 'अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम्' यह प्रमाणका सामान्य लक्षण होता है।

'नापि पुनः प्रत्यभिज्ञानवस्था स्यात् स्मृतादिवत्।

आचार्यस्य ज्ञातविषयकं प्रमाणं नेत्यत्र कारणमाह अनवस्थाप्रसङ्गादिति। अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम्।'

न्यायकुसुमाञ्जलिमें श्रीउदयनाचार्यने भी इस द्विप्रमाणवादका खण्डन कर उपमान तथा शब्दको अलग प्रमाण स्थापित किया है और 'अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम्' इस प्रमाणलक्षणका खण्डन करनेका प्रयत्न किया है।

प्रत्यक्ष प्रमाणका न्यायसूत्रमें—

'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।'

यह लक्षण किया है। आत्मा और सुखादिके ज्ञान किसी इन्द्रियसे नहीं होते इसलिए यह लक्षण अव्याप्तिदोषग्रस्त है इस दोषका परिहार करते हुए वात्स्यायनने मनको इन्द्रिय मानकर उस लक्षण का समाधान किया है और मनको इन्द्रिय सिद्ध करनेके लिए लिखा है—

'तन्त्रान्तरसमाचाराच्चैतत् प्रत्येतव्यमिति। परमतमप्रतिषिद्धमनुमतमिति तन्त्रयुक्तिः।'

इसका खंडन करते हुए दिङ्नाग ने लिखा है—

'न सुखादि प्रमेयं वा मनो वास्तीन्द्रियान्तरम्। अनिषेधादुपात्तं चेदन्येन्द्रियरुतं वृथा॥'

इसका अभिप्राय यह है कि यदि न्यायसूत्रकारका लक्षण माना जाय तो सुखादिका ग्रहण किसी इन्द्रियसे सम्भव न होनेसे सुखादि प्रमेय नहीं हो सकेंगे। उसको ग्रहण करनेके लिए भाष्यकार जो **'मनसश्चेन्द्रियभावान्न वाच्यं लक्षणान्तरमिति'** १,१,४ कहते हैं वह भी ठीक नहीं है क्योंकि—

'घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः।' न्याय सूत्र १,१,१२

इस न्यायसूत्रमें इन्द्रियोंका जो परिगणन किया है उसमें मनको इन्द्रिय नहीं गिनाया है।

इसलिए मन रूप अन्तरिन्द्रिय भी नहीं है जिसके द्वारा सुखादिके ग्रहणको प्रत्यक्ष माना जा सके और **'परमतमप्रतिषिद्धमनुमतं भवति'** इस सिद्धान्तसे भी मनको इन्द्रिय सिद्ध नहीं किया जा सकता है क्योंकि यदि ऐसा होता तो अन्य इन्द्रियोंका कथन करना भी व्यर्थ था।

'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' अर्थात् इन्द्रिय और अर्थके सन्निकर्षसे उत्पन्न ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं, इसका खंडन करते हुए दिङ्नाग कहते हैं कि यदि इन्द्रिय और अर्थके सन्निकर्षसे उत्पन्न ज्ञान ही प्रत्यक्ष है तो चक्षु और घटादि अर्थके अलग-अलग होनेसे उनका ग्रहण चक्षुसे नहीं हो सकता है, क्योंकि चक्षु अपने गोलकसे बाहर नहीं रहती और न जा सकती है।

'सान्तरार्थग्रहणं न स्यात् प्राप्तज्ञानाधिकस्य च। अधिष्ठानाद् बहिर्नाक्षं न शक्तिर्विषयेक्षणे॥'

इस प्रकार प्रत्यक्ष-अनुमान आदि उपमान-शब्द आदि सभी विषयोंमें दिङ्नागने न्यायदर्शन और वात्स्यायन-भाष्यका खंडन किया।

उद्योतकराचार्य [६३५ वि०]

बौद्धाचार्य दिङ्नागकी ओरसे किए गए वात्स्यायन-भाष्य तथा न्यायसूत्रोंके खंडनका उत्तर देनेके लिए ६३५ वि० के लगभग श्रीउद्योतकराचार्यने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'न्यायवार्तिक'की रचना की। उद्योतकरके 'न्यायवार्तिक'ने उस समय न्यायशास्त्रके मानकी रक्षा की थी। इसलिए महाकवि सुबन्धुने अपने 'वासवदत्ता' ग्रन्थ में—

'न्यायस्थितिमिवोद्योतकरस्वरूपां, बौद्धसंगतिमिवालङ्कारभूषिताम्'''वासवदत्तां ददर्श।'

लिखकर आदरके साथ उद्योतकराचार्यका स्मरण किया है। उद्योतकरने अपने 'न्यायवार्तिक'में अपने प्रतिद्वन्द्वी दिङ्नागको सर्वत्र 'भदन्त' पदसे स्मरण किया है—

'अहो प्रमाणानभिज्ञता भदन्तस्य'। गवा गवयसारूप्यप्रतिपत्तेस्तु संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यते इति सूत्रार्थः।

उद्योतकराचार्यने अपने ग्रन्थमें 'वादविधि' नामक ग्रन्थका उल्लेख किया है—

'यदपि वादविधौ साध्याभिधानं प्रतिज्ञेति प्रतिज्ञालक्षणमुक्तम्।'

न्यायवार्तिक १, ३३, पृ० १२१

यहाँ 'वादविधि'से कदाचित् धर्मकीर्तिके 'वादनय' ग्रन्थका उल्लेख किया गया है। इसके विपरीत धर्मकीर्तिने अपने न्यायबिन्दुमें लिखा है—

'स्वयमितिवादिना यस्तदा साधनमाह। उतेन यद्यपि क्वचिच्छास्त्रे स्थितसाधनमाह। तच्छास्त्रकारेण तस्मिन् धर्मिणि।' परि० ३।

यहाँ 'शास्त्रकार'से कदाचित् उद्योतकराचार्य और 'शास्त्र'से 'न्यायवार्तिक'का ही ग्रहण है। अत एव आचार्य धर्मकीर्ति और उद्योतकराचार्य समकालीन हैं ऐसा श्रीसतीशचन्द्र विद्याभूषणका अनुमान है। उद्योतकराचार्यने वसुबन्धु और नागार्जुनका भी खंडन किया है। परन्तु उनके मुख्य प्रतिद्वन्द्वी दिङ्नागाचार्य ही हैं। न्यायवार्तिकका प्रारम्भ करते हुए उद्योतकराचार्यने लिखा है—

'यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां, शमाय शास्त्रं जगतो जगाद ।
कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतोः करिष्यते तस्य मया प्रबन्धः ॥'

और उसकी समाप्ति करते हुए लिखा है—

'यदक्षपादप्रतिमो भाष्यं वात्स्यायनो जगौ। अकारि महतस्तस्य भारद्वाजेन वार्तिकम् ॥
इति श्रीपरमर्षिभारद्वाजपाशुपताचार्यश्रीमदुद्योतकरकृतौ न्यायवार्तिके पञ्चमोध्यायः ।'

इससे प्रतीत होता है कि उद्योतकर भारद्वाजगोत्रीय और पाशुपत सम्प्रदायके अनुयायी थे। उन्होंने कुतार्किक दिङ्नागादि बौद्धाचार्यों द्वारा गोतमके न्यायसूत्रों और उसपर वात्स्यायन-विरचित भाष्यके विरुद्ध उठाई गई शंकाओंका निराकरण करनेके उद्देश्यसे इस 'न्यायवार्तिक'की रचना की ।

६. बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति [६३५ से ६५० के लगभग]

ऊपर हम देख चुके हैं कि उद्योतकराचार्यने धर्मकीर्तिके 'वादनय' नामक ग्रन्थका वादविधि नामसे उल्लेख किया है और दूसरी ओर आचार्य धर्मकीर्तिने शास्त्रकार पदसे उद्योतकराचार्यका निर्देश अपने 'न्यायबिन्दु' नामक ग्रन्थमें किया है इसलिए यह दोनों आचार्य समकालीन प्रतीत होते हैं । जहाँ कालकी दृष्टिसे इन दोनोंकी समकालीनता है वहाँ कार्य और अपने-अपने दार्शनिक क्षेत्रमें स्थानकी दृष्टिसे भी दोनोंमें बहुत समानता है । उद्योतकराचार्यने गोतमके न्यायसूत्रों और वात्स्यायन-भाष्य पर किए जानेवाले आक्षेपोंका खंडन कर न्यायसिद्धान्तोंके स्पष्टीकरणके लिए अपने 'न्यायवार्तिक'की रचना की है । इसी प्रकार बौद्धाचार्य धर्मकीर्तिने नागार्जुन और दिङ्नागके ग्रन्थों एवं सिद्धान्तोंपर किए जानेवाले आक्षेपोंके परिहार और बौद्ध सिद्धान्तोंके स्पष्टीकरणके लिए दिङ्नागके 'प्रमाणसमुच्चय' पर 'प्रमाणवार्तिक'की रचना की है । उद्योतकराचार्य यदि न्याय-दर्शनके वार्तिककार हैं तो धर्मकीर्ति बौद्ध दर्शनके वार्तिककार हैं । इसलिए इन दोनोंका अपने-अपने क्षेत्र में समान रूपका महत्त्व है ।

उद्योतकराचार्यने दिङ्नागादिके द्वारा वात्स्यायन-भाष्यपर किए जानेवाले आक्षेपोंका समाधान करनेका प्रयत्न किया यह ठीक है । परन्तु उसके साथ ही साथ उनके इस प्रयत्नका विरोध भी प्रारम्भ हो गया । बौद्ध साहित्यमें धर्मकीर्तिका सम्बन्ध कुमारिल भट्टके साथ बताया गया है । जिस प्रकार कुमारिल भट्टके विषयमें यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपने वास्तविक धर्मको छिपाकर बौद्ध विद्वानोंके पास रहकर बौद्ध दर्शनका अध्ययन किया था इसी प्रकार धर्मकीर्तिके विषयमें भी प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपने बौद्ध रूपको छिपाकर कुमारिल भट्टके यहाँ रहकर और भृत्य रूपमें सेवा कर वैदिक शास्त्रोंका अध्ययन किया था । धर्मकीर्तिके 'प्रमाणवार्तिक' की रचनाके विषयमें यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने दिङ्नागके शिष्य ईश्वरसेनके यहाँ पहिली बार आचार्य दिङ्नागके 'प्रमाणसमुच्चय' का पाठ सुना । उसके पहिली वार पढ़नेसे ही 'प्रमाणसमुच्चय' पर उनका ईश्वरसेनके समान ही पूर्ण अधिकार हो गया । जब उन्होंने दुबारा उसको पढ़ा तो स्वयं दिङ्नागके समान हो गए और तीसरी बारकी आवृत्तिसे उनको उसमें कुछ त्रुटियाँ भी प्रतीत होने

लगीं जिनका उल्लेख उन्होंने ईश्वरसेनसे किया। तब ईश्वरसेनने उनसे कहा कि तुम इसपर कुछ लिख डालो जिससे इसकी कमीकी पूर्ति हो जाय और विपक्षसे होनेवाले आक्षेपोंका परिहार हो जावे। इस प्रकार दिङ्नागके शिष्य ईश्वरसेनकी अनुमति प्राप्त कर उन्होंने 'प्रमाणवार्तिक' की रचना की। अन्य बौद्ध ग्रन्थोंके समान प्रमाणवार्तिकका भी संस्कृत संस्करण विलुप्त हो गया था और उसका तिब्बती भाषाका अनुवाद शेष रह गया था। प्रमाणवार्तिक कारिका रूपमें लिखा गया था और उसके ऊपर वृत्ति भी स्वयं धर्मकीर्तिने लिखी थी। अभी सन् १९४३ में श्रीराहुल सांकृत्यायनने 'स्वोपज्ञवृत्ति' और उसपर 'कर्णकगोमिन्' कृत टीका सहित प्रमाणवार्तिकका स्वार्थानुमान परिच्छेद वाला एक भाग प्रकाशित किया है। सम्पूर्ण प्रमाणवार्तिकमें १. स्वार्थानुमान परिच्छेद, २. प्रमाण परिच्छेद, ३. प्रत्यक्ष परिच्छेद और ४. परार्थवाक्य परिच्छेद इस प्रकार चार परिच्छेद हैं। प्रमाणवार्तिकके अतिरिक्त उसपर १. प्रमाणवार्तिकवृत्ति, २. प्रमाणविनिश्चय ३. न्यायबिन्दु, ४. हेतुबिन्दुविवरण, ५. तर्कन्याय अथवा वादन्याय, ६. सन्तानान्तरसिद्धि, ७. सम्बन्धपरीक्षा, ८. सम्बन्धपरीक्षावृत्ति, यह ग्रन्थ भी धर्मकीर्तिने बनाए। धर्मकीर्तिने दिङ्नागाचार्यकी भी कहीं-कहीं आलोचना की है और उनसे अपना मतभेद प्रदर्शित किया है। परन्तु वह भेद गौण है, अधिकांश उनके सिद्धान्तोंकी पुष्टि ही की है। प्रमाणवार्तिकके बाद 'न्यायबिन्दु' उनका दूसरा मुख्य ग्रन्थ है। उसमें प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान यह तीन परिच्छेद हैं।

७. वाचस्पति मिश्र [८४१ वि० के लगभग]

वैदिक और बौद्ध दार्शनिकोंकी संघर्ष-परम्परामें सातवाँ स्थान श्रीवाचस्पति मिश्रका है। १. अक्षपाद गोतमके न्यायसूत्रों पर, २. नागार्जुनने आक्षेप किए थे उनके उद्धारके लिए ३. वात्स्यायनने भाष्य लिखा। परन्तु बौद्धाचार्य ४. दिङ्नागने उस वात्स्यायन-भाष्यका भी खण्डन किया तब उसके उद्धारके लिए ५. उद्योतकराचार्यने न्यायवार्तिककी रचना की। परन्तु अभी न्यायवार्तिककी रचना हो ही पाई थी कि ६. बौद्धोंकी ओरसे आचार्य धर्मकीर्तिने फिर उसका खण्डन प्रारम्भ कर दिया। इस खण्डनके उद्धारके लिए ८४१ वि० के लगभग ७. श्रीवाचस्पति मिश्रने 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' की रचना की। इस प्रकार इस शृङ्खलामें सप्तम स्थान श्रीवाचस्पति मिश्रका है। वाचस्पति मिश्रने अपने दूसरे न्यायसूची-निबन्धमें उसका रचनाकाल ८९८ दिया है।

'न्यायसूचीनिबन्धोयमकारि सुधियां मुदे।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वंकवसु[८९८]वत्सरे॥'

इससे उनका काल प्रायः निर्धारित हो जाता है। वाचस्पति दार्शनिक जगत्के अत्यन्त प्रसिद्ध और प्रमुख व्यक्ति हैं। उन्होंने सभी दर्शनोंपर टीकाएँ लिखी हैं। 'न्यायवार्तिकतात्पर्य-

टीका' के अतिरिक्त 'सांख्यकारिका' पर 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' योगदर्शनके व्यासभाष्यपर 'तत्त्व-वैशारदी' और 'वेदान्त दर्शन'के शांकर भाष्यपर 'भामती टीका' अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस तपस्वी ब्राह्मणके विषयमें प्रसिद्ध है कि वह सारे समय अपनी साहित्य-सेवामें इस तल्लीनता से व्यस्त रहते थे कि अपने घर-बारकी भी कभी कोई चिन्ता नहीं करते थे। उनका सारा यौवनकाल साहित्यिक साधनामें ही व्यतीत हो गया और अपने गार्हस्थ्य कर्तव्यकी ओर भी कभी ध्यान देनेका अवसर उन्हें न मिला। अन्तमें वृद्धावस्थाके समय, जब वह वेदान्तके शांकरभाष्य पर अपने सर्वोत्तम टीकाग्रन्थकी रचना करनेमें व्यस्त थे, एक दिन संध्याके समय उनको लिखते-लिखते अँधेरा हो गया। उनकी पत्नी दीपक जलाकर लाई तो उन्होंने आँख उठाकर देखा कि कौन आया। उस समय अपनी स्त्रीकी मुख-मुद्रामें अंकित मातृत्वकी अतृप्त आकांक्षा और वंशांकुरकी दीर्घकालव्यापिनी चिन्ताकी रेखाओंको देखकर और कदाचित् उसके मुखसे इस आकांक्षा और चिन्ताका विवरण सुनकर वाचस्पति मिश्रका ध्यान इस ओर गया। उस समय उनको अनुभव हुआ कि यह मेरी विवाहिता पत्नी है। इस तपस्विनीने अपना सारा जीवन मातृत्व की अतृप्त आकांक्षाको अपने हृदयके किसी निगूढ़ कोनेमें दबाए रखकर व्यतीत कर लिया किन्तु मेरी साहित्यिक साधनामें विघ्न नहीं डाला। तब उन्होंने उसको सान्त्वना देते हुए कहा—'अच्छा, वंश चलानेकी चिन्ता तो तुम छोड़ दो। मैं ऐसा उपाय करता हूँ जिससे तुम्हारा और मेरा नाम सदाके लिए अमर हो जाय। और वह उपाय यह है कि मैं अपनी इस सर्वोत्तम कृति, जिसमें मैं अपने जीवनका सारा तत्त्व भर रहा हूँ और जो कदाचित् मेरी साहित्यिक साधनाकी अन्तिम सीढ़ी है इसका नामकरण तुम्हारे नामपर किए देता हूँ। इससे इसके रचयिताके रूपमें मेरा नाम और टीकाग्रन्थके नामसे तुम्हारा नाम सदाके लिए अमर हो जायगा। ऐसा अमर, जैसा कि पुत्रोंसे कभी सम्भव नहीं होता।' यह कहकर उन्होंने शांकरभाष्यपर लिखी जानेवाली अपनी उस सर्वोत्तम टीकाका नाम अपनी पत्नीके नामपर 'भामती' रख दिया। इसमें सन्देह नहीं कि इस उपायसे उन्होंने अपनी पत्नीका नाम अमर कर दिया और उस तपस्विनीकी जीवन-व्यापिनी साधना भी सफल कर दी।

इन वाचस्पतिमिश्रने न केवल बहुमूल्य रचनाएँ दीं, अपितु दार्शनिक क्षेत्रमें कई नवीन तत्त्व भी प्रस्तुत किए जो उनके पूर्व स्पष्ट रूपमें उपलब्ध नहीं थे। इनमें प्रत्यक्षके सविकल्पक-निर्विकल्प भेद, उपाधिका सिद्धान्त और ख्यातिपञ्चकका निरूपण मुख्य हैं। वाचस्पतिमिश्रने अपने गुरु त्रिलोचनके आधारपर प्रत्यक्षको सविकल्पक और निर्विकल्प रूपसे विभक्त किया और न्यायके प्रत्यक्ष लक्षणमें आनेवाले व्यवसायात्मक पदसे उसका सम्बन्ध जोड़ा।

'व्यवसायात्मकं पदं साक्षात्सविकल्पस्य वाचकम्। तथाहि व्यवसायो विनिश्चयो विकल्प इत्यनर्थान्तरम्। स एवात्मा रूपं यस्य तत्सविकल्पकं प्रत्यक्षम्। तदेतदति-स्फुटत्वात् शिष्यैर्गम्यत एवेति भाष्यवार्तिककाराभ्यां न व्याख्यातम्। अस्माभिः—

त्रिलोचनगुरून्नीतमार्गानुगमनोन्मुखैः ।
यथा मानं यथा वस्तु व्याख्यातमिदमीदृशम् ॥'

वाचस्पतिमिश्रने अपने पूर्ववर्ती धर्मकीर्तिके जिन सिद्धान्तोंका खण्डन अपनी तात्पर्यटीकामें किया है उनमें निग्रहस्थानोंके विवेचन का मुख्य स्थान है। न्यायदर्शनमें अक्षपादने संक्षेपतः विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्तिमूलक दो भेद करके फिर विस्तारपूर्वक उनके २२ भेद किए हैं। इनमेंसे १. अनुभाषण, २. अज्ञान, ३. अप्रतिभा, ४. विक्षेप, ५. पर्यनुज्योपेक्षण, ये पाँच अप्रतिपत्तिमूलक और शेष १७ विप्रतिपत्तिमूलक निग्रहस्थान माने गए हैं। बौद्ध परम्परामें भी प्रारम्भमें यही २२ निग्रहस्थान माने जाते रहे। निग्रहस्थानोंका वर्णन आयुर्वेदके प्रसिद्ध ग्रन्थ चरकमें भी आया जो अधिकांशमें अक्षपादकी परम्पराके अनुसार ही है फिर भी कहीं-कहीं भेद है। बौद्ध परम्परामें भी अधिकांश अक्षपादके अनुसार और कहीं-कहीं चरकानुसारी निग्रहस्थानों का वर्णन चलता रहा। परन्तु आचार्य धर्मकीर्तिने इस विषयमें एक नवीन पद्धतिको जन्म दिया। इसके लिए ही उन्होंने अपने 'वादन्याय' ग्रन्थकी रचना की और उसमें स्वतन्त्र पद्धतिसे निग्रह-स्थानोंका विवेचन किया। उसमें असाधनांगवचन और अदोषोद्भावन नामक मुख्यतः दो निग्रह-स्थान माने हैं—

'असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः। निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति ॥'

'वादनय' में धर्मकीर्तिने अक्षपादप्रतिपादित निग्रहस्थानोंका विशेष रूपसे खण्डन किया है। अत एव वाचस्पतिके सामने उसके उद्धारका प्रश्न था। वाचस्पतिने कहा कि अक्षपादने भी प्रारम्भमें विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्तिमूलक दो ही प्रकारके निग्रहस्थान वर्णन किए हैं और फिर २२ जो भेद किए हैं वह तो उनका विस्तारमात्र है अत एव धर्मकीर्तिने कोई नई बात नहीं कही है। जयन्तभट्टने भी कहा है—

'एतेषां धर्मकीर्तेरपि च न विमतिर्निग्रहस्थानतायाम्'।

वाचस्पतिमिश्रने 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' लिखकर उद्योतकरके न्यायवार्तिकका उद्धार करनेका प्रयत्न किया है। इसको उन्होंने वाणी और गाय दोनोंके वाचक गौ शब्दका प्रयोग कर उद्योतकरकी वाणीके उद्धारको वृद्ध गायोंकी रक्षाके समान पुण्यप्रद माना है और ग्रन्थका उपक्रम उपसंहार करते हुए दोनों जगह लिखा है—

'इच्छामि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपङ्कमग्नानाम् ।
उद्योतकरगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात् ॥'

अर्थात् दुस्तर कुनिबन्ध रूप पङ्कमें फँसी हुई अतिजरती उद्योतकरकी वाणी रूप गौओंका उद्धार कर कुछ पुण्य प्राप्त करना चाहता हूँ। अन्तमें ग्रन्थ समाप्त करते हुए फिर इसीको दुहराया है—

'यदलम्भि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपङ्कमग्नानाम् ।
उद्योतकरगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात् ॥
संसारजलधिसेतौ वृषकेतौ सकलदुःखशमहेतौ ।
तस्य फलमखिलमर्पितमेतेन प्रीयतामीशः ॥'

अर्थात् धर्मकीर्ति आदि बौद्धोंके प्रौढ़ अत एव दुस्तर कुनिबन्ध रूप पङ्कमें फँसी हुई उद्योतकर की अत्यन्त वृद्ध गौओंकी रक्षा कर मैंने जो कुछ पुण्य लाभ किया है उसे भगवान्के अर्पण करता हूँ। उससे भगवान् प्रसन्न होंगे। मिश्रजीने अपने इस प्रयत्नको जो इस रूपमें प्रस्तुत किया है वह उनके हृदयकी कोमल भावनाओंको अभिव्यक्त करता है। यही नहीं, उन्होंने इस प्रकारकी वृद्ध गौओं [वाणी] के ऊपर हाथ उठानेवाले लोगोंसे बड़े मार्मिक रूपमें प्रार्थना की है—

'क्रूराः कृतोऽञ्जलिरयं वलिरेष दत्तः, कायो मया प्रहरतात्र यथाभिलाषम् ।
अभ्यर्थये वितथवाङ्मयपांसुवर्षैः मा माविलीः कुरुत कीर्तिनदीः परेषाम् ॥'

अर्थात्, अरे क्रूरहृदय आक्रमणकारियो! उस बूढ़ी गौ (वाणी, ग्रन्थ) पर हाथ क्यों उठाते हो! यदि आपको प्रहार करनेमें ही आनन्द आता है तो मेरे इस शरीरपर प्रहार कीजिए, चाहे जितना प्रहार कीजिए। किन्तु मिथ्या वाङ्मय रूप धूल डालकर किसीकी कीर्ति-नदीको मलिन मत करो।

मिश्रजीकी यह प्रार्थना बड़ी सुन्दर और मार्मिक है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु उसका उन आक्रमणकारियोंपर कोई प्रभाव नहीं हुआ। इसलिए थोड़े ही दिनों बाद 'न्यायवार्तिक' के समान वाचस्पति मिश्रकी 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' के भी उद्धारकी आवश्यकता आ पड़ी और ९८४ के लगभग उदयनाचार्यने 'न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि' द्वारा उसका उद्धार किया।

श्रीउदयनाचार्य [९८४]

इस प्रकार बौद्धों और नैयायिकोंकी इस संघर्ष-परम्परामें आठवें स्थानपर हमारे न्याय-कुसुमाञ्जलिकार श्रीउदयनाचार्यका स्थान आ जाता है। श्रीउदयनाचार्यका जीवन-वृत्तान्त हम पहिले दे चुके हैं। उस वृत्तान्तसे यह स्पष्ट है कि अपने पूर्ववर्ती वैदिक विद्वानोंके समान उन्हें भी बौद्धोंके साथ घोर संघर्ष करना पड़ा। उनका सारा जीवन इस संघर्षमें ही व्यतीत हुआ। जिस प्रकार वात्स्यायनको नागार्जुनका, उद्योतकरको दिङ्नागका और वाचस्पतिमिश्रको धर्मकीर्तिका प्रधान रूपसे सामना अपने ग्रन्थोंमें करना पड़ा उसी प्रकार उदयनाचार्यके सामने बौद्धाचार्य कल्याण-रक्षित और धर्मोत्तराचार्यके ग्रन्थ उत्तर देनेके लिए प्रस्तुत थे। कल्याणरक्षित और धर्मोत्तराचार्य का समय क्रमशः ८२९ तथा ८४७ ई० के लगभग माना गया है। कल्याणरक्षितने १. सर्वज्ञसिद्धि-कारिका, २. बाह्यार्थसिद्धिकारिका, ३. श्रुतिपरीक्षा, ४. अन्यापोहविचारकारिका और ५. ईश्वरभंग-कारिका इस प्रकार पाँच ग्रन्थ लिखे हैं। धर्मोत्तराचार्य इन कल्याणरक्षितके शिष्य हैं और इन्होंने १. न्यायबिन्दु टीका, २. प्रमाणपरीक्षा, ३. अपोह नाम प्रकरण, और ४. परलोकसिद्धि नामक चार

ग्रन्थोंकी रचना की है। इन ग्रन्थोंका उत्तर देनेका भार उदयनाचार्यके ऊपर आया। उदयनाचार्यने 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' पर इन विद्वानों द्वारा किए जानेवाले आक्षेपोंका परिहार करनेके लिए 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकापरिशुद्धि' नामक ग्रन्थ लिखा। इस परिशुद्धिका प्रारम्भ करते हुए उन्होंने माता सरस्वतीसे प्रार्थना की है—

'मातः सरस्वति पुनः पुनरेव नत्वा, बद्धाञ्जलिः किमपि विज्ञपयाम्यवेहि।
वाक्चेतसोर्मम तथा भव सावधाना वाचस्पतेर्वचसि न स्खलतो यथैते॥'

इस तात्पर्यपरिशुद्धिके अतिरिक्त १. वैशेषिक दर्शनके प्रशस्तपाद भाष्यपर किरणावली, २. लक्षणावली, ३. न्यायकुसुमाञ्जलि और ४. आत्मतत्त्वविवेक ये चार ग्रन्थ और मिलते हैं। इसमें न्यायकुसुमाञ्जलिकी रचना कल्याणरक्षितकी ईश्वरभंगकारिकाके विरोधमें मुख्यतः हुई है। कल्याणरक्षितने ईश्वरभंगकारिकामें ईश्वरका खण्डन करनेका प्रयत्न किया था अत एव ईश्वरकी सिद्धि करनेके लिए उदयनाचार्यने न्यायकुसुमाञ्जलिकी रचना की। अपने दूसरे ग्रन्थ 'आत्मतत्त्वविवेक' में उदयनाचार्यने कल्याणरक्षितके 'अन्यापोहविचारकारिका' और 'श्रुतिपरीक्षा' तथा धर्मोत्तराचार्यके 'अपोह नाम प्रकरण' और 'क्षणभंगसिद्धि' में प्रतिपादित विषयों का खण्डन करनेका प्रयत्न किया है। इसीलिए इस 'आत्मतत्त्वविवेक' के दो और नाम भी पाए जाते हैं जिनमें एक 'बौद्धाधिकार' और दूसरा 'बौद्धधिक्कार' है। ये दोनों नाम यह सूचित करते हैं कि इस ग्रन्थकी रचना मुख्यतः बौद्ध सिद्धान्तोंके खण्डनके लिए ही की गई है। 'आत्मतत्त्वविवेक' के कुल चार परिच्छेद हैं जिनमें से पहिले तीन परिच्छेद मुख्यतः बौद्धोंके खण्डनके लिए ही लिखे गए हैं और आत्मतत्त्वकी सिद्धिका प्रयत्न केवल अन्तिम परिच्छेदमें किया गया है।

इनमें भी प्रथम परिच्छेदमें, १. सत्त्वेन क्षणिकत्वसाधननिराकरण प्रकरण, २. विनाशित्वेन क्षणिकत्वनिराकरण प्रकरण, ३. स्थैर्यसाधन प्रकरण, ४. अपोहखण्डन प्रकरण, ५. सौत्रान्तिक मत निराकरण प्रकरण, ६. जातिबाधक निराकरण प्रकरण, इस प्रकार ६ अवान्तर प्रकरण हैं।

द्वितीय परिच्छेदमें १. ज्ञानज्ञेययोरभेदखण्डन प्रकरण, २. चित्रज्ञानखण्डन प्रकरण, ३. विश्वशून्यता प्रकरण, ४. बाह्यार्थसाधन प्रकरण, ५. अवयविसाधन प्रकरण, ६. परमाणु प्रकरण, ७. विज्ञाननिराकरण प्रकरण, इस प्रकार सात अवान्तर प्रकरण हैं।

तृतीय परिच्छेदमें आत्मसाधन प्रकरण और गुणगुण्यभेदखण्डन प्रकरण ये दो प्रकरण हैं।

चतुर्थ परिच्छेदमें १. स्थिरात्मसाधन प्रकरण, २. विज्ञानात्मवादखण्डन प्रकरण, ३. आत्मधर्म प्रकरण, ४. आम्नायप्रामाण्य प्रकरण, ५. ईश्वरसिद्धि प्रकरण, ६. सर्वज्ञसिद्धि प्रकरण, इस प्रकार ६ अवान्तर प्रकरण हैं।

आत्मतत्त्वविवेकका उपसंहार करते हुए उदयनाचार्यने लिखा है—

'बहुतरपरतन्त्रप्रान्तरध्वान्तभीतिस्तिमितपथिकरक्षासार्थवाहेन यत्नात्।

इदमुदयकरेण न्यायलोकागमानां, व्यवहतिमवधूय व्यञ्जितं वर्त्म मुक्तेः ॥
नास्य श्लाघामकलितगुणः पोषयन् प्रीतये नः कोन्धैश्चित्रस्तुतिशतविधौ शिल्पिनः स्यात् प्रकर्षः।
निन्दामेव प्रथयतु जनः किन्तु दोषान्निरूप्य, प्रेक्षयांस्तस्य स्खलितवचनं प्रीणयेदेव भूयः॥'

न्यायकुसुमाञ्जलि

प्रकृत न्यायकुसुमाञ्जलि ग्रन्थ उदयनाचार्यका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थकी रचनाके लिए उन्हें कल्याणरक्षितकी ईश्वरभङ्गकारिकासे प्रेरणा प्राप्त हुई। कल्याणरक्षितने ईश्वरभंगकारिकामें ईश्वरका खण्डन करनेका प्रयत्न किया है अत एव उसके विपरीत उदयनाचार्यने ईश्वरसिद्धिके लिए अपने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थका निर्माण किया है। इस ग्रन्थमें पाँच स्तबक हैं जिनमेंसे प्रथम स्तबकमें मुख्यतः चार्वाक, दूसरेमें मीमांसक, तीसरेमें बौद्ध, चौथेमें जैन और पाँचवेंमें सांख्य सिद्धान्तोंका आधार मानकर मुख्यतः विवेचना की है। परन्तु यह विभाग एकदम निश्चित नहीं है। प्रथम परिच्छेदमें भी चार्वाकोंके अतिरिक्त मीमांसकोंके शक्ति-सिद्धान्त और बौद्धोंके क्षण-भङ्गवादकी आलोचना की गई है। इसी प्रकार तीसरेमें सांख्य-बौद्ध-मीमांसक-वैशेषिक आदि सभी मतोंकी चर्चा हुई है। अत एव यह विभाग बहुत निश्चित नहीं कहा जा सकता। ग्रन्थकारने स्वयं यह विभाग किया भी नहीं है। यह सब टीकाकारोंका किया हुआ विभाग है। ग्रन्थकारने तो पाँच प्रकारकी विप्रतिपत्तियाँ ईश्वरके विषयमें हो सकती हैं यही दिखाया है और उन्हीं पाँचों प्रकारकी विप्रतिपतियोंका निराकरण एक-एक स्तबकमें किया है। वह पाँच प्रकारकी विप्रतिपत्तियाँ मुख्यतः इस प्रकार दिखाई गई हैं।

१. अलौकिकस्य परलोकसाधनस्याभावात्। अर्थात् अलौकिक परलोकसाधनका अभाव होने से ईश्वरका अभाव है। इस विप्रतिपत्तिके भी चार अंश हो जाते हैं। १. साधनस्य अभावात् अर्थात् संसारमें कोई किसीका कारण नहीं है। २. परलोकस्य अभावात् अर्थात् परलोक नहीं है। ३. अलौकिकस्याभावात् अर्थात् अलौकिक धर्माधर्म या अदृष्ट जैसी कोई वस्तु नहीं है। यह तीन भाग तो अलग-अलग हुए, चौथा रूप इन सबको मिलाकर अलौकिकपरलोकसाधनस्याभावात् यह है।

इनमें पहिली विप्रतिपत्तिका भी प्रथम अंश साधनस्याभावात् सबसे अधिक प्रमुख है। अत एव ग्रन्थकारने सबसे पहिले उसीका विवेचन किया है। ईश्वरकी सिद्धि कार्यकारणभावके ऊपर ही आश्रित है। जगत् कार्य है अत एव उसका कारण कोई होना चाहिए। उस रचनाका कारण कोई मनुष्य हो नहीं सकता क्योंकि उसकी रचना इतनी सूक्ष्म और जटिल है कि अरबों वर्षके प्रयत्नके बाद भी आज तक मनुष्य उसके रहस्यको नहीं समझ सका है। **'तस्य मनसाप्यचिन्त्य-रचनारूपस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य जगतः नान्यतः सम्भवः।'** यह जगत् अनित्य है, विनाशी है और रचा हुआ कार्य है यह बात तो उसके सृष्टि इस नामसे सिद्ध है। सृष्टिका अर्थ ही पैदा हुई या रची हुई वस्तु है। इसके पर्यायवाची दूसरे जगत् और संसार शब्द

भी उसकी अनित्यताको सूचित करते हैं। अत एव सृष्टि नित्य नहीं, उत्पन्न हुई, रची हुई वस्तु है अत एव उसका रचयिता कोई होना ही चाहिए। इसी आधारपर प्राचीन आचार्योंने **'क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्'** यह अनुमान बनाया है। अर्थात् पृथिवी आदि जगत् कार्य हैं—अत एव उसका कर्ता कोई होना चाहिए जैसे घट कार्य वस्तु है तो उसका कर्ता कुम्भकार है। इसी प्रकार क्षिति आदि कार्य वस्तुओंका कर्ता ईश्वर है। इस प्रकार कार्यकारणभाव ईश्वरकी सिद्धिका सबसे प्रथम प्रमाण है। इसीलिए चार्वाक इस कार्यकारणभावका ही खंडन करता है, उसका कहना है—

'अग्निरुष्णो जलं शीतं शीतस्पर्शस्तथानिलः।
केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः ॥'

अर्थात् अग्निकी उष्णता, जलकी शीतता और वायुके शीतस्पर्शको किसने बनाया? अर्थात् किसीने नहीं बनाया, वह स्वभावसे ही है। यहाँ अग्नि-जल आदिका उदाहरण देकर वह सृष्टिकर्ताकी आवश्यकता नहीं है यह प्रतिपादन करना चाहता है। परन्तु उसका उदाहरण वस्तुतः उदाहरण नहीं बन सकता है क्योंकि वह स्वयं साध्य कोटिमें है। संसारकी समस्त क्रियाएँ दो भागोंमें विभक्त हैं एक प्राणिकृत और दूसरी अप्राणिकृत। घट का निर्माण प्राणिकृत क्रिया है और वायुकी गति अप्राणिकृत क्रिया है। प्राणिकृत क्रियाएँ सिद्धकोटि की हैं। वह किसी प्राणी द्वारा की हुई क्रियाएँ हैं यह सब कोई देख सकता है इसलिए उनका दृष्टान्त बनाया जा सकता है। दृष्टान्तका लक्षण है–

'लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः'

जिसे लौकिक और परीक्षक अथवा पक्ष और विपक्ष दोनों समान रूपसे मानते हों वही अर्थ दृष्टान्त हो सकता है। घट सकर्तृक है यह बात आस्तिक और नास्तिक दोनों मानते हैं अत एव ईश्वरसाधक अनुमानमें प्रस्तुत किया गया घटका दृष्टान्त ठीक है। परन्तु चार्वाक अग्नि, जल, वायुको दृष्टान्त बनाकर अपनी बात अर्थात् सृष्टिकर्ताका अभाव सिद्ध करना चाहता है सो ठीक नहीं है, क्योंकि वह तो स्वयं साध्य कोटिमें है। आस्तिक तो उस सबको ईश्वरकृत ही मानता है अत एव वह उदाहरण नहीं हो सकता है।

आधुनिक दृष्टिकोण से

आधुनिक सर ओलिवर लाज तथा फ़्लिन्ट आदि विद्वानोंने कार्यकारणभावके साथ नियमको भी ईश्वरसाधक प्रबल प्रमाणके रूपमें प्रस्तुत किया है। सृष्टिका संचालन अत्यन्त नियमित रूपसे और अत्यन्त विशाल उद्देश्यसे हो रहा है, उसका नियन्ता कोई होना चाहिए।

जिस प्रकार प्राचीन कालमें चार्वाक कार्यकारणभावकी सत्ताका निषेध करता था इसी प्रकार आधुनिक आर्मस्ट्रांग आदि कुछ विद्वान् कार्यकारणभावका निषेध करते हैं। आर० ए० आर्मस्ट्रांगने अपनी पुस्तक 'गाड एन्ड दि सोल'में पृ० ३५ पर जो लिखा है, उसका भावानुवाद इस प्रकार है–

'जान स्टुअर्ट मिलने ह्यूमकी एक पुरानी युक्तिको लेकर और बढ़ाकर हमें यह निश्चय करनेका यत्न किया है कि कारणका इससे अधिक और कोई अर्थ नहीं है कि सदा पहिले होनेवाला। वह कहते हैं कि यदि एक घटना सदा दूसरी घटनाके पहिले होती है तो वे दोनों हमारे मनमें इस प्रकार सम्बद्ध हो जाती हैं कि हम पहिलीको दूसरीका कारण समझने लगते हैं।'

आगे आर्मस्ट्रांग लिखते हैं :—

'सोमवार सर्वदा मंगलके पहिले आता है, परन्तु मैंने कभी किसीको यह कहते नहीं सुना कि सोमवार मंगलका कारण है।···सूर्योदयके पूर्व सदा अँधेरा होता है परन्तु अँधेरा सूर्योदयका कारण नहीं है।'

परन्तु आर्मस्ट्रांग महोदयका यह कथन ठीक नहीं है। केवल पूर्वभावित्व ही कारणत्व नहीं है किन्तु अन्यथासिद्ध पूर्वभावित्व कारण है। न्यायशास्त्रमें 'अन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वं' यह कारणका लक्षण किया गया है। शिक्षित और अशिक्षित, वाल और वृद्ध सभी इस बातको समझ सकते हैं।

इसी कार्यकारणभावके निषेधप्रसंगमें चार्वाक आदि जगत्को आकस्मिक कहते हैं। इस अकस्माद्वादका श्री उदयनाचार्यने अपनी प्रथम स्तबककी पांचवीं कारिकामें ही विस्तारपूर्वक खंडन किया है। आधुनिक विद्वान् फ़िलिन्टने भी अपनी थीज़्म नामक पुस्तकमें इस अकस्मात्-वादका अच्छा खंडन किया है। इस विषयमें थीज़्म पुस्तकके पृष्ठ १८७ पर उन्होंने जो कुछ लिखा है उसका भावानुवाद इस प्रकार है :—

'कोई ऐसी आकस्मिक घटना हो ही नहीं सकती जिसमें कोई निश्चित नियम न हो। जब दो या अधिक घटनाएँ बिना किसी पूर्व परामर्श या पूर्व प्रबन्धके आपसमें मिलती हैं तो इस मेलको आकस्मिक घटना कहते हैं। जब कारणोंकी एक श्रृङ्खलासे प्रेरित होकर कोई मनुष्य किसी नियत दिवसकी नियत घड़ीमें एक घरके सामनेसे होकर निकलता है उस समय कारणोंकी दूसरी श्रृङ्खला-से जो पहली श्रृंखला के समकालीन होते हुए भी बिल्कुल स्वतंत्र है, प्रेरणा करती है कि उसी घरके छज्जेसे उसी समय कोई भारी वस्तु गिर पड़े और उस आदमीकी मृत्यु हो जाय तो इस परिणाम अर्थात् मृत्युको आकस्मिक घटना कहेंगे। जिस मनुष्यका ईश्वरके सर्वज्ञत्व, सर्वनियंतृत्व और प्रबन्धकत्वपर विश्वास है उसका तो यही मत होगा कि ऊपर कही हुई घटनाका भी आकस्मिकत्व नाममात्रका है [क्योंकि ये दोनों घटनाएँ अपने-अपने नियमोंसे नियन्त्रित और सहेतुक हैं, अनिय-मित और अहैतुक नहीं। सर्वथा अनियन्त्रित और अहेतुक केवल] आकस्मिकताको भाव पदार्थोंकी उत्पत्ति नहीं माना जा सकता है यहाँ तक कि अनीश्वरवादी भी ऐसा नहीं मान सकता है।'

ईश्वरके बिना अचेतन प्रकृतिसे स्वयं ही सृष्टि उत्पन्न हो सकती है इस सांख्य मंतकी आलोचना भी उदयनाचार्यने की है। आधुनिक विद्वान् फिलिन्टने इस विषयपर जो लिखा है, उसका भावानुवाद इस प्रकार है—

'प्रकृतिके परमाणुओंने परमात्माकी क्रियाके बिना स्वयं ही इस विचित्र सृष्टिकी रचना की यह बात मानना इस बातके माननेसे भी अधिक युक्तिशून्य है कि अंग्रेजी भाषाके अक्षरोंने शेक्सपियर नामसे प्रसिद्ध महाकविके मानवी मस्तिष्ककी सहायताके बिना ही शेक्सपियरके महान् नाटकोंकी रचना कर डाली।......यह मानना कि इन परमाणुओंने बिना किसी नियम अथवा बुद्धिकी प्रेरणाके स्वयं ही इस प्रकारकी सुन्दर, जटिल और लाभदायक वस्तुओंसे युक्त संसारकी रचना कर दी, अन्धविश्वासकी उस सीमाका भी उल्लङ्घन कर जाना है जो आज तक किसी बड़े से बड़े अन्धविश्वासी मतमतान्तरवालेने दिखाई है।'

सृष्टि प्रबन्धकी जो अनेक व्याख्यायें डिमाक्रीटस और एपीक्यूरससे लेकर डीडरेट और लैंग आदि नास्तिकों [प्रकृतिवादियों] ने की हैं उन सबका आधार इस एक बातपर निर्भर है कि प्रकृतिके परमाणु जो नित्य हैं असंख्य प्रकारोंसे परस्पर संयुक्त होते रहते हैं और भूत या भविष्य में जो करोड़ों या अरबों प्रकारके संयोग हुए हैं या होनेवाले हैं, हमारी वर्तमान सृष्टि भी उन्हींमेंसे एक है। सम्भववादमें इससे अधिक निर्मूल या निरर्थक बात कभी नहीं मानी गई। अक्षरोंको बिना विचार के अनन्त समय तक उछालते जाओ और तुम कभी उसके विचारको प्रकट न करा सकोगे। इलियडके समस्त अक्षरोंको यदि समस्त मनुष्य जाति संसारके आरम्भसे आजतक प्रातःकालसे रात्रिकाल तक उछालती रहती तो भी इलियडकी पहिली पंक्ति तक कभी न बन सकती। यदि होमरने एकोलीजके क्रोध तथा ट्रायके युद्धको काव्यमें वर्णन करनेकी इच्छा न की होती किन्तु सृष्टिरूपी काव्य और ईश्वरीय नाटकके सामने इलियडकी क्या तुलना है। जो परमाणु पहिलेसे किसी ऐसी वस्तुको बनानेके लिए भी उद्यत न थे जैसे अक्षरोंसे शब्द बनते हैं उनके परस्पर एकाएक मिलनेसे बिना किसी विशेष चेतन सत्ताके सहायताके क्या इतनी विशाल सृष्टि रची जा सकती है। जो ऐसा विश्वास कर सकता हो वह करे। मैं तो ऐसा समझता हूँ कि अलिफलैलाकी सब कहानियोंको सच मान लेना भी इससे अधिक सुगम है। [परन्तु इस असम्भव बात पर विश्वास करना कठिन है]।

इस प्रकार नवीन और प्राचीन नास्तिकोंने ईश्वरके विरोधमें जितने तर्क प्रस्तुत किए हैं उन सभीका खण्डन किसी न किसी रूपमें उदयनाचार्यने अपने इस कुसुमाञ्जलि ग्रन्थमें भली प्रकार सुन्दरताके साथ कर दिया है। इसलिए यह ग्रन्थ ईश्वरसिद्धिविषयक सर्वोत्तम ग्रन्थ माना जाता है। उदयनाचार्यने मूलग्रन्थकी रचना कारिका रूपमें की थी और उनके ऊपर स्वयं ही विस्तृत

व्याख्या लिखी थी। वह एक बड़ा ग्रन्थ है और न्यायके पण्डितोंका परीक्षा-निकष है। उसके ऊपर प्रकाश 'मकरन्द' आदि अनेक टीका-प्रटीकायें लिखी गयी हैं फिर भी वह ग्रन्थ पण्डितोंके लिए दुरूह बना हुआ है। किन्तु हरिदास भट्टाचार्यने उस दुरूह ग्रन्थको सर्वसाधारणके लिए बोधगम्य बनानेकी दृष्टिसे मूलकारिकाओंके ऊपर संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित विवृत्ति लिखी है जो हरिदासीय विवृत्तिके नामसे प्रकृत ग्रन्थके रूपमें प्रसिद्ध है उसी हरिदासीय विवृत्ति सहित न्याय कुसुमाञ्जलि की यह हिन्दी व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। यह व्याख्या अबसे लगभग १२ वर्ष पूर्व संवत् २००७ विक्रमाब्दमें लिखी गयी थी। उसी वर्ष इसके ऊपर श्रीहरजीमल डालमिया पुरस्कार समितिकी ओर से दर्शनका सर्वोत्तम पुरस्कार प्रदान किया गया था। किन्तु अब तक इसके छपने का अवसर न प्राप्त हुआ था। अब चौखम्बा विद्याभवन तथा चौखम्बा संस्कृत सीरीज के अध्यक्ष बाबू श्री जयकृष्ण दास जी गुप्त महोदयकी कृपासे यह ग्रन्थ इतने सुन्दर रूपमें प्रकाशित हो रहा है। इसके लिए हम उनके आभारी हैं। अपनी अत्यन्त अस्वस्थता के कारण अन्तिम दो स्तबकों के प्रूफ मैं स्वयं नहीं देख सका। श्री पं० वंशीधर जी साहित्याचार्य संख्ययोगाचार्य ने उनका संशोधन करने की कृपा की जिसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन
नववर्ष सं० २०१९

आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि

श्रीमदुदयनाचार्यविरचितः

न्यायकुसुमाञ्जलिः

श्रीहरिदासविरचितया विवृत्या विभूषितः

प्रथमः स्तबकः

ईषदीषदनधीतविद्यया तातमातृमुदमाविवर्धयन् ।
क्षेपणाय भवकर्मजन्मनां कोऽपि गोपतनयो नमस्यते ॥

अथ श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितः कुसुमाञ्जलिपरिमलः

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम[1] ॥

नमस्तस्मै परेशाय जगज्जन्मादिकारिणे ।
यत्कृपासेतुसन्तार्यो दुस्तरोऽयं भवाम्बुधिः ॥

ईशस्य सिद्धिमभिलक्ष्य कृतश्रमैर्हि आचार्यकैरुदयनैस्तु समर्पितो यः ।
पुष्पाञ्जलेरभिनवा मकरन्दमस्य व्याख्यामुखेन सुधियः सुखमास्वदन्ताम् ॥

प्रत्येक शुभ कार्यके प्रारम्भमें भगवान्‌का स्मरण करनेसे मार्गमें आने वाली विघ्न बाधाओंपर विजय प्राप्त करनेकी शक्ति और कार्यको निर्विघ्न समाप्त करनेका उत्साह प्राप्त होता है और उसके साथ ही उस कार्यको भगवदर्पण बुद्धिसे करनेकी भावना भी अभिव्यक्त होती है इसलिए आस्तिक समाजमें प्रत्येक शुभ कार्यके प्रारम्भमें भगवान्‌का स्मरण करनेकी प्रथा प्रचलित है। ग्रन्थ-रचनाके प्रारम्भमें भी इसी कारण भगवान्‌के स्मरण रूप मङ्गलाचरण करनेकी परम्परा रही है। यद्यपि भगवान्‌का स्मरण मानसिक व्यापार है परन्तु शिष्य लोग भी इस प्रकार करते रहें, इसलिए शिष्य-शिक्षार्थ ग्रन्थकार उस मङ्गलाचरणको ग्रन्थारम्भमें अङ्कित कर देते हैं। श्री उदयनाचार्य विरचित न्यायकुसुमाञ्जलिकी कारिकाओंकी सरल व्याख्या प्रारम्भ करते समय प्रकृत ग्रन्थकार' श्री हरिदास भट्टाचार्य अपने आराध्यदेवका बालकृष्णके रूपमें स्मरण करते हैं। इस मङ्गल श्लोकमें आये हुए विद्या शब्दका मुख्य अर्थ ज्ञान है परन्तु इसके व्याख्याकार श्री कामाख्यानाथ तर्कवागीशने लक्षणासे उसे वाणीका बोधक माना है। वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ दोनोंकी दृष्टिसे उसकी व्याख्या निम्न प्रकार होगी—

भव (अर्थात् संसारके हेतुभूत मिथ्याज्ञान वासना) कर्म और (उनके फल रूप)

---

१. ऋक्

इष्टदेवतासङ्कीर्तनं ब्रह्मप्रतिपादकसच्छब्दप्रयोगात्मकं मङ्गलं च कुर्वन्नेव ग्रन्थनामाह—

सत्पक्षप्रसरः सतां परिमलप्रोद्बोधबद्धोत्सवो
विम्लानो न विमर्दनेऽमृतरसप्रस्यन्दमाध्वीकभूः ।
ईशस्यैष निवेशितः पदयुगे भृङ्गायमाणं भ्रम-
च्चेतो मे रमयत्वविघ्नमनघो न्यायप्रसूनाञ्जलिः ॥ १ ॥

जन्मके नाश(द्वारा मुक्ति प्राप्ति)के लिए (बाल जनोचित) हम स्वाभाविक ज्ञान अथवा अव्यक्त तोतली वाणीसे पिता तथा माताके आनन्दको धीरे-धीरे बढ़ानेवाले किन्हीं अनिर्वचनीय (बाल कृष्ण रूप) ग्वालबाल को नमस्कार करते हैं ।

किसी किसी संस्करणमें 'भवकर्मजन्मनां'के स्थानपर 'भवजन्मकर्मणां' पाठ मिलता है । उस दशामें भव अर्थात् संसारमें जन्मके हेतुभूत जो कर्म उनके नाशके लिए ऐसा अर्थ होगा ।

ब्रह्मप्रतिपादक सत् शब्दके प्रयोग रूप अपने इष्टदेवताका सङ्कीर्तन और मङ्गलाचरण करते हुए ही [कारिकाकार श्री उदयनाचार्य अपने न्यायकुसुमाञ्जलि नामक प्रकृत] ग्रन्थका नाम [भी] कहते हैं—

भगवान्के चरणयुगलमें समर्पित, सुन्दर खिली हुई पंखुड़ियोंसे युक्त, श्लेष्मादि-रहित शुद्ध घ्राणेन्द्रियवाले सज्जनोंको [अपनी] सुवासकी अनुभूतिसे आल्हादित करनेवाला, [हाथोंकी] रगड़ लगनेपर भी न मुर्झानेवाला अमृत सदृश [मधुर] रसको प्रवाहित करनेवाले मधु [शहद]का उत्पत्तिस्थान, यह निर्दोष न्याय रूप कुसुमोंके अञ्जलि भृङ्गके समान [परमानन्दकी प्राप्तिके लिए [इतस्ततः] घूमते हुए मेरे चित्तको विघ्न बाधा रहित (करके सदा] आह्लादित करे ।

न्यायकुसुमाञ्जलि ग्रन्थ मूलतः श्री उदयनाचार्यका लिखा हुआ है । इस ग्रन्थमें कारिका और उनकी व्याख्या यह दो भाग हैं । श्री उदयनाचार्यने स्वयं अपनी कारिकाओंकी जो व्याख्या लिखी है वह बहुत प्रौढ़ और विस्तृत ग्रन्थ है । इसलिए वह सर्वसाधारणके समझने योग्य नहीं है । परन्तु उस ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय ईश्वर-सिद्धि है जिसका परिज्ञान सर्वसाधारणके लिए अत्यन्त आवश्यक है । यह देखकर श्री हरिदास भट्टाचार्यने श्री उदयनाचार्यकी मूल कारिकाओंको लेकर उनकी सरल और सुबोध यह व्याख्या लिखी है । इसका पहिला श्लोक 'ईषदीषत्' इत्यादि व्याख्याकार श्री हरिदासका मङ्गलाचरण श्लोक है, और 'सत्पक्षप्रसरः' इत्यादि श्लोक मूल ग्रन्थकार श्री उदयनाचार्यका मङ्गलाचरणका श्लोक है । श्री उदयनाचार्यके इस मङ्गलाचरणके श्लोकके दो अर्थ हैं । एक तो पुष्पाञ्जलि परक और दूसरा 'न्यायकुसुमाञ्जलि' ग्रन्थ परक । जिनमें पुष्पाञ्जलि परक अर्थ प्रायः

सीधा सरल है। उसमें 'सत्पत्त्रप्रसरः'के, 'सता समीचीनेन पत्रेण अनुकूलेन रवि-किरणादिना प्रसरः विकासो यस्य सः सत्पत्त्रप्रसरः' अर्थात् सुन्दर अनुकूल सूर्य किरण आदिसे जिसका विकास होता है अथवा 'सन् शोभनः पत्त्रप्रसरः पत्रविकासो यस्य सः' यह दोनों अर्थ हो सकते हैं। इस पक्षमें सतांका अर्थ 'अनुपहतघ्राणानाम्' अर्थात् जिनकी घ्राणेन्द्रिय नासिका श्लेष्मादिसे दूषित नहीं है यह किया गया है। शेष अर्थ साधारण है जैसा कि ऊपर लिख दिया गया है। दूसरा अर्थ न्यायकुसुमाञ्जलि ग्रन्थके पक्षमें लगता है और वह क्लिष्ट है। उसका भाव पहिले समझ लेनेके बाद ही शब्दार्थ ठीक तरहसे समझमें आवेगा। अतः पहिले उसका भाव प्रदर्शन करनेके बाद ही शब्दार्थ दिया जायगा।

श्री उदयनाचार्यने अपने इस ग्रन्थको ईश्वरकी सिद्धिके लिए लिखा है। उसमें न्याय शास्त्रकी पद्धतिके अनुसार विविध अनुमानोंद्वारा ईश्वरकी सिद्धिका प्रयत्न किया गया है। परन्तु तत्त्वदृष्टिसे ईश्वरका साधक मुख्य प्रमाण 'शब्द' है और उसका उपोद्बलक या सहकारी अनुमान हो सकता है। इसीलिए योगदर्शनके व्यासभाष्यमें लिखा है कि—

'सामान्यमात्रोपसंहारे कृतोपक्षयमनुमानं न विशेषप्रतिपत्तौ समर्थमिति संज्ञादि-विशेषप्रतिपत्तिरागमतः पर्यन्वेष्या'।[१]

शारीरक भाष्यमें श्री शङ्कराचार्यने भी—

'सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु जगतो जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदार्ढ्यायानुमान-मपि वेदान्तवाक्याविरोधि प्रमाणं भवन्न निवार्यते'।[२]

लिखकर इसीकी पुष्टिकी है। अतएव श्री उदयनाचार्यने अपने न्याय कुसुमाञ्जलि नामक ग्रन्थको 'ईशस्य पदयुगे निवेशितः' ईश्वरके पदयुगमें निवेशित किया है। यहाँ 'पद' शब्दका अर्थ 'पद्यते ज्ञायतेऽनेन इति पदं प्रत्यायकं, तद्युगं प्रमाणतर्करूपम्' अर्थात् ईश्वरके बोधक प्रमाण तथा तर्क होंगे और यह न्याय-कुसुमाञ्जलि उस 'पदयुग' अर्थात् ईश्वर साधक प्रमाण तर्कके उपोद्बलक रूपमें प्रस्तुत होनेसे 'ईशस्य पद युगे निवेशितः' अर्थात् ईश्वरके साधक प्रमाण और तर्कके परिपोषक रूपमें विरचित है।

'अनघः' विशेषण निर्दोषत्वका सूचक है। अनुमान वाक्यमें, जो यहाँ न्याय शब्दका अर्थ है, दो प्रकारके दोष सम्भव हो सकते हैं। एक शब्द दोष और दूसरे अर्थदोष या विषय दोष। इसमेंसे अनुमान वाक्यके विषय दोषोंका परिहार करनेके लिये ग्रन्थकारने श्लोकके पूर्वार्द्धमें अनेक विशेषण रखे हैं। उन विशेषणोंके द्वारा ही अर्थ दोषोंका निराकरण हो जाता है। अतएव उत्तरार्द्धके इस 'अनघः' पदका अभिप्राय शब्ददोष राहित्य सूचन करना ही है। 'अनघः' अर्थात् 'शब्ददोषरहितः

---

१. यो० १, २५। २. वेदान्त० अ० १, पा० १, सू० २।

न्यायकुसुमाञ्जलिः।' उत्तरार्द्धका शेष अर्थ प्रथम अर्थके समान ही है। श्लोकके पूर्वार्द्धमें जो अनेक विशेषण दिए गये हैं वे 'समस्तरूपोपपन्न लिङ्ग प्रतिपादक वाक्य' अर्थात् अनुमान वाक्यरूप न्यायमें आनेवाले दोषोंके निराकरणके लिये ही दिये गये हैं। इन दोषोंमें मुख्यतः पाँच प्रकारके 'हेत्वाभास' आते हैं और इन विशेषणोंसे उन हेत्वाभासोंका ही निराकरण करनेका प्रयत्न ग्रन्थकारने किया है।

इनमेंसे प्रथम विशेषण 'सत्पक्षप्रसरः' का अर्थ 'सति' अर्थात् 'प्रामाणिके' 'पक्षे सिसाधयिषितसाध्यधर्मके धर्मिणि प्रसरः प्रकर्षेण सरो ज्ञानं यस्मात्' यह होता है। इस विशेषणसे 'आश्रयासिद्ध' 'स्वरूपासिद्ध' और 'बाध' इन तीन प्रकारके हेत्वाभासोंका वारण किया है। 'आश्रयासिद्ध' हेत्वाभासका लक्षण है 'यस्य हेतोराश्रयो न विद्यते स आश्रयासिद्धः'। जिस हेतुका आश्रय अर्थात् पक्ष न हो उसको 'आश्रयासिद्ध' हेत्वाभास कहते हैं। पक्षका लक्षण 'सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः' अथवा 'सिसाधयिषितसाध्यधर्मा धर्मी पक्षः' है। अर्थात् जिसमें साध्यका सन्देह हो अथवा जहाँ साध्यकी सिद्धि की जाय उसको 'पक्ष' कहते हैं। यह 'पक्ष' ही 'हेतु'का 'आश्रय' कहा जाता है। और जिस हेतुका यह 'आश्रय' अर्थात् 'पक्ष' न हो उसको 'आश्रयासिद्ध' हेत्वाभास कहते हैं। जैसे 'गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत्'। इस अनुमानमें 'अरविन्दत्वात्' हेतु है और उसका 'आश्रय' या पक्ष 'गगनारविन्द' अर्थात् आकाश-पुष्प है। वस्तुतः आकाश-पुष्प या गगनारविन्द जैसी कोई वस्तु संसारमें नहीं है अतएव इस हेतुका 'आश्रय' असिद्ध होनेसे 'अरविन्दत्वात्' यह हेतु 'आश्रयासिद्ध' हेत्वाभास है। प्रकृतमें 'सत्पक्षप्रसरः'में 'सत्पक्ष' शब्दसे 'सति प्रमाणिके पक्षे' अर्थात् सत् प्रामाणिक पक्षमें इस अर्थके द्वारा ग्रन्थकारने इस 'आश्रयासिद्ध'का वारण कर दिया है।

दूसरा 'स्वरूपासिद्ध' हेत्वाभास है जिसका वारण इस विशेषण द्वारा किया गया है। 'यो हेतुराश्रये नावगम्यते स स्वरूपासिद्धः'। जो हेतु अपने आश्रय अर्थात् पक्षमें न पाया जाय उसको स्वरूपासिद्ध' हेत्वाभास कहते हैं। जैसे 'अनित्यः शब्दः चाक्षुषत्वात् घटवत्। यहाँ 'चाक्षुषत्वात्' हेतु है। उसका 'आश्रय' या पक्ष 'शब्द' है। परन्तु चाक्षुषत्व हेतु उस आश्रय या पक्ष रूप शब्दमें नहीं रहता है। क्योंकि शब्द चाक्षुष अर्थात् 'चक्षुर्ग्राह्य' नहीं अपितु श्रावण अर्थात् श्रोत्रग्राह्य है। इसलिए आश्रय या पक्षमें न पाए जानेके कारण चाक्षुषत्व हेतु 'यो हेतुराश्रये नावगम्यते स स्वरूपासिद्धः' जो हेतु आश्रयमें न रहे उसको 'स्वरूपासिद्ध' कहते हैं। इस लक्षणके घट जानेसे यहाँ 'चाक्षुषत्व' हेतु 'स्वरूपासिद्ध 'हेत्वाभास' कहलाता है। प्रकृतमें 'सत्पक्षप्रसरः' विशेषणसे इस 'स्वरूपासिद्ध'का वारण भी किया है। क्योंकि जो हेतु पक्षमें नहीं पाया जायगा वह साध्यको सिद्ध करनेवाला नहीं हो सकता है। इसलिए 'प्रकर्षेण सरो ज्ञानं यस्मात्' यह अर्थ उसमें नहीं

घटेगा। और जिस हेतुमें यह अर्थ घटेगा वह 'स्वरूपासिद्ध' नहीं हो सकता। इस प्रकार इस विशेषणसे 'स्वरूपासिद्ध'का वारण भी किया गया है।

'सत्पक्षप्रसरः'में 'प्रसर' शब्दका अर्थ 'प्रकर्षेण सरो ज्ञानं यस्मात्' किया है। इससे ज्ञानका जो प्रकर्ष सूचित होता है वह प्रकर्ष ज्ञानका 'अबाधित विषयत्व' ही है। अतएव इसी विशेषणसे बाध अर्थात् 'बाधितविषय' या 'कालात्यापदिष्ट' नामक हेत्वाभासका वारण भी किया है। 'बाधित विषय' हेत्वाभासका लक्षण 'प्रमाणान्तरावधृतसाध्याभावो हेतुर्बाधित-विषयः' है। अर्थात् जिस हेतुके साध्यका अभाव किसी अन्य प्रमाणसे निश्चित हो जाय वह हेतु 'बाधित-विषय' अथवा 'कालात्ययापदिष्ट' हेत्वाभास हो जाता है। जैसे 'वह्निरनुष्णः कृतकत्वात् घटवत्'। वह्नि अनुष्ण अर्थात् शीतल है कृतक अर्थात् जन्य अनित्य होनेसे घटके समान। इस अनुमानमें 'कृतकत्वात्' हेतु है। उसका साध्य 'अनुष्णत्व' है। परन्तु वह्निमें 'अनुष्णत्व'का अभाव 'उष्णत्व' त्वाच-प्रत्यक्षसे गृहीत है। अतएव प्रमाणान्तर अर्थात् त्वाच-प्रत्यक्षसे साध्य अनुष्णत्वके अभाव उष्णत्वके अवधृत निश्चित होनेके कारण 'कृतकत्वात्' हेतु 'बाधित विषय' कहलाता है। इस हेत्वाभासको नवीन आचार्य 'बाधितविषय' कहते हैं। प्राचीन न्याय-सूत्र आदिमें इसे 'कालात्यया-पदिष्ट' नामसे वर्णित किया गया है। यद्यपि उस 'कालात्ययापदिष्ट'के निरूपणमें थोड़ा भेद है। परन्तु 'बाधित-विषय'को 'कालात्ययापदिष्ट' नामसे व्यवहृत किया जाता है। इस 'बाधित-विषय'का वारण भी 'सत्पक्षप्रसरः' पदसे यहाँ किया गया है। इस प्रकार न्याय पक्षमें 'सत्पक्षप्रसरः' इस एक विशेषणसे आश्रयासिद्ध और 'स्वरूपासिद्ध' असिद्धके इन दो भेदों तथा 'बाधित-विषय' हेत्वाभासोंका वारण किया।

श्लोकमें दूसरा विशेषण 'सतां परिमलप्रोद्बोधबद्धोत्सवः' है। न्याय पक्षमें 'परिमल' शब्दका अर्थ 'परि सर्वतो भावेन मलः सम्बन्धो व्याप्तिः' किया है। 'सतां' अर्थात् विवेचक पुरुषोंको 'परिमल' अर्थात् 'व्याप्ति'के प्रोद्बोध ज्ञानसे आनन्द देनेवाला। इस अर्थसे इस विशेषण द्वारा 'व्याप्यत्वासिद्ध' 'सव्यभिचार' और 'विरुद्ध' इन तीन हेत्वाभासोंका वारण किया गया है।

१. असिद्ध, २. विरुद्ध, ३. अनैकान्तिक या सव्यभिचार, ४. प्रकरणसम या सत्प्रतिपक्ष और ५. बाधित-विषय या कालात्ययापदिष्ट इस प्रकार पाँच हेत्वाभास माने गए हैं। इनमेंसे असिद्ध हेत्वाभासके १. 'आश्रयासिद्ध', २. 'स्वरूपासिद्ध' और ३. 'व्याप्यत्वासिद्ध' यह तीन भेद हो जाते हैं। इनमेंसे 'असिद्ध'के दो भेदोंका प्रथम 'सत्पक्षप्रसरः' विशेषणसे और तीसरे 'व्याप्यत्वासिद्ध'का इससे वारण किया गया है इसके अतिरिक्त एक 'बाधितविषय'का प्रथम विशेषणसे और

'सव्यभिचार' तथा 'विरुद्ध'का इस विशेषणसे वारण हो जानेसे चार हेत्वाभासोंका वारण हो गया।

इनमेंसे 'विरुद्ध हेत्वाभासका लक्षण 'साध्यविपर्यय व्याप्तो हेतुर्विरुद्धः' है। अर्थात् जिस हेतुकी व्याप्ति साध्यके साथ न होकर साध्य-विपर्यय अर्थात् साध्याभाव के साथ हो उसको 'विरुद्ध' हेत्वाभास कहते हैं। जैसे 'शब्दो नित्यः कृतकत्वात्'। शब्द नित्य है कृतक अर्थात् जन्य होनेसे। यहाँ 'कृतकत्वात्' हेतु है और उसका साध्य 'नित्यत्व' है। परन्तु कृतकत्वकी व्याप्ति नित्यत्वके साथ नहीं अपितु उसके अभाव अनित्यत्वके साथ है। जो वस्तु कृतक या जन्य होती है वह नित्य नहीं अपितु अनित्य होती है। इस प्रकार 'कृतकत्वात्' हेतु साध्यविपर्ययके साथ व्याप्त होनेसे 'व्याप्यत्वासिद्ध' हेत्वाभास होता है। इस प्रकार व्याप्तिदोषके कारण यह 'व्याप्यत्वासिद्ध' हेत्वाभास बनता है। प्रकृतमें 'परिमल' शब्दसे 'परि सर्वतोभावेन मलः सम्बन्धः'से व्याप्ति-दोषका अभाव सूचित करने से 'व्याप्यत्वासिद्ध'-का अवसर नहीं रहता है। इस 'व्याप्यत्वासिद्ध'के भी दो भेद होते हैं एक 'व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावात्' और दूसरा 'उपाधिसद्भावात्'। 'व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावात्' व्याप्यत्वासिद्धका उदाहरण 'शब्दः क्षणिकः सत्त्वात्' यह है। यहाँ 'सत्त्वात्' हेतु है और उससे 'क्षणिकत्व' साध्य है। इनकी व्याप्ति 'यत्र यत्र सत्त्वं तत्र तत्र क्षणिकत्वं' है। इसका ग्राहक प्रत्यक्षादि कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्षादिसे तो सत् पदार्थका क्षणिकत्व नहीं अपितु स्थिरत्व प्रतीत होता है। घट पटादि जिन पदार्थोंको हम प्रत्यक्ष देखते हैं वह क्षणिक प्रतीत नहीं होते अपितु स्थिर प्रतीत होते हैं। इसलिए 'यत् सत् तत् क्षणिकम्' इस व्याप्तिका ग्राहक कोई प्रमाण न होनेसे यह 'व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावात् व्याप्यत्वासिद्ध' है। परन्तु प्रकृत 'परिमलके प्रोद्बोध' अर्थात् 'व्याप्तिके अबाधित ज्ञान'के कारण यहाँ 'व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावात् व्याप्यत्वासिद्ध'का कोई अवकाश नहीं रहता है।

'व्याप्यत्वासिद्ध'का दूसरा भेद 'उपाधिसद्भावात् व्याप्यत्वासिद्ध' है। इसका उदाहरण 'स श्यामः मैत्रीतनयत्वात् परिदृश्यमानमैत्रीतनयस्तोमवत्' यह है। यहाँ 'मैत्रीतनयत्वात्' यह हेतु है और उससे अपरिदृष्ट मैत्री-तनयमें 'श्यामत्व' साध्य है। परन्तु यह हेतु सोपाधिक है। इसमें 'शाकपाकजन्यत्व' उपाधि पाए जानेसे 'उपाधिसद्भावात् व्याप्यत्वासिद्ध' है। इसको ठीक तरहसे समझनेके लिए 'उपाधि'का लक्षण समझना चाहिए। उपाधि का लक्षण 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम् उपाधित्वम्' है। अर्थात् जो साध्यका व्यापक हो परन्तु साधनका अव्यापक हो उस धर्मको उपाधि कहते हैं। जैसे यहाँ 'मैत्रीतनयत्व' साधन या हेतु है और 'श्यामत्व' साध्य है। 'शाकपाकजन्यत्व' धर्म जो उपाधि है वह साध्य अर्थात् 'श्यामत्व'के साथ व्यापक है। अर्थात् 'यत्र यत्र श्यामत्वं तत्र तत्र शाकपाकजन्यत्वम्'। जहाँ जहाँ श्यामत्व है वहाँ वहाँ शाकपाकजन्यत्व अवश्य रहता है।

इसका आशय यह है कि बालकके गौर और श्याम वर्णका कारण गर्भावस्थामें माताका आहार है। यदि गर्भावस्थामें माता दूध दही आदि पदार्थोंका अधिक सेवन करती है तो बालक गौर वर्णका होता है। इसके विपरीत यदि माता उस अवस्थामें हरे शाक आदिका सेवन करती है तो बालकका वर्ण श्याम हो जाता है। इस प्रकार जो-जो बालक श्याम वर्ण होते हैं उनका श्यामत्व शाकादिके परिपाकसे उत्पन्न होनेसे 'शाकपाक-जन्य' ही है। अतएव 'शाकपाकजन्यत्व' धर्म साध्यका व्यापक धर्म है। परन्तु वह साधनका अव्यापक धर्म है। यहाँ 'मैत्रीतनयत्व' हेतु या साधन है। 'यत्र यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र तत्र शाकपाकजन्यत्वमिति न।' जो जो मैत्री का पुत्र हो वह अवश्य ही शाकपाक-जन्य हो यह आवश्यक नहीं है। यह हो सकता है कि 'मैत्री'ने चार पुत्रोंके गर्भमें रहते समय शाकादिका और पाँचवे पुत्रके समय दुग्धादिका सेवन किया हो। इसलिए चार पुत्र श्यामवर्ण और पाँचवाँ पुत्र गौर वर्ण हो। चार पुत्रोंके श्याम वर्णको देख कर जो पाँचवें पुत्रको जिसे देखा नहीं है श्याम वर्णका सिद्ध करनेका जो प्रयास इस 'स श्यामः मैत्रीतनयत्वात् परिदृश्यमानमैत्रीतनयस्तोमवत्' अनुमानद्वारा किया जा रहा है वह उचित नहीं है क्योंकि इसमें प्रस्तुत किया गया 'मैत्रीतनयत्वात्' हेतु सोपाधिक होनेसे 'व्याप्यत्वासिद्ध' हेत्वाभास है। 'मैत्रीतनयत्वात्' हेतुसे श्यामत्वके सिद्ध करनेमें शाकपाकजन्यत्व उपाधि है। उसमें उपाधिका लक्षण 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम् उपाधित्वम्' पूर्णरूपसे घट जाता है। क्योंकि वह साध्य अर्थात् श्यामत्वका व्यापक और साधन अर्थात् मैत्रीतनयत्वका अव्यापक धर्म है। 'यत्र यत्र श्यामत्वं तत्र तत्र शाकपाकजन्यत्वं' यह साध्यव्यापकत्व हुआ और 'यत्र यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र तत्र शाकपाकजन्यत्वम् इति न, यह साधनाव्यापकत्व हुआ। इस प्रकार उपाधिका लक्षण घट जानेसे 'शाकपाकजन्यत्व' 'उपाधि' है और उस 'उपाधि'के विद्यमान होनेसे 'मैत्रीतनयत्वात्' हेतु सोपाधिक अर्थात् उपाधिसद्भावात् व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास है। प्रकृतमें 'परिमल' शब्द सर्वतोभावेन व्याप्तिका सूचक है अत एव उसमें उपाधिका अवकाश नहीं रहता है। इस प्रकार इस विशेषणसे दोनों प्रकारके 'व्याप्यत्वासिद्ध' और 'विरोध'का वारण हुआ।

इनके अतिरिक्त सव्यभिचारका वारण भी इसी विशेषण द्वारा होता है। सव्यभिचारका दूसरा नाम 'अनैकान्तिक' भी है। अनैकान्तिक हेत्वाभास दो प्रकारका होता है। एक 'साधारणानैकान्तिक' और दूसरा 'असाधारणानैकान्तिक'। 'साधारणानैकान्तिक' उसको कहते हैं जो पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीनोंमें रहता है और 'असाधारणानैकान्तिक' उसको कहते हैं जो सपक्ष तथा विपक्ष दोनोंसे व्यावृत्त केवल पक्षमात्रमें रहता हो। पक्षका लक्षण ऊपर कर चुके हैं। सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः। जिस धर्मीमें साध्य सन्दिग्ध हो अर्थात् सिद्ध किया जाय उसको पक्ष कहते हैं।

जैसे 'शब्दोऽनित्यः' आदिमें शब्द 'पक्ष' है। 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्'में पर्वत 'पक्ष' है क्योंकि उसमें साध्य वह्निकी सिद्धिकी जा रही है। 'निश्चितसाध्यवान् सपक्षः'। जहाँ साध्य वह्नि आदि निश्चित रूपमें रहते हैं उसको 'सपक्ष' कहते हैं। जैसे वह्निवाले अनुमानमें महानस रसोईवरमें वह्नि निश्चित रूपसे रहनेके कारण वह 'सपक्ष' कहलाता है और 'निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः' जहाँ साध्यका अभाव निश्चित हो उसको 'विपक्ष' कहते हैं। जैसे उसी अनुमानमें 'महाह्रद' तालाब विपक्ष है क्योंकि उसमें अग्निका निश्चित रूपसे अभाव है।

जो शुद्ध हेतु होते हैं उनमें पञ्चरूपोंका होना आवश्यक है। १ पक्षसत्त्व, २ सपक्षसत्त्व, ३ विपक्षव्यावृतत्व, ४ अबाधितविषयत्व और ५ असत्प्रतिपक्षत्व ये पाँच धर्म प्रत्येक शुद्ध 'अन्वयव्यतिरेकी' हेतुके लिए आवश्यक हैं। जैसे धूम हेतुके पक्ष अर्थात् पर्वतमें विद्यमान होनेसे 'पक्षसत्त्व', सपक्ष अर्थात् महानसमें विद्यमान होनेसे 'सपक्षसत्त्व', और महाह्रद अर्थात् तालाबमें विद्यमान न होनेसे 'विपक्षव्यावृतत्व' रूप धर्म घट जाते हैं। चौथा 'अबाधितविषयत्व' धर्म भी स्पष्ट है। 'बाधितविषय'का स्वरूप ऊपर दिखला चुके हैं। 'प्रमाणान्तरावधृतसाध्याभावो हेतुर्बाधितविषयः'। जिस हेतुके साध्यका अभाव किसी प्रमाणसे निश्चित हो जाय उस हेतुको 'बाधितविषय' कहते हैं। इसका उदाहरण 'वह्निरनुष्णः कृतकत्वात् घटवत्' पृ० ५ पर दे चुके हैं। प्रकृत 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्' आदि अनुमानमें धूम हेतुका साध्य वह्नि है, उसका अभाव पर्वतमें किसी 'प्रमाणसे निर्धारित नहीं हुआ है इस लिए धूमवत्त्व हेतु 'अबाधितविषय' भी है। इस प्रकार धूमवत्त्व हेतुमें चौथा रूप भी घट जाता है। पाँचवें रूप 'असत्प्रतिपक्षत्व'का निरूपण आगे करेंगे। परन्तु धूमवत्त्व हेतुमें वह 'असत्प्रतिपक्षत्व' भी घट जाता है। अत एव पाँचो रूपोंसे सम्पन्न होनेके कारण धूमवत्त्व हेतु शुद्ध हेतु है।

इन पाँच रूपोंके अनुसार शुद्ध हेतुकी पक्षमें और सपक्षमें सत्ता तथा विपक्षसे व्यावृत्ति आवश्यक है। जो हेतु इसका उल्लङ्घन करता है वह दूषित हेतु या 'हेत्वाभास' कहलाता है। इनमेंसे जो विपक्ष व्यावृत्तिका उल्लङ्घन कर पक्ष, सपक्ष, विपक्ष तीनोंमें सत् होता है उसको 'साधारणानैकान्तिक' हेत्वाभास कहते हैं। जैसे 'शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात्'। इस अनुमानमें 'प्रमेयत्वात्' हेतु है। यह हेतु पक्ष अर्थात् शब्दमें पाया ही जाता है। 'सपक्ष' अर्थात् जहाँ साध्य नित्यत्वकी सत्ता निश्चित है ऐसे आकाशादिमें भी प्रमेयत्व पाया ही जाता है अत एव उसमें 'सपक्षसत्त्व' भी है और 'विपक्ष' अर्थात् जहाँ साध्य नित्यत्व का अभाव निश्चित है ऐसे अनित्य घटादि में भी 'प्रमेयत्व' पाया ही जाता है। क्योंकि शब्द आदिके समान घट आदि भी प्रमेय अर्थात् प्रमा, ज्ञानका विषय होते ही हैं। इसलिए प्रमेयत्व धर्म 'पक्ष', 'सपक्ष' और 'विपक्ष' तीनोंमें विद्यमान होनेसे 'साधारणानैकान्तिक' है।

इसीका दूसरा भेद 'असाधारणानैकान्तिक है। जहाँ हेतु विपक्षव्यावृत्तिके साथ साथ सपक्षसे भी व्यावृत्त हो जाय और केवल पक्षमें रहे उसको 'असाधारणानैकान्तिक' हेत्वाभास कहते हैं। जैसे 'भूर्नित्या गन्धवत्त्वात्' इस अनुमानमें गन्धवत्त्व हेतु है। वह पक्ष अर्थात् पृथिवीमें तो पाया जाता है क्योंकि 'गन्धवती पृथिवी' गन्धवत्त्व पृथिवीका लक्षण ही है। परन्तु पृथिवीको छोड़कर अन्य किसी नित्य पदार्थ अर्थात् सपक्ष अथवा अनित्य पदार्थ में गन्ध नहीं पाया जाता है। जल या वायुमें जो गन्धकी प्रतीति होती है वह पार्थिव परमाणुओंके सम्बन्धसे ही होती है। स्वतः जल या वायुमें गन्ध नहीं रहता। इस प्रकार गन्धवत्त्व हेतु विपक्ष व्यावृत्त होनेके साथ ही साथ सपक्षसे भी व्यावृत्त होकर केवल पक्षमात्रवृत्ति रह जाता है इस लिए वह 'असाधारणानैकान्तिक' हेत्वाभास है।

ये 'साधारणानैकान्तिक' और 'असाधारणानैकान्तिक' दोनों हेत्वाभास 'सव्यभिचार' नामसे भी कहे जाते हैं। इन दोनोंमें ही व्याप्ति-दोष रहता है यह बात उनके 'सव्यभिचार' इस नामसे ही सूचित होती है। प्रकृतमें ग्रन्थकारने 'परिमल' शब्दसे निर्दोष व्याप्तिकी सूचना दी है अत एव इस विशेषणसे इस 'सव्यभिचार'का भी वारण हो जाता है। इस प्रकार इन दो विशेषणोंसे असिद्ध हेत्वाभासके १ आश्रयासिद्ध, २ स्वरूपासिद्ध तथा ३ व्याप्यत्वासिद्ध तीनों भेदोंका २ सव्यभिचार हेत्वाभासके साधारणानैकान्तिक तथा असाधारणानैकान्तिक दोनों भेदोंका, ३ बाधितविषय और ४ विरुद्ध इन चार हेत्वाभासों का निवारण हो गया। अब केवल अन्तिम पाँचवाँ हेत्वाभास जिसे 'सत्प्रतिपक्ष' कहते हैं बच रहता है। इसके निवारणके लिए 'विम्लानो न विमर्दने' यह विशेषण रखा है।

'सत्प्रतिपक्ष' हेत्वाभासका दूसरा नाम 'प्रकरणसम' भी है। 'साध्यविपरीतसाधकं तुल्यबलं हेत्वन्तरं प्रतिपक्षः'। अर्थात् एक हेतुका जो साध्य हो दूसरा हेतु उसके विपरीत बातको सिद्ध करता हो और वे दोनों हेतु तुल्यबल हों, तो वे एक दूसरेके 'प्रतिपक्ष' कहलावेंगे। और वे दोनों हेतु 'सत्प्रतिपक्ष' नामक हेत्वाभास होंगे। जैसे एक अनुमान है 'शब्दो नित्यः, अनित्यधर्मानुपलब्धेः' इसके विपरीत दूसरा अनुमान है 'शब्दः अनित्यः, नित्यधर्मानुपलब्धेः'। पहिला अनुमान शब्दको नित्य सिद्ध करता है और दूसरा उसको अनित्य सिद्ध करता है। इन दोनोंकी सिद्धिके लिए जो हेतु दिए गए हैं वे क्रमशः 'अनित्यधर्मानुपलब्धेः' और 'नित्यधर्मानुपलब्धेः' हैं। एक हेतुका अर्थ है कि अनित्यके धर्म न पाए जानेसे शब्द नित्य है और दूसरा हेतु कहता है कि नित्यका धर्म न पाए जानेसे शब्द अनित्य है। इस प्रकार ये दोनों हेतु दो विरुद्ध बातोंको सिद्धकर रहे हैं और वे दोनों 'तुल्य बल' हैं। इस लिए वे दोनों एक दूसरेके प्रतिपक्ष भूत हैं और दोनों हेतुओंका प्रतिपक्ष विद्यमान होनेके कारण वे दोनों 'सत्प्रतिपक्ष' अथवा 'प्रकरणसम'

एषोऽनघः निर्दोषः, न्यायः समस्तरूपोपन्नलिङ्गप्रतिपादकं वाक्यं, स एव कुसुमाञ्जलिः मे चित्तं रमयतु, दुःखसामग्रीविहीनं करोतु।

अनघत्वं शब्ददोषरहितत्वं, विषयाशुद्धेः पूर्वार्द्धेनैव निरासादिति 'प्रकाशः'।

हेत्वाभास कहे जाते हैं। उन दोनोंमेंसे कोई भी अपने साध्यकी सिद्धि नहीं कर सकता है।

प्रकृतमें ग्रन्थकार ने 'विम्लानो न विमर्दने' लिखकर इस 'सत्प्रतिपक्ष' हेत्वाभासका निराकरण किया है। 'विमर्दने' अर्थात् 'विरोधिप्रमाणचिन्तायामपि न विम्लानः न कार्याक्षमः'। अर्थात् जो विरोधी प्रमाणों या हेतुओंके आनेपर भी कार्याक्षम नहीं होता अर्थात् सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास नहीं बनता है। अर्थात् विरोधी हेतुओंके तुल्यबल नहीं अपितु उनसे प्रबल होनेके कारण सदैव उनका बाधक होता है। इस प्रकार ग्रन्थकारने हेतुओं में आनेवाले दोषोंके निराकरणके लिए उपयुक्त विशेषणोंद्वारा पाँचों प्रकारके हेत्वाभासोंका निवारण कर दिया।

इस प्रकार सर्वदोष रहित और पक्षसत्त्वादि समस्त गुणोंसे युक्त ईश्वर-साधक प्रमाण और तर्कके उपोद्बलक अनुमान वाक्योंकी यह 'पुष्पाञ्जलि' जो 'अमृत' अर्थात् मोक्ष रूप 'रस' अर्थात् 'इष्यमाण' मोक्षके 'प्रस्यन्द' अर्थात् उत्पत्तिका कारण अर्थात् मोक्षजनक है वह भृङ्गके समान संसार दुःखके नाशके उपायोंको खोजनेवाले मेरे मनको दुःख रहित करे। यह न्याय पक्षमें मङ्गल श्लोकका भाव है। इसी भावको टीकाकार श्री हरिदासने अपनी टीकामें स्पष्ट रूपसे निरूपित किया है। अनुमान वाक्यमें जितने विषय दोष हो सकते हैं उनका निराकरण पूर्वार्द्धगत विशेषणोंसे ही हो गया है अत एव उत्तरार्द्धमें दिया 'अनघः' पद केवल शब्द-दोष-राहित्यका सूचक है यह कह चुके हैं।

यह अनघ अर्थात् निर्दोष। न्याय अर्थात् समस्त रूप [पक्षसत्त्वादि पञ्चरूप] से युक्त लिङ्ग [हेतु] के प्रतिपादक वाक्य [अनुमान वाक्य] वही पुष्पोंकी अञ्जलि रूप, मेरे चित्तको आनन्दित अर्थात् दुःख-सामग्रीसे रहित करे।

वेदान्त-सिद्धान्तमें परमानन्द ब्रह्म स्वरूपकी प्राप्तिका नाम मोक्ष है अत एव मोक्षमें नित्य सुख, नित्य आनन्दकी प्राप्ति होती है। परन्तु न्याय-सिद्धान्तमें 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः'[1] उस दुःखसे अत्यन्त विमुक्तिका नाम अपवर्ग है। अर्थात् दुःखाभावका नाम अपवर्ग या मोक्ष है। इसी लिए यहाँ टीकाकारने 'रमयतु'का अर्थ 'दुःखसामग्रीविहीनं करोतु' किया है। 'रमयतु'का अर्थ 'आनन्दित करे' रखनेसे न्याय-सिद्धान्तके अनुकूल नहीं पड़ता है अतः 'रमयतु'का अर्थ दुःख-सामग्रीसे रहित किया गया है। इससे मोक्षकी दुःख-प्रध्वंसरूपता सूचित होती है।]

[यहाँ] अनघत्वसे शब्ददोष-राहित्य [समझना चाहिए क्योंकि] विषयाशुद्धि

---

१. न्या. सू. अ. १, आ. १ सू. २१

अविघ्नं यथा स्यात् तथा ईशस्य 'पदयुगे' पद्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या 'पदं' प्रत्यायकं 'तद्युगं' प्रमाणतर्करूपं, तत्र 'निवेशितः' तद्विषयतया उत्पादितः। चेतः कीदृशं 'भृङ्गायमाणं' भृङ्ग इव मकरन्दे दुःखविगमोपाये सतृष्णं, 'भ्रमत्' दुःखविगमोपायमनुसन्धदत्। प्रसूनाञ्जलिसाम्यमाह–सदित्यादि। 'सता' समीचीनेन, पक्षेणानुकूलेन रविकिरणादिना, 'प्रसरो' विकासो यस्य स तथा, 'सतां' पक्षाणां दलानां विकासो यत्र स तथेति वा। सतामनुपहतघ्राणानां परिमलस्य गन्धविशेषस्य प्रोद्बोधेन साक्षात्कारेण बद्ध उत्सव आनन्दो येन सः। विमर्दने करपुटविमर्दने न विम्लानः नान्यथाभूतसंस्थानः। अमृततुल्यं रसं प्रस्यन्दते इति प्रस्यन्दः। एतादृशं 'माध्वीकं' मधु, तस्य भूरुत्पत्तिस्थानम्।

न्यायपक्षे, सति प्रामाणिके पक्षतावच्छेदकविशिष्टे इति यावत्, पक्षे सिसा-

---

[हेत्वाभासादि रूप विषय-दोषों]का खण्डन पूर्वार्द्धसे ही हो गया है यह 'प्रकाश' [उदयनकृत बड़ी न्यायकुसुमाञ्जलिकी श्री वर्धमानोपाध्याय-प्रणीत 'प्रकाश' नामक टीका]का मत है।

अविघ्न अर्थात् जिस प्रकार विघ्न-बाधा रहित हो [उस प्रकार मेरे चित्तको दुःख-सामग्रीरहित करे] परमात्माके 'पदयुग'में अर्थात् पद्यते ज्ञायते अनेन इति पदम् इस व्युत्पत्तिके अनुसार पद [शब्दका अर्थ] प्रत्यायक [बोधक है] उनका युग अर्थात् जोड़ा प्रमाण और तर्क युगल। उसमें निवेशित [का अभिप्राय] तत्परतया [प्रमाण और तर्कके उपोद्बलक रूपमें] उत्पादित [है]। चित्त, किस प्रकारके [चित्त] को। 'भृङ्गायमाण' अर्थात् जैसे भ्रमर मकरन्दके लिए सतृष्ण रहता है इस प्रकार दुःख नाशके उपाय [ज्ञान] के लिए आकुल [और] दुःख नाशके उपायको खोजते हुए [मेरे चित्तको दुःख सामग्री रहित करे।] पुष्पाञ्जलिके साथ समानताका प्रतिपादन करते हैं सदित्यादि [सत्पक्षप्रसरः इत्यादिसे]। 'सता' अर्थात् समीचीन सुन्दर, पक्ष अर्थात् अनुकूल [मित्र] सूर्यकिरण आदिसे जिस [पुष्पाञ्जलि]का विकास हुआ है। अथवा सत् अर्थात् सुन्दर पक्ष अर्थात् पङ्खुड़ियोंका विकास जिसमें हुआ है [सुन्दर विकसित पङ्खुड़ियोंसे युक्त] इस प्रकारका [पुष्पाञ्जलि]। सत् अर्थात् निर्दोष [गन्ध-ग्रहणसमर्थ] घ्राणेन्द्रियवाले पुरुषोंको 'परिमल' अर्थात् गन्धविशेषके 'प्रोद्बोध' अर्थात् ज्ञान साक्षात्कारसे 'बद्धः' अर्थात् दिया है 'उत्सव' आनन्द जिसने इस प्रकार का [पुष्पाञ्जलि]। 'विमर्दन' अर्थात् हथेलीकी रगड़ लगनेपर भी 'न विम्लानः' जिसकी आकृति बिगड़ी नहीं है [न मुर्झाई हुई पुष्पाञ्जलि] अमृतके सदृश [मधुर] रसको प्रवाहित करनेवाला, इस प्रकार माध्वीक अर्थात् मधु उसका भू अर्थात् उत्पत्तिस्थान [जो पुष्पाञ्जलि वह मेरे चित्तको दुःख सामग्री रहित करे। यह पुष्पाञ्जलि पक्षमें अर्थ हुआ]

न्याय [अनुमान वाक्य] के पक्षमें सत् अर्थात् प्रामाणिक [सन्दिग्धसाध्यवत्त्व-रूप] पक्षतावच्छेदक धर्मसे युक्त, पक्ष अर्थात् सिसाधयिषित साध्य धर्मसे युक्त धर्मी

धयिषितसाध्यधर्मके धर्मिणि, 'प्रसरः' प्रकर्षेण सरो ज्ञानं यस्मात् । एतेनाश्रयासिद्धिस्वरूपासिद्धिबाधनिरासः । 'सतां' विवेचकानां 'परि' सर्वतोभावेन 'मलः' सम्बन्धो व्याप्तिः, तस्याः 'प्रोद्बोधेन' प्रमया 'बद्ध' उत्सव आनन्दो येन । एतेन व्यभिचारव्याप्यत्वासिद्धिविरोधानां निरासः । 'विमर्दने' विरोधिप्रमाणचिन्तायां न विम्लानः न कार्याक्षमः । तेन सत्प्रतिपक्षराहित्यम् । 'अमृतं' मोक्षः, 'रस' इष्यमाणं कृद्विहित इति न्यायात्, 'प्रस्यन्द' उत्पद्यमानम् । तेन मोक्षस्यासाध्यता निराकृता । तदेव माध्वीकं, तस्य भूरुत्पत्तिस्थानम् ॥ १ ॥

[जिसमें साध्यकी सिद्धि करना इष्ट है उस धर्मी अर्थात् पक्ष]में प्रकर्षेण अर्थात् [अबाधितविषयत्व रूप] प्रकर्षसे ज्ञान जिससे होता है [ऐसा न्याय अर्थात् समस्तरूपोपपन्न अनुमान वाक्य] । इस [विशेषण] से आश्रयासिद्धि, स्वरूपासिद्धि और बाध [बाधित-विषय अथवा कालात्ययापदिष्ट नामक हेत्वाभासका] निराकरण किया । [अर्थात् जो अनुमान वाक्य इन हेत्वाभासोंसे रहित है वे ही यहाँ प्रस्तुत किए गए हैं] सतां अर्थात् विवेचकों [विद्वानों] को परि अर्थात् सर्वतोभावसे [सब प्रकारसे, पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृतत्व रूपसे] मल अर्थात् सम्बन्ध व्याप्ति उसके प्रोद्बोध अर्थात् यथार्थ ज्ञानसे उत्सव अर्थात् आनन्दको देनेवाला [जो अनुमान वाक्य] इससे व्यभिचार, व्याप्यत्वासिद्धि और विरोधका निराकरण किया । [यद्यपि इस विशेषणसे साध्याप्रसिद्धि तथा साधनाप्रसिद्धिका वारण भी होता है, परन्तु इन दोनोंको प्राचीन आचार्योंने व्याप्यत्वासिद्धके ही अन्तर्गत माना है अतः यहाँ उनका अलग उल्लेख नहीं किया गया है] 'विमर्दन' अर्थात् विरोधी प्रमाणोंका विचार करते समय जो 'म्लान' अर्थात् [प्रबल होनेके कारण] अपने कार्य [साध्यसिद्धि] में असमर्थ नहीं हुआ है [इस प्रकारका अनुमान वाक्य] इससे सत्प्रतिपक्ष [हेत्वाभास]का राहित्य [सूचित किया] । 'अमृत' अर्थात् मोक्ष । 'रस' अर्थात् इष्यमाण [कामनाका विषय जो मोक्ष] 'कृद्विहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते' इस न्यायसे । [रस शब्द 'रस्यते इति रसः' इस अर्थमें कृदन्तका प्रयोग है । व्युत्पत्तिके अनुसार रस्यते क्रिया रूप प्रतीत होता है परन्तु उक्त 'कृद्विहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते' इस न्यायके अनुसार रस शब्द द्रव्यरूप प्रतीत होता है] 'प्रस्यन्द' अर्थात् उत्पद्यमान [जो मोक्ष] इससे मोक्षकी असाध्यताका निराकरण किया । [वेदान्तमतमें मोक्ष साध्य नहीं, नित्य है । बन्ध भ्रान्ति है । न्यायमतमें मोक्ष दुःख प्रध्वंस रूप है और प्रध्वंसाभावजन्य है । इसलिए ग्रन्थकारने प्रस्यन्द शब्दको उत्पत्तिपरक रखकर मोक्षकी वेदान्ताभिमत असाध्यताका निराकरण किया है इस प्रकार कामनाका विषयभूत और उत्पद्यमान जो मोक्ष] वही माध्वीक अर्थात् मधु [शहद] उसका 'भू' अर्थात् उत्पतिस्थान [जो ईश्वर साधक प्रमाण और तर्कके उपोद्घलक रूपमें प्रस्तुत किए 'न्याय' अर्थात् अनुमानवाक्यरूप पुष्पोंकी अञ्जलि है वह मेरे चित्तको दुःख-सामग्रीसे रहित करे । यह मङ्गल श्लोकका दूसरे पक्षमें अर्थ हुआ] ॥ १ ॥

नन्वीश्वरपदयुगनिवेशितस्य न्यायस्य मोक्षरूपफलसम्बन्धे मानाभावः। तत्त्वज्ञानविषयात्मबोधकस्यात्मशब्दस्य संसारनिदानमिथ्याज्ञानविषयस्यात्ममात्रपरत्वात्। तन्मननस्यैव मोक्षोपायत्वात्। इति शङ्कायामाह—

स्वर्गापवर्गयोर्मार्गमामनन्ति मनीषिणः।
यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरूप्यते॥ २॥

स्वर्गापवर्गयोः स्वर्गतुल्ययोरपवर्गयोः, जीवन्मुक्तिपरममुक्त्योः।

इस मङ्गल श्लोकमें ईश्वरके पदयुगमें 'निवेशित' 'न्यायकुसुमाञ्जलि'को 'अमृतरसप्रस्यन्दमाध्वीकभू' अर्थात् मोक्षका उत्पादक कहा है। उसके अनुसार इन अनुमान वाक्योंद्वारा मोक्ष रूप फलकी प्राप्ति होती है। इस पर पूर्वपक्ष करते हैं—

ईश्वरके पदयुगमें निवेशित [अर्थात् ईश्वर साधक प्रमाण और तर्कके उपोद्बलक रूपमें प्रस्तुत किए गए] न्याय [अनुमान वाक्यों] के मोक्षरूप फलके साथ [जन्यजनकभाव या साध्य-साधकभाव] सम्बन्ध होनेमें कोई प्रमाण नहीं है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' और 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' इत्यादि श्रुतियोंमें जो आत्म-साक्षात्कारको मोक्षका साधक बताया है वहाँ 'आत्म' शब्द 'जीवात्मा'का बोधक है परमात्माका बोधक नहीं। क्योंकि 'जीवात्मा'के अज्ञानसे ही बन्ध है 'ईश्वर'का अज्ञान बन्धका कारण नहीं है। इसलिए 'जीवात्मा'के साक्षात्कारसे ही मोक्ष प्राप्त होता है 'परमात्मा'का साक्षात्कार मोक्षका कारण नहीं है। यह पूर्व पक्षका आशय है। [तत्त्वज्ञानके विषयभूत 'आत्मा'के बोधक 'आत्म' शब्दके संसार [जन्ममरणादि]के हेतुभूत मिथ्याज्ञानके विषयभूत 'आत्मा' [जीवात्मा] मात्रके बोधक होनेसे और उसी [जीवात्मा]के मननके मोक्षोपाय होनेसे। [ईश्वरके पदयुगमें निवेशित न्याय अर्थात् ईश्वरसाधक प्रमाण तर्कके उपोद्बलक रूपमें प्रस्तुत किये गये प्रकृत अनुमान वाक्यों और उनकेद्वारा किये गये ईश्वर मननके मोक्ष जनक होनेमें कोई प्रमाण नहीं है]। इस आशङ्काके होनेपर [उसके निवारणार्थ, अगली कारिका] कहते हैं—

विद्वान् लोग जिसकी उपासनाको स्वर्ग तुल्य दो [जीवन्मुक्ति और परममुक्ति रूप दो प्रकारके] अपवर्गोंका मार्ग बताते हैं उसी परमात्माका यहाँ [इस ग्रन्थमें] निरूपण किया जा रहा है।

'स्वर्गापवर्गयोः' [का अर्थ स्वर्ग और अपवर्गका नहीं अपितु] स्वर्गतुल्य दोनों अर्थात् जीवन्मुक्ति और परममुक्तिका [मार्ग बताते हैं]।

मीमांसा दर्शनमें स्वर्गको पुरुषार्थ माना है। यह स्वर्ग मीमांसा प्रतिपादित यागादि कर्मकाण्डका फल है। उसकी प्राप्तिका कारण मनन या 'ज्ञान' नहीं अपितु 'कर्म' है। इसलिए यहाँ 'स्वर्गापवर्गयोः'का अर्थ स्वर्ग और अपवर्ग नहीं

ईश्वरमननं चादृष्टद्वारा स्वात्मसाक्षात्कारद्वारा वा मुक्तौ हेतुः।
'तमेवविदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'

किया है अपितु स्वर्गतुल्य अपवर्ग किया है। अपवर्गमें स्वर्ग तुलयता प्रतिपादन करने का अभिप्राय उसके उत्कट इच्छाविषयत्व और जन्यत्वको सूचित करना है। अर्थात् मोक्ष उत्कट इच्छाका विषय है उसकी प्राप्तिके लिये मनुष्यकी प्रबल इच्छा होती है और वह जन्य है। यह दोनों बातें न्यायाभिमत मोक्ष-स्वरूपमें वेदान्ताभिमत मोक्षके स्वरूपसे भेद प्रदर्शित करनेके लिये सूचित की हैं। उनके यहाँ मोक्ष न जन्य और न इच्छाका विषय है। मोक्षको इच्छाका विषय माननेसे उसके प्रति राग होगा और राग ही तो बन्धनका हेतु है अतः राग रहते मोक्ष नहीं हो सकता है। इस कारण वेदान्तमतमें मोक्ष न जन्य है और न इच्छाका विषय। यह मोक्ष दो प्रकारका है। एक 'जीवन्मुक्ति' और दूसरा 'परममुक्ति' कहलाता है। तत्त्वज्ञान द्वारा मिथ्याज्ञानका नाश हो जानेपर प्रारब्धवश साधकका शरीर कुछ समय बना रहता है। यह जो मिथ्याज्ञान वासना-रहित जीवन है उसीको जीवन्मुक्ति कहते हैं और प्रारब्धके समाप्त होनेपर शरीरपातके बाद परममुक्ति होती है। यही इन दोनोंका अन्तर है।

अभी पूर्व पक्षकी शङ्का प्रस्तुत करते हुए कहा था कि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' आदि श्रुतियोंमें जहाँ आत्मदर्शनको मोक्षका साधन बताया है वहाँ आत्मशब्द जीवात्मा परक है। तब ईश्वर मनन मोक्षका साधन कैसे होगा। इस शङ्काका समाधान दो प्रकार से करते हैं—

ईश्वर मनन अदृष्टद्वारा अथवा आत्मसाक्षात्कार द्वारा मोक्षका हेतु होता है। [यदि ईश्वर मननको स्वयं अदृष्टोत्पादनद्वारा मोक्षका कारण होता है इस विषयमें 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' यजुः ४० तथा श्वे० उ० [अर्थात् उस परमातमाको जान कर ही मृत्युका अतिक्रमण कर अमृतत्वरूप मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है। इसके अतिरिक्त मृत्युसे पार जानेका और कोई मार्ग नहीं है।] यह श्रुति उस [ईश्वरमनन]के मोक्षहेतुत्वमें प्रमाण है।

'तमेव विदित्वा' इत्यादि श्रुति यजुर्वेद के ४० वें अध्यायमें आई है। इस अध्यायका प्रारम्भ

'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥'

इस मंत्रसे होता है। इस प्रथम मंत्रमें स्पष्टरूपसे ईश्वरका उल्लेख है अतएव उसके बाद आए हुए 'तमेव विदित्वा' इस मंत्रमें सर्वनाम 'तम्'से उस 'ईश्वर'का ही ग्रहण हो सकता है। इस प्रकार ईश्वरका साक्षात्कार ही मोक्षका हेतु हो सकता है यही इस मंत्रका अर्थ है। अत एव शङ्का करते हुए जो कहा गया था कि

इति श्रुतिस्तत्कारणत्वे मानम् । स्वात्मसाक्षात्कारस्य मोक्षहेतुत्वे मानञ्च

'यदात्मानं विजानीयादहमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय संसारमनुसंसरेत्' ॥ इति ॥ २ ॥

इह यद्यपि यं कमपि पुरुषार्थमर्थमानाः शुद्धबुद्धस्वभाव इत्यौपनिषदाः, आदिविद्वान् सिद्ध इति कापिलाः, क्लेश-

ईश्वरमनन मोक्षका हेतु हो सकता है इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इस शङ्काका समाधान हो जाता है। क्योंकि 'तमेव विदित्वा' आदि श्रुतिमें स्पष्ट ही ईश्वरमननको मोक्ष-साधन बताया है। यह ईश्वरमनन कहीं अदृष्टको उत्पन्न करके मोक्षका हेतु होता है और कभी आत्मसाक्षात्कारद्वारा मोक्षका हेतु होता है। अर्थात् ईश्वर-मननसे आत्मसाक्षात्कारकी योग्यता प्राप्त होती है। उसकेद्वारा जीवात्मा अपने स्वरूपका साक्षात्कार करता है इस प्रकार आत्म-साक्षात्कार भी मोक्षका साधन होता है।

अपने आत्मा [जीवातमा] का साक्षात्कार [भी] मोक्षका साधन होता है इस विषयमें 'यदात्मानं विजानीयात्' इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति प्रमाण है।

[इस श्रुतिका अर्थ यह है कि जब पुरुष अपने स्वरूपको समझ ले कि मैं यह हूँ तो फिर किस वस्तुकी इच्छासे और किस कामनासे इस संसारमें आए। अर्थात् आत्मसाक्षात्कारके बाद संसारमें आनेका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है। इस प्रकार ईश्वरका साक्षात्कार और अपने आत्मा अर्थात् जीवात्माका साक्षात्कार यह दोनों ही मोक्षके साधन होते हैं। इस लिए ईश्वरमनन भी मोक्षका साधन होता है। इति कारिकार्थकी समाप्तिका सूचक है] ॥ २ ॥

श्री हरिदासने 'इह यद्यपि'से लेकर 'तत्साधकप्रमाणाभावाच्चेति' तकका सारा भाग श्री उदयनाचार्यकृत बड़ी 'न्यायकुसुमाञ्जलि'से ही उद्धृत कर दिया है। अत-एव उसको यहाँ मूल कारिका वाले टाइपमें मुद्रित किया गया है।

यहाँ [इस विचार प्रसङ्गमें, 'भगवति भवे सन्देह एव कुतः' के साथ अन्वय है। सभी लोग किसी न किसी रूपमें परमात्माको मानते हैं, इसलिए उसके विषयमें कोई सन्देह ही नहीं है फिर उसका निरूपण ही क्या करना, ऐसा सम्बन्ध समझना चाहिए।] यद्यपि [स्वाभिमत मोक्षादि] जिस किसी भी पुरुषार्थको चाहने वाले [जिस ईश्वरकी उपासना करते हैं यह वाक्यार्थ मूलमें आए हुए 'औपनिषदाः' आदि सबके साथ सम्बद्ध समझना चाहिए।] शुद्ध अर्थात् अद्वितीय, बुद्ध अर्थात् स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप [ब्रह्मके सजातीय विजातीय स्वगत भेद शून्य अद्वितीय रूप होनेसे उसमें पर प्रकाश्यत्व सम्भव न होनेसे उसको स्वप्रकाश या ज्ञानस्वरूप कहा है। यह सर्व वेदान्ति साधारण रूप है।] इस रूपमें औपनिषद् [वेदान्ती ईश्वरको मानते हैं।], आदि विद्वान् [अर्थात् प्रथमतः स्वभावतः चेतन न कि प्रकृतिके सम्बन्धसे औपाधिक ज्ञानवान् इस प्रकार

कर्मविपाकाशयैरपरामृष्टो निर्माणकायमधिष्ठाय सम्प्रदाय-प्रद्योतकोऽनुग्राहकश्चेति पातञ्जलाः, लोकवेदविरुद्धैरपि निर्लेपः स्वतंत्रश्चेति महापाशुपताः, शिव इति शैवाः, पुरुषोत्तम इति वैष्णवाः, पितामह इति पौराणिकाः, यज्ञपुरुष इति याज्ञिकाः, सर्वज्ञ इति सौगताः, निरावरण इति दिगम्बराः, उपास्यत्वेन देशित इति मीमांसकाः, लोकव्यवहारसिद्ध इति चार्वाकाः, यावदुक्तोपपन्न इति नैयायिकाः, किं बहुना यं कारवोऽपि विश्वकर्मेत्युपासते, तस्मिन्नेवं जातिगोत्रप्रवरचरणकुलधर्मा-

---

का अर्थ भी आदि विद्वान्‌का हो सकता है परन्तु यह अर्थ सभी पुरुषोंमें घट सकता है। उससे ईश्वरकी विशेषता सूचित नहीं होती इस लिए अन्य प्रकारसे] सृष्टिके आदिमें चिद्रूप और सिद्ध अर्थात् अष्टविध ऐश्वर्ययुक्त, इस रूपमें कपिलके अनुयायी [सांख्या-नुयायी ईश्वरको मानते हैं] [अविद्यादि] क्लेश [धर्माधर्मरूप] कर्म [जाति आयु भोग रूप त्रिविध] विपाक और [आशेरते फलपर्यन्तमिति आशयाः, धर्माधर्मसंस्कार-रूप] आशयसे अपरामृष्ट तथा [सृष्टिके आरम्भमें अपने अलौकिक सामर्थ्यसे अनेक] निर्माणशरीरोंका अधिष्ठान कर सम्प्रदाय अर्थात् वेद [सम्प्रदीयते गुरुणा शिष्यायेति सम्प्रदायो वेदः]को प्रकाशित करनेवाले और [घट पट आदिके निर्माणकी शिक्षा द्वारा] अनुग्राहक इस रूपमें पातञ्जल [योगानुयायी ईश्वरको मानते हैं], लोक-विरुद्ध [सर्प कपाल आदि धारण] तथा वेदविरुद्ध [ब्रह्महनन आदिके कर्मोंसे युक्त होनेपर भी, इत्थं भूतलक्षणेसे तृतीया है।]से भी निर्लेप [पापादिरहित] और स्वतंत्र [जगत्कर्ता] इस रूपमें महापाशुपत [शैवसम्प्रदाय विशेषके माननेवाले ईश्वरको मानते हैं], [त्रिगुणातीत, निस्त्रैगुण्य रूप] शिव इस रूपमें शैव, पुरुषोत्तम रूपमें वैष्णव, पितामह रूपमें पौराणिक, यज्ञपुरुष रूपमें [यज्ञमें प्रधान रूपसे इज्य, पुरुष] इस रूपमें याज्ञिक, सर्वज्ञ [बौद्ध क्षणिकत्ववादी हैं और वह 'सर्वज्ञः सुगतो बुद्धः' आदि कोशके अनुसार बुद्धको सर्वज्ञ मानते हैं। इसलिए सर्वज्ञका अर्थ यहाँ क्षणिकसर्वज्ञ किया गया है] रूपमें सौगत [बौद्ध], आवरण [अर्थात् अविद्यादि]से रहित रूपमें दिगम्बर [जैन], उपास्यत्वेन कथित [मंत्रदेवतादि जो केवल श्रुतिविहितस्तुति तथा हविर्ग्राहक है सर्वज्ञत्व सर्वकर्तृत्वादि धर्मोंसे युक्त नहीं] इस रूपमें मीमांसक, लोकव्यवहारसिद्ध [लोकव्यवहारसिद्धो राजा परमेश्वरः] रूपमें चार्वाक, इन सबमेंसे जो जो युक्तिसङ्गत हैं उनसे युक्त इस रूपमें नैयायिक, और अधिक क्या कहें कारीगर [राज, बढ़ई, आदि शिल्पी] भी विश्वकर्मा रूपमें जिसकी उपासना करते हैं, इस प्रकार जाति [ब्राह्मणत्वादि], गोत्र [कूटस्थ ऋषि नामसे प्रवृत्त काश्यप आदि]

दिवदासंसारं सुप्रसिद्धानुभावे भगवति भवे सन्देह एव कुतः, किं निरूपणीयं तथापि—

न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक् ।
उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता ॥ ३ ॥

श्रुतो हि भगवान् बहुशः श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिषु, इदानीं मन्तव्यो भवति, 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति श्रुतेः ।

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥
इति स्मृतेश्च ।

प्रवर [ऋषय एव यज्ञे व्रियमाणाः प्रवराः—यज्ञमें वरण किए जानेवाले ऋषि] चरण [बाह्वृच आदि अवान्तर जाति रूप] शाखा और कुल-धर्म आदिके समान समस्त संसारमें प्रसिद्ध प्रभाववाले [भवत्यस्माज्जगदिति भवः] जगन्निर्माता उस परमात्माके विषयमें सन्देह ही कहाँ है [जो उसके अनुमान आदि द्वारा सिद्ध करनेकी आवश्यकता हो] और उसके विषयमें क्या निरूपण करना है ? [अर्थात् कुछ निरूपण करना नहीं है] फिर भी—

परमात्माकी इस न्याय [अनुमान आदिद्वारा] चर्चा [के रूपमें] हम श्रवणके बाद प्राप्त मनन [श्रोतव्यो मन्तव्यः] रूप उपासना ही कर रहे हैं ।

श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदिमें अनेक बार और अनेक प्रकारसे परमात्माका श्रवण कर चुके हैं । 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इत्यादि श्रुति और 'आगमेनानुमानेन' इत्यादि स्मृतिसे ।

आगम अर्थात् श्रुतिसे श्रवण, अनुमान अर्थात् आगमाविरोधी युक्ति तथा अनुमानादिद्वारा मनन और योगशास्त्र प्रदर्शित मार्गसे निदिध्यासन ध्यान करनेसे तीन प्रकारसे ज्ञानको परिमार्जित करके उत्तम योग समाधिजन्य आत्मसाक्षात्कार परमात्मसाक्षात्कारको प्राप्त करता है ।

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः ।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः ॥

के अनुसार अब [श्रवणके बाद] उसका मनन करना चाहिए ।

तीसरी कारिकाका उपर्युक्त गद्यपद्यात्मक भाग टीकाकारने मूल कुसुमाञ्जलिसे उद्धृत किया था आगे टीकाकार, उदयनाचार्यके उस भागमें आए विशेष शब्दोंकी

शुद्धो द्वितीयरहितः। बुद्धो बोधस्वरूपः। आदौ सर्गादौ विद्वान् चिद्रूपः। सिद्धः अष्टविधैश्वर्यवान्। अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः। कर्म-धर्माधर्महेतुर्यागहिंसादिः। विपाकाः जात्यायुर्भोगाः। धर्माधर्मा आशयाः। निर्माणार्थं कायो निर्माणकायः। सम्प्रदायो वेदः। प्रद्योतको इति प्रकाशकः। वेदस्य नित्यत्वात। घटादौ कर्तव्ये अनुग्राहकः शिक्षयिता। शिवो निस्त्रैगुण्यः। पितामहः जनकस्यापि जनकः। इज्यते इति यज्ञः। सर्वज्ञः क्षणिकसर्वज्ञः। आवरणमविद्यारागद्वेषमोहाभिनिवेशाः उपास्यत्वेन देशितो मन्त्रादिः। याव-दुक्तेषु यदुपपन्नं तेनोपपन्नः। चरणं शाखा।

व्याख्या करते हैं। प्रायः ऊपर मूल भागके अनुवादके प्रसंगमें इस व्याख्याका अर्थ दिखाया जा चुका है। वही आगे दिखाते हैं।

शुद्ध अर्थात् द्वितीयरहित [अद्वितीय, एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म] 'बुद्ध' अर्थात् बोध-स्वरूप। 'आदौ' अर्थात् सर्गादौ सृष्टिके आरम्भमें, विद्वान् अर्थात् चिद्रूप। 'सिद्धः' अर्थात् अष्टविध [अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व रूप] ऐश्वर्ययुक्त। [1]अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं। कर्म अर्थात् धर्म और अधर्मका हेतुरूप याग तथा हिंसादि। [धर्मका हेतुभूत याग तथा अधर्मका हेतुभूत हिंसादि] विपाक अर्थात् [2]जाति, आयु तथा भोग [त्रिविध कर्म फल।] आशय अर्थात् धर्म और अधर्म। [आशेरते फलपर्यन्तमिति आशयाः—जो फल-पर्यन्त पड़े रहते हैं उन धर्म और अधर्मको आशय कहते हैं।] निर्माण [सृष्टिके प्रारम्भ में वेदोंका ज्ञान देने तथा घट, पट आदिके निर्माणके लिए विविध कलाओंकी शिक्षा देने] के लिये निर्मित शरीर 'निर्माणकाय' कहलाता है। सम्प्रदाय अर्थात् वेद [गुरुणा सम्प्र-दीयते शिष्याय इति सम्प्रदायो वेदः] प्रद्योतकः अर्थात् प्रकाशक [न कि निर्माता। वेद नित्य है सृष्टिके आरम्भमें परमात्मा उसका उपदेश देता है] वेदके नित्य होनेसे। अनुग्राहक अर्थात् घटादिके निर्माणकी शिक्षा देनेवाला। शिव अर्थात् त्रिगुणातीत। पितामह अर्थात् पिताका भी पिता[3]। जिसका यजन-पूजन किया जाय वह 'यज्ञ' है। सर्वज्ञ अर्थात् क्षणिक सर्वज्ञ [बौद्ध क्षणिकत्ववादी हैं अतः उनका सर्वज्ञ भी क्षणिक सर्वज्ञ ही हो सकता है। नित्य सर्वज्ञ तो नैयायिक आदिका ईश्वर ही हो जायगा। जिसे बौद्ध नहीं मानते] आवरण अर्थात् अविद्या, राग, द्वेष, मोह और अभिनिवेश। उपास्य-त्वेन निर्दिष्ट अर्थात् मन्त्रादि [या देवतादि जो केवल स्तुति और हविर्दानके निमित्त है। सर्वज्ञत्व सर्वकर्तृत्व आदि विशिष्ट नहीं। अन्यथा वह नैयायिक आदिका ईश्वर ही ठहरेगा] इनमेंसे जो जो विशेषण युक्ति सङ्गत हैं उनसे युक्त। [अथवा पूर्वोक्त समस्त गुणों से युक्त यह व्याख्या भी हो सकती है। इस व्याख्यासे सब दर्शनोंका समन्वयपरक व्याख्यान अपेक्षित होगा] चरण अर्थात् [कठ कलापादि] शाखा ॥

---

१. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः। (यो० पा० १ सू०)

२. सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। (यो० पा० २ सू० १३)

३. स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। (यो० १, २६।)

ईश्वरविषयक यह 'न्याय-चर्चा' अर्थात् अनुमानद्वारा ईश्वर-सिद्धिका कुसुमाञ्जलिप्रणयन रूप यह प्रयास 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इत्यादि श्रुतिके अनुसार श्रवणके बाद प्राप्त मननरूपमें किया जा रहा है। यह अभी कहा है। यहाँ प्रश्न यह होता है कि जिन श्रुति वाक्योंके आधार पर ईश्वरका श्रवण किया गया है उनमें ईश्वरका पूर्णरूपसे विवेचन हो चुका है और उन श्रुतियोंके द्वारा ही ईश्वर ईश्वरके स्वरूपादि का पूर्ण ज्ञान भी हमको प्राप्त हो चुका है। अत एव ईश्वरके विषयमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है। तब सन्देहके बिना अनुमान की प्रवृत्ति कैसे होगी। क्योंकि न्यायसूत्रोंके भाष्यकार वात्स्यायनने लिखा है "नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते किं तर्हि संशयितेऽर्थे[1]"। अर्थात् सर्वथा अज्ञात अथवा सर्वथा निर्णीत अर्थमें न्याय अर्थात् अनुमानकी प्रवृत्ति नहीं होती है अपितु संशयित अर्थमें ही न्याय, अनुमानकी प्रवृत्ति होती है। यहाँ शब्दप्रमाणसे ईश्वरकी सिद्धि हो चुकी है तब इस शाब्दसिद्धिके रहते हुए अनुमान की प्रवृत्ति कैसे होगी। यह प्रश्न है।

इसका समाधान यह है कि सिद्धि अर्थात् साध्यका ज्ञान न तो स्वयं अपना विरोधी है कि एक बार साध्यका ज्ञान हो जानेपर दुबारा फिर उस साध्यका ज्ञान न हो सके। क्योंकि धारावाहिक बुद्धिस्थल में एक ज्ञान अनेक बार होता ही है। इसलिए एक बार साध्यज्ञान होनेपर भी प्रकारान्तरसे उसका दुबारा ज्ञान हो सकता है। और इसी प्रकार यह साध्यज्ञान अनुमितिका भी साक्षात् विरोधी नहीं है क्योंकि शब्द आदि अन्य प्रमाणोंसे अधिगत अर्थका भी अनुमान प्रमाणसे ज्ञान होता है। इसी से भाष्यकार वात्स्यायनने "किं प्रमाणानि प्रमेयमभिसम्प्लवन्ते उत व्यवतिष्ठन्ते"[2] अर्थात् क्या प्रमाण अभिसम्प्लवद्वारा अर्थात् अनेक प्रमाण एक साथ मिलकर अर्थकी सिद्धि करते हैं अथवा व्यवस्थासे अर्थात् एक प्रमाण एक ही अर्थ की सिद्धि करता है यह प्रश्न उठाकर उसके समाधानमें दोनों ही पक्ष स्थिर किये हैं। अर्थात् कहीं एक ही प्रमाण एक अर्थको सिद्ध करता है और कहीं एक अर्थ अनेक प्रमाणोंसे भी सिद्ध हो सकता है। भाष्यकार का लेख इस प्रकार है—

"किं पुनः प्रमाणानि प्रमेयमभिसम्प्लवन्ते उत व्यवतिष्ठन्ते? इत्युभयथादर्शनम्। अस्त्यात्मेत्याप्तोपदेशात् प्रतीयते, तत्रानुमानम् इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति। प्रत्यक्षं युञ्जानस्य योगसमाधिजमात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मा प्रत्यक्ष इति। अग्निराप्तोपदेशात् प्रतीयते अत्राग्निरिति। प्रत्यासीदता धूमदर्शनेनानुमीयते, प्रत्यासन्नेन च प्रत्यक्षत उपलभ्यते।

व्यवस्था पुनः 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'[3] इति। लौकिकस्य स्वर्गे न लिङ्गदर्शनं न प्रत्यक्षम्। स्तनयित्नुशब्दे श्रूयमाणे शब्दहेतोरनुमानम्। तत्र न प्रत्यक्षं

१. न्याय भाष्य अ० १ आ० १ सू०   २. न्या० अ० १, आ० २ सू०

३. मैत्रा० उप०, ३६

नागमः। पाणौ प्रत्यक्षत उपलभ्यमाने नानुमानं नागम इति। सा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा। जिज्ञासितमर्थमाप्तोपदेशात् प्रतिपद्यमानो लिङ्गदर्शनेनापि बुभुत्सते। लिङ्गदर्शनेनानुमितं च प्रत्यक्षतो दिदृक्षते। प्रत्यक्षत उपलब्धेऽर्थे जिज्ञासा निवर्तते। पूर्वोक्तमुदाहरणमग्निरिति। प्रमातुः प्रमातव्येऽर्थे प्रमाणानां सङ्करोऽभिसम्प्लवः। असङ्करो व्यवस्थेति।[1]"

इस भाष्यके उद्धरणका अर्थ यह है कि [प्रश्न] क्या प्रमाणोंका प्रमेयमें 'अभिसम्प्लव' होता है अथवा 'व्यवस्था' होती है? 'प्रमाताके प्रमातव्य अर्थमें प्रमाणोंके सङ्करको 'अभिसम्प्लव' कहते हैं और असङ्करको 'व्यवस्था' कहते हैं। [उत्तर] दोनों प्रकार देखे जाते हैं। आत्मा है यह बात आप्तोदेश या शब्दप्रमाणसे ज्ञात होती है। उस आत्माकी सिद्धिमें अनुमान भी होता है जैसा कि 'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति'[2] इस सूत्रमें दिखाया है। और समाधिस्थ योगियोंको आत्मा और मनके संयोग विशेषसे आत्माका योगसमाधिज प्रत्यक्ष भी होता है। इसी प्रकार लौकिक उदाहरण अग्निका है। अग्निका ज्ञान आप्तोपदेशसे होता है कि यहाँ अग्नि है। उसके बाद उस अग्निके पास जाता हुआ पुरुष धूम-दर्शनसे उसका अनुमान भी करता है और उसके समीप पहुँचकर वह उसको प्रत्यक्ष भी देख लेता है। इस प्रकार इन दोनों उदाहरणोंमें प्रमाणोंका सङ्कर अर्थात् 'अभिसम्प्लव' दिखाई देता है। अनेक प्रमाणोंसे एक अर्थकी सिद्धि होती है।

व्यवस्था अर्थात् असङ्करका उदाहरण 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'[3] है। लौकिक पुरुष स्वर्गको न प्रत्यक्षसे जान सकता है न अनुमानसे। उसका ज्ञान केवल शब्दसे होता है। मेघका शब्द सुनकर उस शब्दके कारण मेघका अनुमान होता है। कमरेके भीतर बैठे पुरुषको उस मेघका न प्रत्यक्ष ज्ञान है और न आप्तोपदेश से। उसका ज्ञान केवल अनुमानसे होता है। अपने हाथको प्रत्यक्षसे देखते हैं उसमें न अनुमान प्रमाण है और न आप्तोपदेश। वह केवल प्रत्यक्षसे गृहीत होता है। यह व्यवस्था पक्ष हुआ जिसमें केवल एक ही प्रमाणसे अर्थकी सिद्धि होती है।

यह सब ज्ञान प्रत्यक्ष पर है। जिज्ञासित अर्थको आप्तोपदेशसे जान लेने पर भी लिङ्गदर्शनसे अनुमान द्वारा भी जाननेकी इच्छा होती है। और लिङ्गदर्शनसे अनुमित अर्थको भी प्रत्यक्ष देखनेकी इच्छा होती है। परन्तु अर्थका प्रत्यक्ष हो जानेपर जिज्ञासा शान्त हो जाती है। पूर्वोक्त अग्नि ही इसका उदाहरण है।

इस भाष्यके अनुसार शब्दप्रमाणसे ईश्वरकी सिद्धि होनेपर भी अनुमानद्वारा उसकी सिद्धिमें कोई बाधा नहीं है। इसी भावको प्रकृतमें टीकाकारने 'शाब्दसिद्धावपि' अर्थात् शब्दप्रमाणसे ईश्वरकी सिद्धि रहनेपर भी 'अनुमित्सयानुमितेः'

१. न्यायदर्शन १, १ वात्स्यायन भाष्य। २. न्या० १, १, १०
३. मैत्रायणी उप० ६, ३६।

अनुमानद्वारा उसको सिद्ध करनेकी इच्छा रहनेसे उसकी अनुमिति हो सकती है इसलिए 'संशयासत्वं न दोषाय'। ईश्वरके विषयमें संशयका न होना अनुमानका बाधक नहीं है। संशयके अभावसे ईश्वरकी सिद्धि अनुमितिमें कोई दोष नहीं है। इसलिए श्रवण अर्थात् शब्दप्रमाणसे ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करनेके बाद मननेच्छासे न्यायचर्चा अर्थात् अनुमानद्वारा उसकी सिद्धि करनेका प्रयत्न उचित ही है। उसमें कोई बाधा नहीं है।

श्री उदयनाचार्य और उनके टीकाकारोंने इसी विषयको दूसरे-अपेक्षाकृत कठिन-ढंगसे प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि साधारणतः संशय ही अनुमानका प्रवर्तक है। परन्तु जहाँ संशय न हो, साध्यका ज्ञान हो वहाँ भी यदि अनुमान-द्वारा उस अर्थको सिद्ध करनेकी इच्छा 'सिसाधयिषा' या 'अनुमित्सा' हो तो अनुमान होता हुआ देखा जाता है। और जहाँ सिसाधयिषा न हो संशय हो वहाँ भी अनुमानकी प्रवृत्तिका अवसर है। जहाँ सिसाधयिषा और संशय दोनों हो वहाँ तो अनुमान होता ही है। परन्तु जहाँ सिसाधयिषा और संशय दोनोंका अभाव हो अर्थात् न साध्यके विषयमें संशय हो और न उसके सिद्ध करनेकी इच्छा हो वहाँ अनुमानकी प्रवृत्तिका कोई अवसर नहीं है। इस प्रकार सिसाधयिषा या अनुमित्सा और सिद्धि या साध्यज्ञानके योगकी चार अवस्थाएँ बनती हैं उनमेंसे तीन अवस्थाओं में अनुमानकी प्रवृत्ति हो सकती है केवल एक अवस्थामें अनुमान प्रवृत्त नहीं होता है। अनुमानकी प्रवर्तक तीन अवस्थायें हैं—१. सिसाधयिषा और सिद्धि दोनोंका अस्तित्व। २. सिसाधयिषाका अस्तित्व और सिद्धिका अभाव। ३. सिसाधयिषा और सिद्धि दोनोंका अभाव। इस अवस्थामें सिद्धिका अभाव होनेसे अनुमानप्रवृत्तिका अवसर रहता है। ४. चौथी स्थिति सिसाधयिषाका अभाव और सिद्धिका अस्तित्व है। इस स्थितिमें अनुमानकी प्रवृत्तिका कोई अवसर नहीं है। क्योंकि सिद्धिका अस्तित्व होनेसे साध्यका ज्ञान है ही। और उसको प्रकारान्तरसे अनुमान-द्वारा सिद्ध करनेकी इच्छा नहीं है इसलिए अनुमानके प्रवृत्त होनेका कोई अवसर नहीं है।

इस बातको अनुमान प्रक्रियामें साध्यके आश्रयभूत पक्षको ध्यानमें रखते हुए यों कहेंगे कि पक्षका लक्षण केवल 'सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः' इतना नहीं है अपितु उसके साथ 'सिसाधयिषा'को भी जोड़ना चाहिये। अर्थात् जिसमें साध्यका सन्देह अर्थात् साध्यकी सिद्धिका आभव हो और उसके साथ 'सिसाधयिषा' सिद्ध करनेकी इच्छा भी हो वहाँ अनुमान होता है इसलिए वह पक्ष है ऐसा कहना चाहिए। अर्थात् 'सिसाधयिषाविशिष्टसिद्ध्यभाववान् पक्षः' ऐसा पक्षका लक्षण करना चाहिए। इसीलिए प्रारम्भ में 'सिसाधयिषितसाध्यधर्मा धर्मी पक्षः' यह पक्षका लक्षण किया गया है। परन्तु भाष्यकारने ऊपरमें 'स्तनयित्नुशब्दे श्रूयमाणे' आदिमें घनगर्जितसे

अनुमानका जो उदाहरण दिया था उसमें कमरेके भीतर बैठे व्यक्तिको न तो उस मेघके अस्तित्वका ज्ञान है, और न 'सिसाधयिषा' अर्थात् उसके सिद्ध करनेकी इच्छा ही है। वह तो व्यापारान्तरमें अपने काममें लीन है। अकस्मात् मेघका शब्द उसको सुनाई दे जाता है और उसको सुनकर वह मेघका अनुमान कर लेता है। यहाँ अनुमान होता है अतएव पक्ष होना ही चाहिए। पक्षका लक्षण 'सिसाधयिषाविशिष्टसिद्ध्यभाववान् पक्षः' किया था। परन्तु यहाँ 'सिसाधयिषा' तो है नहीं इसलिए पक्षका लक्षण नहीं घट सकता है। अतः पक्षके न बनने से अनुमान नहीं हो सकता है। इस दोष के परिहारके लिए पक्षके लक्षणका और परिमार्जन कर 'सिसाधयिषाविरह-विशिष्टसिद्ध्यभावः पक्षता'। यह पक्षताका लक्षण किया गया है। और इसको अनुमानका प्रवर्तक माना गया है। इस लक्षणमें विशेषण और विशेष्य दो भाग हैं। 'सिसाधयिषाविरह' यह विशेषण अंश है और 'सिद्ध्यभाव' विशेष्य अंश है। जहाँ इन दोनों अंशोंसे युक्त 'विशिष्ट सामग्री' पाई जाती है वहाँ अनुमान हो सकता है और जहाँ इस 'विशिष्ट सामग्री'का अभाव हो वहाँ अनुमान प्रवृत्त नहीं हो सकता है। घन-गर्जनके उपर्युक्त उदाहरणमें 'सिसाधयिषाविरह'रूप विशेषण अंश भी पाया जाता है और 'सिद्ध्यभाव'रूप विशेष्य अंश भी है इसलिए वहाँ अनुमान प्रवृत्त हो सकता है। इस प्रकार 'सिसाधयिषाविशिष्टसिद्ध्यभाववान् पक्षः' इस लक्षण-के रखनेपर घनगर्जितवाले उदाहरणमें जो अनुमानकी अप्रवृत्तिरूप दोष आया था वह अब 'सिसाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभाववान् पक्षः' इस रूपमें लक्षणका परिमार्जन कर देनेसे नहीं रहता है। इसलिए यही पक्षका परिमार्जित लक्षण समझना चाहिए।

इस प्रकार पक्षके इस परिमार्जित लक्षणमें 'विशिष्टाभाव' आया है। यह 'विशिष्टाभाव' तीन प्रकारसे हो सकता है। १. जहाँ विशेषण न हो केवल विशेष्य हो वहाँ विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभाव होता है। जैसे 'दण्डी पुरुषः' यह विशिष्ट प्रतीति है। इसमें दण्ड विशेषण और पुरुष विशेष्य है। अब जहाँ केवल विशेष्य पुरुष हो और दण्ड न हो वहाँ 'दण्डी पुरुषः' यह विशिष्ट प्रतीति नहीं होती है। इसलिए ऐसे स्थलमें 'विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव' माना जाता है। २. इसी प्रकार जहाँ केवल विशेषण रूप दण्ड हो विशेष्य रूप पुरुष न हो वहाँ भी 'दण्डी पुरुषः' प्रतीति नहीं होती है। ऐसे स्थलपर 'विशेष्याभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव' माना जाता है। ३. तीसरे जहाँ विशेषण दण्ड और विशेष्य पुरुष दोनों न हों वहाँ भी 'दण्डी पुरुषः' प्रतीति नहीं होती है। ऐसे स्थल पर 'उभयाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव' माना जाता है। इस प्रकार तीन स्थलोंमें विशिष्ट प्रतीतिका आभाव रहता है और ४. केवल एक जगह जहाँ विशेषण दण्ड और विशेष्य पुरुष दोनों हों वहाँ 'दण्डी पुरुषः' यह विशिष्ट प्रतीति होती है।

इसी प्रकार पक्षके लक्षणके सम्बन्धमें तीन दशाओंमें 'विशिष्टका आभाव' अर्थात् पक्षता रहती है इसलिए तीन अवस्थाएँ अनुमानकी प्रवर्तक और एक अवस्था-

में विशिष्टाभाव नहीं रहता अत एव उस अवस्थामें पक्षता न बननेसे अनुमानकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। उन चारों अवस्थाओंको यों समझना चाहिये कि १. जहाँ सिसाधयिषा और सिद्धि दोनों हैं वहाँ विशेषण अंश 'सिसाधयिषा-विरह' न होनेसे विशेष्य अंश 'सिद्धि'के रहते हुए भी 'सिसाधयिषाविरहविशिष्ट सिद्ध्यभाव' रूप 'विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव' बन जानेसे पक्षता बन जाती है। इसलिए अनुमान की प्रवृत्ति हो सकती है। २. जहाँ सिसाधयिषा और सिद्धि दोनोंका अभाव हो वहाँ 'सिसाधयिषाविरह' रूप विशेषण अंशके रहते हुए भी 'सिद्धि' रूप विशेष्य अंशके न होनेसे 'विशेष्याभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव' बन जाता है अत एव ऐसे स्थलमें भी पक्षता बन जानेसे अनुमानकी प्रवृत्ति हो सकती है। ३. तीसरा स्थल वह है जहाँ विशेषण अंश, सिसाधयिषाविरह' और विशेष्य अंश, 'सिद्धि' दोनोंका अभाव हो। ऐसे स्थलमें 'उभयाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव' होनेसे अनुमान-प्रवृत्तिका अवसर रहता है। इस प्रकार तीन स्थलोंमें अनुमानप्रवृत्त हो सकता है। ४. और केवल एक चौथा स्थल ऐसा रहता है जहाँ विशेषण अंश 'सिसाधयिषा-विरह' और विशेष्य अंश 'सिद्धि' दोनों हों अर्थात् जहाँ साध्यकी सिद्धि हो और उसको प्रकारान्तरसे अनुमानद्वारा सिद्ध करनेकी इच्छा न हो वहाँ 'सिसाधयिषा-विरहविशिष्ट सिद्धि' रूप विशिष्ट प्रतीति रही। वहाँ 'विशिष्टाभाव' अर्थात् 'सिसाध-यिषाविरहविशिष्ट सिद्ध्यभाव' रूप पक्षता नहीं बन सकती है। अत एव ऐसे स्थलमें अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती है।

प्रकृत स्थलमें शब्द-प्रमाणसे ईश्वरकी 'सिद्धि' रूप विशेष्य अंश तो है। परन्तु उसके साथ 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इत्यादि श्रुतिके अनुसार श्रवणके बाद मननकी अर्थात् अनुमानद्वारा ईश्वरको सिद्ध करनेकी इच्छा अनुमित्सा या 'सिसाधयिषा' भी है। इसलिए 'सिसाधयिषाविरह' रूप विशेषण अंश न होनेसे 'विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव' बन जाता है। अत एव 'सिसाधयिषाविरहविशिष्ट सिद्ध्यभाव' रूप पक्षता बन जानेसे अनुमानमें कोई बाधा नहीं है। यही ऊपरके मूल ग्रन्थके 'शाब्दसिद्धावप्यनुमित्सयानुमितेर्न संशयासत्त्वं दोषाय'का अर्थ है। 'शाब्दसिद्धावपि' शब्दप्रमाणसे श्रवणद्वारा ईश्वरकी 'सिद्धि' रहनेपर भी अर्थात् विशेष्यांश रहनेपर भी 'अनुमित्सा, सिसाधयिषा' अनुमानद्वारा सिद्ध करनेकी इच्छाके रहनेसे विशेषण सिसाधयिषाविरहके न होनेसे सिसाधयिषाविरहविशिष्ट सिद्ध्यभावरूप पक्षता बन जानेसे अनुमान हो सकता है इसलिए संशयका न होना दोषजनक नहीं है अर्थात् अनुमानका बाधक नहीं है। इसलिए 'श्रवणानन्तरागता' श्रवणके बाद प्राप्त यह 'मनन' उचित ही है। यह इस पंक्तिका अभिप्राय हुआ।

यह तो तार्किक दृष्टिसे श्रवणके बाद मननका उपपादन किया है। परन्तु 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्योमन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादि श्रुतिने आत्मदर्शनके

शाब्दसिद्धावप्यनुमित्सयानुमितेर्न संशयासत्वं दोषाय ॥ ३ ॥
तुष्यत्विति न्यायेन संशयमाह—तदिहेत्यादि ।

लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन इन तीन उपायोंका जो प्रतिपादन किया है, उसमें श्रुतिका विशेष अभिप्राय है और उसकी दृष्टिसे श्रवणके बाद मनन और मननके बाद निदिध्यासनकी और भी अधिक उपयोगिता है। श्रुतिने इन तीनोंको आत्मदर्शन अथवा आत्मसाक्षात्कारके उपायरूपमें प्रतिपादन किया है। आत्मा जैसे चर्म-चक्षुओंसे न दीखनेवाले पदार्थके साक्षात्कारमें प्रायः तीन प्रकारकी बाधाएँ उपस्थित होती हैं—१ 'असंभावना', २ 'विपरीतभावना' और ३ 'पारोक्ष्य । इन्हीं तीनों बाधाओंको दूर करनेके लिए श्रुतिने क्रमशः तीन साधनोंका प्रतिपादन किया है। इनमें श्रवणद्वारा 'असंभावना', मननद्वारा 'विपरीत भावना' और निदिध्यासनद्वारा 'पारोक्ष्य' का निवारण होता है। आत्मा जैसे अप्रत्यक्ष अर्थके विषयमें 'असम्भावना' अर्थात् आत्मा है ही नहीं क्योंकि दिखाई नहीं देता है इस प्रकारकी अभाव बुद्धि बहुत साधारण बात है। श्रुतियोंमें उस आत्म-तत्त्वका वर्णन देखकर श्रवणद्वारा उस असम्भावनाकी निवृत्ति होकर कुछ आत्मा जैसा पदार्थ होना चाहिए इस प्रकारकी अस्पष्ट प्रतीति होती है। परन्तु श्रवणसे प्राप्त यह ज्ञान आत्मसन्तोषके लिए पर्याप्त नहीं है। उस आत्माके स्वरूपके विषयमें नाना प्रकार 'विपरीत भावना' हो सकती है। अतः उस 'विपरीत भावनाके' निवारणके लिए 'श्रवणके' बाद 'मनन'का निर्देश किया गया है। इस 'मनन'के द्वारा आत्माका वेदप्रतिपादित स्वरूप कुछ अधिक स्पष्ट हो जाता है परन्तु उससे भी जिज्ञासा शान्त नहीं होती है। वह स्वरूप अपने अनुभव की वस्तु या साक्षात्काररूप नहीं अपितु परोक्ष जैसा प्रतीत होता है। इस 'पारोक्ष्य' दोषकी निवृत्तिके लिए 'निदिध्यासन'का विधान किया गया है। योगशास्त्रमें वर्णित प्रकारसे आत्मतत्त्वका चिन्तन करनेसे आत्माका साक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है। वह स्वानुभूतिरूप होता है इसलिए उसके बाद जिज्ञासा पूर्णरूपसे शान्त हो जाती है। इसीलिए जैसा कि पहिले उद्धृत किया जा चुका है भाष्यकारने 'सा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा' इत्यादि लिखा है। इस प्रकार ईश्वरविषयक 'श्रवण'के उपरान्त उसका 'मनन' आवश्यक है। अतः ईश्वरके विषयमें सन्देह न होनेपर भी उसके अनुमानद्वारा ज्ञान या मननमें कोई बाधा न होनेसे यह न्यायचर्चा कुसुमाञ्जलि-प्रणयन का प्रयास उचित ही है।

शब्दप्रमाणसे [ईश्वरकी] सिद्धि होनेपर भी अनुमान [द्वारा भी सिद्ध करनेकी] इच्छाके कारण अनुमिति होनेसे संशयका अभाव दोषजनक नहीं है ॥ ३ ॥

अथवा [जो लोग अनुमानके लिए संशयको अनिवार्य मानना चाहते हैं उनके संतोषके लिए] दुर्जनतोष न्यायसे 'तदिह' इत्यादि ग्रन्थसे [ईश्वरके विषयमें] संशय प्रदर्शित करते हैं।

तदिह संक्षेपतः पञ्चतयी विप्रतिपत्तिः। १ अलौकिकस्य परलोक साधनस्याभावात्। २ अन्यथापि परलोकसाधनानुष्ठानसम्भवात्। ३ तदभावावेदकप्रमाणसद्भावात्। ४ सत्त्वेऽपि तस्याप्रमाणत्वात्। ५ तत्साधकप्रमाणाभावाच्चेति।

जैसे कि ऊपरका ग्रन्थ श्री उदयनाचार्यकी मूल कुसुमाञ्जलिसे लिया गया है इसी प्रकार विप्रतिपत्तिप्रदर्शक यह पंक्तियाँ भी वहींसे ली गई हैं। इनमें ग्रन्थकारने ईश्वरके विषयमें पाँच प्रकारकी विप्रतिपत्तियाँ प्रदर्शित की हैं। जिनमेंसे पहिली विप्रतिपत्ति मुख्यतः चार्वाक मतसे, दूसरी विप्रतिपत्ति मीमांसकमतसे, तीसरी बौद्धमतसे, चौथी जैनमतसे, और पाँचवीं सांख्यमतसे, सम्बन्ध रखती है। इन पाँचों विप्रतिपत्तियोंके निराकरणके लिए ग्रन्थकारने अपने इस ग्रन्थको पाँच स्तबकोंमें विभक्त किया है। प्रत्येक स्तबकमें एक-एक विप्रतिपत्ति की विवेचना की है। इस प्रकार प्रथम स्तबकमें चार्वाक, दूसरे स्तबकमें मीमांसक, तीसरे स्तबकमें बौद्ध, चतुर्थ स्तबकमें जैन, और पञ्चम स्तबकमें सांख्यके ईश्वरसम्बन्धी सिद्धान्तोंकी प्रधानतया आलोचना की है। उन पाँच प्रकारकी विप्रतिपत्तियोंको इस प्रकार दिखाया है।

अत एव यहाँ [ईश्वरके विषयमें] संक्षेपमें [अर्थात् अवान्तर विप्रतिपत्तियोंकी अविवक्षासे] पाँच प्रकारकी विप्रतिपत्तियाँ हैं। १ अलौकिक परलोकसाधनके अभाव होनेसे, २ अन्यथा अर्थात् ईश्वरके माने बिना भी परलोकसाधन याग आदिका अनुष्ठान सम्भव होनेसे, ३ उस ईश्वरके अभावसाधक प्रमाणोंके होनेसे, ४ ईश्वरके होनेपर [अर्थात् यदि किसी ईश्वर जैसी सत्ताको माना भी जाय तो भी उसके] अप्रमाणभूत होनेसे और ५ उसके साधक प्रमाणोंका अभाव होनेसे [ईश्वर नहीं है]॥ ३॥

इस भूमिकाके बाद अगली चौथी कारिकासे प्रथम स्तबकके विषयमें प्रथम विप्रतिपत्तिकी विवेचना प्रारम्भ करते हैं। 'अलौकिकस्य परलोकसाधनस्याभावात्' यह प्रथम विप्रतिपत्ति है जो चार्वाकके मतानुसार उपस्थित होती है। देखने और परिगणनमें यह एक विप्रतिपत्ति है परन्तु इसके भीतर तीन विप्रतिपत्तियाँ और समाविष्ट हैं। १ अलौकिकस्याभावात्, २ परलोकस्याभावात् और ३ साधनस्याभावात्। चार्वाकके मतानुसार जो प्रत्यक्ष दिखलाई देता है उसीका अस्तित्व है और जो वस्तु प्रत्यक्ष दिखलाई नहीं देती उसका अस्तित्व वह स्वीकार नहीं करता है। इसलिए परलोक अथवा उस परलोकके साधनभूत धर्म और अधर्म जैसे अप्रत्यक्ष पदार्थोंको वह स्वीकार नहीं करता है। इसलिए 'अलौकिकस्याभावात्' अर्थात् अलौकिक धर्म, अधर्म आदिके न होनेसे और 'परलोकस्याभावात्' अर्थात् मरणके के बाद किसी अन्य स्वर्गादि लोकके न होनेसे उनके नियामक अधिष्ठाताके रूपमें

धर्माधर्मात्मकालौकिकपरलोकसाधने विप्रतिपन्नं प्रति तत्साधनं, सिद्धे च तस्मिन् तदधिष्ठातृतया ईश्वरसिद्धिः, अचेतनस्य कारणस्य सचेतनाधिष्ठानेनैव कार्यजनकत्वात् । तत्साधनायाह—

सापेक्षत्वादनादित्वाद् वैचित्र्याद् विश्ववृत्तितः ।
प्रत्यात्मनियमाद् भुक्तेरस्ति हेतुरलौकिकः ॥ ४ ॥

ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकती है। यह उसकी पहिली दो विप्रतिपत्तियोंका अभिप्राय है। इसके अतिरिक्त चार्वाक कार्यकारणभाव भी नहीं मानता है। यह सब जगत् बिना किसी कारणके स्वभावतः स्वयं ही बन जाता है। उसके बनानेके लिए किसी ईश्वर आदिकी आवश्यकता नहीं है।

अग्निरुष्णो जलं शीतं शीतस्पर्शस्तथानिलः ।
केनेदं चित्रितं तस्मात्स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः ॥

अर्थात् अग्निको उष्ण, जलको शीतल और शीतस्पर्शवाले वायुको बनानेवाला कौन है ? कोई नहीं। यह सब स्वभावसे स्वयं ही विभिन्न रूपोंमें बन जाते हैं। इसलिए जगतके निर्माण अथवा परलोककी व्यवस्था और धर्माधर्मके अनुसार उचित फल देनेके लिए उनके अधिष्ठाता रूपमें ईश्वर माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यह 'साधनस्याभावात्'से चार्वाकका अभिप्राय है।

नैयायिक आदि मुख्यतः तीन दृष्टियोंसे ईश्वरका अस्तित्व मानते हैं। १ जगत्के निर्माताके रूपमें, २ जीवात्माके कर्मानुसार फलदाता या धर्माधर्म रूप अदृष्टके अधिष्ठताके रूपमें और ३ सृष्टिके प्रारम्भमें ईश्वरीय ज्ञान वेदोंके उपदेष्टाके रूपमें। इन सबमें मुख्य ईश्वरसाधक हेतु जगत्-कारणत्व और अदृष्टाधिष्ठातृत्व हैं। ये दोनों ही कार्यकारणभावके सिद्धान्त पर आश्रित हैं। इसलिए चार्वाकने कार्यकारण सिद्धान्तको ही अस्वीकार कर उसके स्थानपर स्वभाववादका आश्रय लिया है। कुसुमाञ्जलिकारने अपनी इस विषय-विवेचना को प्रारम्भ करनेवाली प्रथम कारिकामें चार्वाककी सभी विप्रतिपत्तियोंका संक्षेपतः खण्डन कर दिया है। इस परिच्छेदके शेष भागमें इस कारिकामें संक्षिप्त रूपसे प्रस्तुत विषयका ही विस्तृत विवेचन किया गया है। इस कारिकाकी अवतरणिका रूपमें टीकाकार लिखते हैं—

धर्माधर्मरूप अलौकिक परलोकसाधनके विषयमें विप्रतिपत्ति [विपरीता प्रतिपत्तिः ज्ञानं विप्रतिपत्तिः] रखने वाले [चार्वाक]के प्रति [पहिले] उस [धर्माधर्म जिसको 'अदृष्ट' भी कहते हैं] की सिद्धि [करना आवश्यक है] और उसके सिद्ध हो जानेपर उसके अधिष्ठाता रूपमें ईश्वरकी सिद्धि [अनिवार्य रूपसे स्वयं हो जावेगी क्योंकि] अचेतन कारण [अदृष्टादि] सचेतनके अधिष्ठानसे ही कार्य [परलोकादिकी प्राप्ति]का उत्पादक हो सकता है। इसलिए उस [धर्म-अधर्मरूप अदृष्ट]की सिद्धिके लिए [कारिकाकार] कहते हैं—

[कार्यके] १ सापेक्ष कादाचित्क होनेसे, [कार्यकारण परम्पराके बीजांकुरवत्]

अलौकिकोऽतीन्द्रियः परलोकहेतुरस्तीति प्रतिज्ञा। तत्र प्रथमतः कारण-सामान्यसाधनायाह—सापेक्षत्वादिति। सापेक्षत्वं कादाचित्कत्वम्। तथा च कार्यं सहेतुकं कादाचित्कत्वात्, भोजनजन्यतृप्तिवत्।

---

२ अनादि होनेसे, ३ [जल, वायु आदि कार्योंके] विचित्र नानाप्रकारके होनेसे ४ [याग आदि कर्मोंमें] सब लोगों [स्वर्गादि कामनावाले आस्तिक जनों]की प्रवृत्ति होनेसे और ५ [सुख-दुःख आदि] भोगके प्रत्येक आत्मा [व्यक्ति]में अलग-अलग रूपसे व्यवस्थित होनेसे [इन सबका नियामक] अलौकिक कारण [अदृष्ट धर्म-अधर्मका अस्तित्व] है।

[यहाँ] अलौकिक अर्थात् अतीन्द्रिय [इन्द्रियोंसे न दीखनेवाला धर्म-अधर्मरूप अदृष्ट] परलोकका हेतु है. यह प्रतिज्ञा है। उसमें [अतीन्द्रिय परलोककारणकी सिद्धिके लिए] पहिले कारणसामान्यकी [सिद्धि आवश्यक होनेसे] सिद्धिके लिए [पहिला हेतु] 'सापेक्षत्वात्' कहा है। सापेक्षत्वात् [का अर्थ है] कादाचित्कत्वात्। [इस कादाचित्क-त्वात् हेतुके आधारपर अनुमान वाक्य इस प्रकार बनेगा 'कार्यं सहेतुकं कादाचित्कत्वात् भोजनजन्यतृप्तिवत्] अर्थात्, कार्य सहेतुक है [प्रत्येक कार्य का हेतु अर्थात् कारण अवश्य होता है। यह प्रतिज्ञा है।] कादाचित्क होनेसे भोजनजन्यतृप्तिके समान।

१—कादाचित्कका अर्थ है जो सदा न रहे, कभी हो, कभी न हो। इस 'कादाचि-त्कत्वात्' हेतुका साध्य है 'सहेतुकत्वं'। इन दोनोंकी व्याप्ति इस प्रकार बनेगी। 'यत्र यत्र कादाचित्कत्वं तत्र तत्र सहेतुकत्वं' जहाँ जहाँ कादाचित्कत्व होता है अर्थात् जो पदार्थ सदा नहीं रहता है किसी समय रहता है किसी समय नहीं रहता है वह-वह सहेतुक होता है उसका कोई न कोई कारण होता है। भोजनजन्यतृप्ति इसका उदाहरण है। जैसे भोजनजन्य तृप्ति हर समय नहीं रहती। भोजन करनेपर तृप्ति हो जाती है। परन्तु उसके पच जानेपर फिर भूख लग जाती है। इसलिए भोजन-जन्य तृप्ति 'कादाचित्क' है और उसके साथ ही वह 'सहेतुक' है। बिना कारणके अपने आप नहीं हो जाती है। भोजन करनेपर ही होती है। इसी प्रकार कार्य भी 'कदाचित्क' है अत एव वह भी 'सहेतुक' है। यह उपनय और निगमन हुए। इस प्रकार पञ्चावयवयुक्त अनुमान वाक्यकेद्वारा कार्यका 'सहेतुकत्व' सिद्ध होता है। अर्थात् कारणसामान्यकी सिद्धि होती है। यह प्रथम हेतुकी व्याख्या हुई।

२—इसपर चार्वाक यह प्रश्न कर सकता है कि यदि आप कार्यकारणभाव मानना चाहते हैं तो यह बतलाइए कि घट आदिका जो कारण आप मानते हैं वह नित्य है अथवा अनित्य। यदि नित्य है तो कारणके नित्य होनेसे उसका कार्य घट आदि भी नित्य होना चाहिए। परन्तु आप घट आदिको नित्य नहीं मानते हैं इसलिए उसके कारणको भी नित्य नहीं मान सकते हैं। आपको घटके कारणको अनित्य ही मानना होगा। और जब वह अनित्य है तो उसकी भी उत्पत्ति होना

ननु घटादिहेतोः सदातनत्वे घटादेरपि सदातनत्वापत्तिः, तथा च तस्य कादाचित्कत्वं वाच्यम् , एवं तत्कारणपरम्परापि कादाचित्की सहेतुका वाच्या इत्यनवस्थायामुक्तमनादित्वादिति ! बीजाङ्कुरवत् प्रामाणिकीयमनवस्था न दोषायेत्यर्थः।

आवश्यक है। वह अपने कारणसे ही उत्पन्न होगा। तो फिर यही प्रश्न उस दूसरे कारणके विषयमें भी उपस्थित होगा कि वह दूसरा कारण नित्य है या अनित्य। नित्य तो हो नहीं सकता इसलिए उस अनित्य दूसरे कारणकी उत्पत्ति भी तीसरे कारणसे माननी होगी। इसी प्रकार तीसरे कारणका भी चौथा और चौथेका पाँचवाँ कारण मानना होगा। इस प्रकार 'अनवस्था दोष' होगा। इस 'अनवस्था दोष'के आ जानेसे कारणकी सिद्धि नहीं हो सकती है। चार्वाककी इस शङ्काका समाधान करनेके लिए अगला हेतु दिया है 'अनादित्वात्'। इस हेतुका अभिप्राय यह है कि चार्वाकने यह जो 'अनवस्था' दिखलाई है वह सर्वत्र दोषाधायक नहीं होती। कहीं कहीं 'अनवस्था' प्रामाणिक भी मानी जाती है। जैसे बीजांकुर स्थलमें भी 'अनवस्था' आती है। बीजसे अंकुर पैदा हुआ कि अंकुरसे बीज पैदा हुआ। बीज अंकुरका कारण है परन्तु उस बीजका कारण भी तो दूसरा अंकुर है। और वह अंकुर फिर बीजसे पैदा हुआ है। अत एव यह 'अनवस्था' बीजांकुर स्थलमें भी होगी। उस दोषके कारण यदि बीजको अंकुरका अथवा अंकुरको बीजका कारण नहीं माना जाय तो फिर बीजसे अंकुर अथवा अंकुरसे बीजकी जो उत्पत्ति प्रत्यक्ष दिखाई देती है वह नहीं होनी चाहिए थी। परन्तु वह तो होती ही है। इसलिए यहाँ 'अनवस्था' होते हुए भी उसके अनादि होनेसे उसको दोषाधायक नहीं माना जाता है। इसी प्रकार कार्यकारणमें जो 'अनवस्था' है चार्वाकने दिखलाई है वह भी कार्यकारणभावके अनादि होनेसे प्रामाणिक 'अनवस्था' है अत एव वह दोषाधायक नहीं है। यह समाधानका आशय है। इसी पूर्वोत्तरपक्षको टीकाकारने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

[प्रश्न] घटादिके हेतुके सदातन अर्थात् नित्य होनेपर [तो] घट आदिको भी नित्य मानना होगा इसलिए उस [घटादिके कारण] को कादाचित्क [अनित्य] मानना होगा। इस प्रकार उस [कारण] की कारणपरम्परा भी कादाचित्क [होनेसे] सहेतुक माननी होगी। ऐसी 'अनवस्था' प्राप्त होनेपर 'अनादित्वात्' यह [दूसरा हेतु] कहा है। [उसका अभिप्राय यह है कि] बीजाकुंर स्थल [में होनेवाली अनवस्था]के समान [अनादि होनेसे] यह 'अनवस्था' भी प्रामाणिक होनेसे दोषाधायक नहीं है। [इसलिए कार्यको सहेतुक मानना उचित ही है। यह दूसरे हेतुकी व्याख्या हुई।

३—इसपर चार्वाक फिर पूर्वपक्ष करता है कि अच्छा आपकी इस युक्तिसे कार्यका कारण मान भी लिया जाय तो इससे आपके उद्देश्यकी सिद्धि नहीं होती। अर्थात् आप [नैयायिक] जिस परलोक-साधन अदृष्टरूप कारणको स्वीकार करना

ननु ब्रह्मैव कारणमस्तु किं वा नानाबुद्ध्यात्मिका प्रकृतिरेव तथास्तु इत्यत्राह वैचित्र्यादिति। कार्यं विचित्रकारणवत् विचित्रकार्यत्वात्।

चाहते हैं और उसके द्वारा ईश्वरको सिद्ध करना चाहते हैं। वह नहीं बन सकता। हम वेदान्ताभिमत 'ब्रह्म'को अथवा सांख्याभिमत 'प्रकृति' को जगत्का कारण मान लेंगे। परन्तु आपके अभिमत 'ईश्वर'को जगत्का कारण नहीं स्वीकार करेंगे। इसका उत्तर करनेके लिए अगला हेतु दिया है 'वैचित्र्यात्'। इस हेतुके आधारपर अनुमान वाक्य इस प्रकार बनेगा, 'कार्यं विचित्रकारणवत् विचित्रकार्यत्वात्'। कार्यके कारण विचित्र, नाना प्रकारके होंगे क्योंकि कार्य विचित्र, नाना प्रकारके हैं। वेदान्तका 'ब्रह्म' एक अद्वितीय है। उस एक 'ब्रह्म'से नाना प्रकारके कार्य उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। इसी प्रकार सांख्यकी 'प्रकृति' नाना बुद्ध्यात्मक होनेपर भी एकजातीय है। उस एकजातीय 'प्रकृति'से भी नाना जातीय कार्य उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। इसलिए नानाजातीय, विचित्र कार्योंकी सिद्धिके लिए विचित्र, नानाजातीय कारण मानना अनिवार्य है। यह नानाजातीय या विचित्र कारण 'अदृष्ट' ही है, इस प्रकार 'वैचित्र्यात्' हेतुसे 'अदृष्ट'की सिद्धि करना ग्रन्थकारको अभिप्रेत है। टीकाकारने उनके अभिप्रायको व्यक्त करते हुए लिखा है—

३—[प्रश्न] अच्छा तो [एक अद्वितीय] 'ब्रह्म' ही [जगत्का] कारण हो जाय [मान लो] अथवा नाना बुद्ध्यात्मक [परन्तु एकजातीय] 'प्रकृति' हीको जगत्का कारण मान लो। [अदृष्टके माननेसे क्या लाभ] इस प्रश्न के आनेपर [उसके समाधानके लिए] 'वैचित्र्यात्' यह कहते हैं [यह हेतु देते हैं इस हेतुके आधारपर अनुमान वाक्य इस प्रकार बनेगा। कार्यं विचित्रकारणवत् विचित्रकार्यत्वात्] कार्य विचित्र कारणवाला है विचित्र कार्य होनेसे। [जगत्में जो नाना प्रकारके कार्य पाए जाते हैं वह न एकमात्र अद्वितीय 'ब्रह्म'से उत्पन्न हो सकते हैं और न एकजातीय 'प्रकृति'से। इसलिए उनकी उत्पत्तिके लिए विचित्र नानाजातीय कारण मानना चाहिए। वह कारण ही अदृष्ट है। यह तृतीय हेतुकी व्याख्या हुई।]

४—इसपर चार्वाक फिर पूर्वपक्ष करता है कि अच्छा यह तो मान लिया कि नाना प्रकारके कार्यकी उत्पत्ति एक 'ब्रह्म' अथवा एक जातीय 'प्रकृति' से नहीं हो सकती है। उसके लिए विचित्र या नाना जातीय कारण भी मानना ही होगा। परन्तु इस युक्तिसे जो आप 'अदृष्ट'की सिद्धि करना चाहते हैं सो उसको हम नहीं मान सकते। हम 'अदृष्ट'के बजाय 'यागादि'को ही उस नाना विध कार्यका कारण मानना चाहते हैं। याग 'ज्योतिष्टोम' 'अग्निष्टोम' आदि भेदसे नाना प्रकारके होते हैं इसलिए वही नानाविध या विचित्र कारणरूपसे विचित्र कार्योंकी उत्पत्तिके हेतु हो सकते हैं। अत एव 'अदृष्ट'की कल्पना करना व्यर्थ है। इस शङ्काके समाधानके लिए ग्रन्थकारने अगला हेतु 'विश्ववृत्तितः' उपस्थित किया है। 'विश्ववृत्तितः'का अर्थ

ननु दृष्टं यागाद्येव कारणमस्तु किमदृष्टेन इत्यत्राह-विश्ववृत्तितः इति। विश्वेषां परलोकार्थिनां वृत्तितः यागादौ प्रवृत्तितः। स्वर्गादिफलकत्वज्ञानमेव यागादिप्रवृत्तिजनकं, यगादेश्च तज्जनकत्वं तत्कालावस्थायिव्यापारं विना न सम्भवतीति, अदृष्टसिद्धिः।

है 'विश्वेषां सर्वेषां परलोकार्थिनां' सब परलोकार्थियोंकी 'वृत्तितः यागादौ प्रवृत्तितः'। सब परलोकार्थियोंकी यागादिमें प्रवृत्ति देखी जाती है। यह प्रवृत्ति तभी हो सकती है जब यह निश्चय हो कि यागादिसे स्वर्गरूप फलकी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु याग तो एक कर्म है। और कर्म क्षणिक होता है। अत एव याग तो अनुष्ठान करनेके बाद समाप्त हो जाता है। नष्ट हो जाता है। वह कालान्तरमें होनेवाले स्वर्गरूप फलका कारण स्वयं कैसे हो सकेगा। अत एव वह अपने पीछे 'अदृष्ट'रूप एक अवान्तर व्यापार छोड़ जाता है। यह 'अदृष्ट' फलजनन पर्यन्त स्थिर रहता है और वही कालान्तरभावी स्वर्ग आदिरूप फलको उत्पन्न करते हैं। इसीलिए 'अदृष्ट' या धर्माधर्मको 'आशय' शब्दसे भी कहते हैं। आशय शब्दका अर्थ 'आशेरते फलपर्यन्त-मित्याशयाः'। जो फलजनन पर्यन्त बना रहता है उसको 'आशय' कहते हैं। इस प्रकार विचित्र कार्योंकी उत्पत्तिका यागादिसे साक्षात् होना सम्भव नहीं है। वह 'अदृष्ट' द्वारा ही इसमें समर्थ हो सकते हैं। इसलिए 'अदृष्ट' मानना आवश्यक है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। इसीको अगली पंक्तियोंमें कहते हैं--

४—अच्छा तो दृष्ट याग आदिको ही [विचित्र कार्योंका] कारण मान लें अदृष्ट [के मानने] से क्या [लाभ] ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं 'विश्ववृत्तितः'। अर्थात् समस्त परलोकार्थियोंकी यागादिमें प्रवृत्ति होनेसे। [यागादिसे] स्वर्ग रूप फल हो सकता है यह ज्ञान ही यागादिमें प्रवर्तक हो सकता है। और [कर्मरूप अत एव क्षणिक होनेसे] यागादिका [कालान्तरभावि] स्वर्ग आदिके प्रति जनकत्व उस समय [स्वर्गोत्पत्ति काल] तक रहनेवाले व्यापारके बिना सम्भव नहीं है इसलिए [उस कालान्तरभावी स्वर्गादिकी उत्पत्तिके समयतक स्थिर रहनेवाले] 'अदृष्ट'की सिद्धि होती है। [यह चतुर्थ हेतुकी व्याख्या हुई]।

५—इसपर चार्वाक फिर पूर्वपक्ष करता है कि अच्छा हमने यह मान लिया कि यागके क्षणिक होनेसे उसको कालान्तरभावी फलके प्रति साक्षात् कारण नहीं माना जा सकता है। बल्कि याग अवान्तर व्यापारद्वारा ही कालान्तरभावी फलको उत्पन्न कर सकता है। फिर भी अभी आपके अभीष्ट 'अदृष्ट'की सिद्धि नहीं हुई है। क्योंकि आप 'अदृष्ट'को आत्मामें रहनेवाला धर्म मानते हैं। हमारा [चार्वाकका] कहना यह है कि वह अवान्तर व्यापार जिसे आप 'अदृष्ट' कहना चाहते हैं आत्मामें नहीं रहता बल्कि भोग्यवस्तुमें रहनेवाला धर्म है। और भोग्य वस्तुमें रहकर ही वह भोगका जनक है। इस प्रश्नका समाधान करनेके लिए ग्रन्थकार ने अगला

नन्वदृष्टं न भोगसमानाधिकरणं किन्तु भोग्यादिनिष्ठत्वेनैव भोगजनकम्, इत्यत्राह–प्रत्यात्मनियमादिति। भुक्तेर्भोगस्य प्रतिनियतात्मवृत्तित्वात्। व्यधिकरणादृष्टस्य भोगजनकत्वेऽतिप्रसङ्गात् ॥ ४ ॥

'प्रत्यात्मनियमाद् भुक्तेः' यह हेतु दिया है। इस हेतुका अभिप्राय यह है कि एक ही वस्तुसे अलग-अलग व्यक्तियोंको अलग-अलग प्रकारका भोग होता है। एक ही वस्तु किसीको अच्छी लगती है और किसीको बुरी। यदि भोगजनक संस्कार उस भोग्य वस्तुमें ही है तो उससे सबको समान ही भोग होना चाहिए। एकको उसी वस्तुसे सुख हो और दूसरेको उसी वस्तुसे दुःख हो यह कैसे होगा। परन्तु होता तो जगत्में यही है। तब इसके उपपादनका प्रकार यही है कि भोगजनक विशेष धर्म भोग्यवस्तुमें नहीं अपितु प्रत्येक आत्मामें अलग-अलग है। इस धर्मके प्रभावसे ही एक ही वस्तुसे अलग-अलग व्यक्तियोंको अलग-अलग भोग होता है। इसलिए भोगके नियामक इस धर्मको जिसे हम [नैयायिक] 'अदृष्ट' कहते हैं आत्मनिष्ठ ही मानना होगा, भोग्यनिष्ठ माननेसे काम नहीं चलेगा। इस प्रकार 'अदृष्ट'की सिद्धि होती है। पंक्तियोंका अर्थ इस प्रकार है—

अच्छा तो 'अदृष्ट' भोगके समानाधिकरण [अर्थात् जहाँ जिस आत्मामें भोग रहता उसी अधिकरण आत्मामें रहनेवाला धर्म] नहीं, अपितु भोग्यनिष्ठ होकर ही भोगजनक होता है। इस शङ्काके होनेपर कहते हैं 'प्रत्यात्मनियमाद्भुक्तेः'। भुक्तेः अर्थात् भोगके प्रतिनियत अलग-अलग आत्मामें रहनेवाला होनेसे [अदृष्टको भोगसमानाधिकरण अर्थात् आत्मामें रहनेवाला धर्म ही मानना होगा।] भिन्न अधिकरण [भोग्य वस्तु] में रहनेवाले 'अदृष्ट'को अन्य अधिकरण [आत्मा]में भोगका जनक माननेसे अतिव्याप्ति होगी।

अर्थात् यदि भिन्न अधिकरणमें रहनेवाला 'अदृष्ट' भिन्न अधिकरणमें भोग पैदा कर सकता है इस सिद्धान्तको मान लिया जाय तब तो देवदत्तमें रहनेवाला 'अदृष्ट' यज्ञदत्तके भोगको पैदा करने लगेगा। ऐसा मानना उचित नहीं है। इसलिए 'अदृष्ट'को उसी अधिकरणमें मानना होगा जहाँ वह भोग पैदा करता है। और भोग निश्चित रूपसे आत्माको ही होता है इसलिए 'अदृष्ट'को आत्मामें ही मानना होगा इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। इस प्रकार नैयायिकाभिमत 'अदृष्ट'की सिद्धि हो जानेपर यह अदृष्ट अचेतन होनेसे स्वयं किसी फलको उत्पन्न नहीं कर सकता है इसलिए उसके नियमनके लिए चेतन अधिष्ठाताकी आवश्यकता अनिवार्य है। 'अदृष्ट'के नियामक इस चेतन अधिष्ठाताका नाम ही 'ईश्वर' है। इस प्रकार ईश्वरको मानना अनिवार्य है। यह इस कारिकाका अभिप्राय है। इस प्रकार इस कारिकामें इस परिच्छेदके प्रतिपाद्य विषयका संक्षेपसे सार दे दिया है। आगे इसी विषयका विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे ॥ ४ ॥

इस चतुर्थ कारिकामें प्रथम 'सापेक्षत्वात्' हेतुसे कारण सामान्यकी सिद्धि की थी। इसपर आपत्ति उठाते हुए चार्वाक कहता है कि कारणसे कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है अपितु कार्य यों ही 'अकस्मात्' पैदा हो जाता है। उसका कोई कारण नहीं है। जैसे कांटेमें तीक्ष्णता पाई जाती है परन्तु उस तीक्ष्णताको पैदा करनेवाला कोई कारण दिखाई नहीं देता है। इसलिए वह •बिना किसी निमित्तके 'अकस्मात्' स्वयं ही पैदा हो गई है। इसी प्रकार सब पदार्थ बिना किसी कारणके 'अकस्मात्' स्वयं ही उत्पन्न हो जाते हैं। 'अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात्'[१] इस सूत्रसे न्याय-दर्शनमें चार्वाक मत का प्रतिपादनपरक पूर्वपक्ष दिखाया है। उस पूर्वपक्षके समाधानके लिए यह पाँचवीं कारिका लिखी गई है।

कारिकाका अभिप्राय यह है कि आपके इस 'अकस्मात्' पदकी निम्नोक्तप्रकारसे पाँच व्याख्याएँ की जा सकती हैं। सबसे पहिले 'किम्' शब्दको कारणपरक मानकर 'कस्मात्' माने 'कारणात्' 'अकस्मात्' अर्थात् 'अकारणात्' अर्थ किया जा सकता है। इस 'अकारणात्' के १. 'कारणं विना भवति' और २. 'कारणव्यतिरिक्तात् भवति' ये दो अर्थ हो सकते हैं। 'अकारणाद्' या 'कारणं विना भवति'के भी दो अर्थ हो सकते हैं या तो उसे १. हेतुका निषेधक माने अथवा दूसरे उसे २. उत्पत्तिका ही निषेधक मानें। इसी प्रकार 'कारणव्यतिरिक्ताद् भवति'के भी तीन अर्थ निकल सकते हैं। कारणसे भिन्नमें एक तो कार्य स्वयं गिना जा सकता है उस दशामें 'कारणव्यतिरिक्तात्'का अर्थ ३. 'स्वस्माद् भवति' होगा। कारण व्यतिरिक्तके दो अर्थ और भी हो सकते हैं एक ४. 'अलीकाद् भवति' और दूसरा ५. 'स्वभावाद् भवति'। इस प्रकार 'कारणं विना भवति'के दो, और 'कारणव्यतिरिक्ताद् भवति'की तीन कुल मिलाकर पाँच प्रकारकी व्याख्याएँ 'कस्माद् भवति'की की जा सकती हैं। इन पाँचों पक्षोंका खण्डन करनेके लिए कारिकाकारने एक ही हेतु दिया है 'अवधेर्नियतत्वतः', नियतावधिककार्य-दर्शनात्। अर्थात् कार्य नियतावधिक देखे जाते हैं इसलिए यह पाँचों पक्ष दूषित हैं। क्योंकि उनमेंसे किसी भी पक्षमें नियतावधिक कार्योंका उपपादन नहीं हो सकता है। नियतावधिक कार्यका अर्थ यह है कि कार्योंकी स्थिति एक नियत काल तक ही रहती है। वह कार्य नित्य रहनेवाले पदार्थ नहीं होते हैं। यह स्थिति तभी बन सकती है जब कार्योंका कोई कारण माना जाय। आपके पूर्वोक्त पाँचों पक्षोंमें कार्योंकी यह 'कादाचित्क' स्थिति नहीं बन सकती है। क्योंकि १ यदि उनका कोई कारण न हो अथवा २ उनकी उत्पत्ति ही न होती हो तो उनको नित्य पदार्थके समान सदा रहना चाहिए। 'अकस्मात्'के 'कारणव्यतिरिक्तात्' वाले पक्षमें ३ यदि स्वयं अपनेसे, अथवा ४ अलीक वन्ध्यापुत्र खपुष्प सदृश मिथ्या पदार्थसे, अथवा ५ स्वभावसे कार्यकी उत्पत्ति मानी जाय तो कार्यके नाशका कोई कारण नहीं

---

२. न्यायदर्शन।

अकस्मादेव भवति, न किञ्चिदपेक्षं कार्यमिति। अतएव 'अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात्' [न्यायसूत्र ४, २२] इति पूर्वपक्षसूत्रम्। तत्राह—

हेतुभूतिनिषेधो न स्वानुपाख्यविधिर्न च।
स्वभाववर्णना नैवमवधेर्नियतत्वतः ॥ ५ ॥

अकस्मादिति किं हेतुनिषेधपरं, भवननिषेधपरं वा, स्वातिरिक्तहेतुनिषेधपरं पारमार्थिकहेतुनिषेधपरं वा। अत्रोभयत्राहेतुकत्वमन्त्येऽलीकहेतुकत्वञ्च पर्यवस्यति। स्वभावादित्यर्थपरं वा। स्वं कार्यम्, अनुपाख्यं अलीकम्। अवधे-

---

बनता है। क्योंकि जिस पदार्थका कारण कोई भाव पदार्थ है उस कारणके नाश होनेसे कार्यका नाश हो जाता है। परन्तु 'स्वस्मात्' 'अलीकाद्' और 'स्वभावात्' उत्पन्न होनेकी स्थितिमें किसके नाशसे कार्यका नाश माना जायगा? इसलिए नाशका सम्भव न होनेसे इन तीनों पक्षोंमें भी कार्य 'कादाचित्क' क्यों है इसका उपपादन नहीं किया जा सकता है। इसलिए १ न कार्यके हेतु या कारणका निषेध किया जा सकता है, और २ न उसकी उत्पत्ति, या भवनका खण्डन हो सकता है। इसी प्रकार ३ उसे 'स्वस्माद् भवति' या ४ 'अलीकाद् भवति' यह भी नहीं कहा जा सकता है और न ५ 'स्वभावसे उत्पन्न' कहा जा सकता है। यह कारिकाका अभिप्राय है। अर्थ निम्न प्रकार है—

कार्य अकस्मात् ही हो जाता है [उसे] किसी [कारण आदि]की अपेक्षा नहीं है। इसीलिए न्यायदर्शनमें, 'बिना निमित्तके ही पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है कण्टकोंमें तीक्ष्णता आदिके देखे जानेसे'। यह पूर्वपक्ष सूत्र दिया गया है।

['अकस्माद् भवति' कहनेसे] १ न हेतुका निषेध हो सकता है। २ न भवन अर्थात् उत्पत्तिका निषेध हो सकता है। ३ न स्व अपनेसे [उत्पत्तिका] विधान हो सकता है और ४ न [खपुष्प वन्ध्यापुत्रादि सदृश किसी] अलीक मिथ्या पदार्थसे [उत्पत्तिका] विधि सम्भव है। और ५ न ही स्वभाव [से ही कार्योत्पत्तिका] कथन ही हो सकता है क्योंकि कार्योंकी अवधि नियत दिखलाई देती है। [जो इन पाँचों पक्षोंसे किसी भी पक्षके माननेपर नहीं बन सकती है]।

['अकस्माद् भवति' यहाँ हेतु] 'अकस्मात्' यह शब्द क्या १ हेतुके निषेधपरक है? अथवा २ उत्पत्ति [भवन]का निषेध करता है? ३ अपनेसे भिन्न हेतुका निषेध करनेवाला है अथवा ४ पारमार्थिक हेतुके निषेधपरक है? इन दोनों [३, ४ पक्षों]में [क्रमशः] अहेतुकत्व और अलीकहेतुकत्व फलितार्थ होता है। अथवा ५ स्वभावसे इस अर्थका बोधक है। [कारिकामें आए हुए] 'स्व' [शब्दका अर्थ] कार्य [और

र्नियतत्वतः नियतावधिककार्यदर्शनात्। अनियतावधिकत्वे च कादाचित्कत्वव्याकोप इति भावः ॥ ५ ॥

नन्वनादिश्चेत् कार्यकारणप्रवाहः कादाचित्कत्वान्यथानुपपत्त्या कल्प्यस्तदा वह्नित्वावच्छिन्नस्य तृणादिव्यभिचारितया तृणाद्यकारणत्वे कादाचित्कत्वस्वभावव्याकोपः, कारणान्तरस्य च वक्तुमशक्यत्वात्।

अनजुपाख्य शब्दका अर्थ] अलीक [है]। अवधिके नियत होनेसे अर्थात् नियत अवधिवाले [सदा न रहनेवाले] कार्यके देखनेसे। इसका अभिप्राय यह है कि [यदि कार्योंको] अनियतावधिक माना जाय तो [उनमें] कादाचित्कत्व नहीं बनेगा। [जो कि प्रत्यक्षसिद्ध है अतः 'अकस्माद् भवति' यह कहना सर्वथा युक्तिविरुद्ध है] ॥ ५ ॥

कार्यकारणभावनिवारक पूर्वपक्ष का पुनरुत्थान—

इस प्रकार चतुर्थ कारिकामें दिए हुए प्रथम हेतु 'सापेक्षत्वात्'की विशेष व्याख्या इस पञ्चम कारिकामें की गई है। इसके बाद उसी कारिकामें दिए हुए दूसरे हेतु 'अनादित्वात्' की विशेष व्याख्या अगली छठी कारिकामें करेंगे। 'सापेक्षत्वात्' इस प्रथमहेतुसे कारणसामान्यकी सिद्धि होनेपर चार्वाक फिर पूर्वपक्ष करता है—

अच्छा यदि कार्य कारणभावके माने बिना पदार्थोंका कादाचित्कत्व नहीं बन सकता है इस आधारपर आप [नैयायिक] अनादि कार्य-कारणप्रवाहकी कल्पना करते हैं तो वह्नित्वधर्मयुक्त [अर्थात् वह्नि पदार्थ]के तृणादि–[तृण, अरणि, मणि] व्यभिचारी होनेसे तृणादिके [उस वह्निके प्रति] कारण न हो सकनेपर [उस वह्निमें] कादाचित्कत्व नहीं बनेगा। [क्योंकि तृण, अरणि, मणिको छोड़कर वह्निका] और कोई कारण कल्पित नहीं किया जा सकता है। [इसलिए वह्निका कोई भी कारण नहीं बनता है। इसी युक्तिसे अन्य सब पदार्थोंके कारणत्वका भी खण्डन हो जानेसे कार्यकारणभाव ही नहीं माना जा सकता है]।

चार्वाकके इस पूर्वपक्षका अभिप्राय यह है कि आप [नैयायिक] जिस कार्य-कारण-प्रवाहको अनादि मान रहे हैं वह तो बन ही नहीं सकता है। क्योंकि कारणताका निश्चय तो अन्वय-व्यतिरेकके आधारपर किया जाता है। जैसे वह्नि दाहका कारण है यह बात अन्वय-व्यतिरेकसे ही सिद्ध होती है। 'तत्सत्त्वे तत्सत्ता अन्वयः' और 'तदभावे तदभावो व्यतिरेकः' यह 'अन्वय' तथा 'व्यतिरेक' के लक्षण हैं। वह्निके होनेपर दाह होता है और वह्निके अभावमें दाह नहीं होता। इसलिए 'अन्वय' और 'व्यतिरेक' दोनोंके घट जानेसे वह्निको दाहका कारण माना जाता है। इस 'अन्वय' 'व्यतिरेक'के आधारपर यदि वह्निके कारणका विचार किया जाय तो उसका कोई कारण सिद्ध नहीं हो सकेगा। प्राचीनकालमें अग्निको प्रायः दो प्रकारसे उत्पन्न किया जाता था एक अरणिके मन्थनसे और दूसरे मणि अर्थात् आतिशी शीशेके प्रयोगसे। अरणि एक वृक्षविशेषका नाम है। उसकी लकड़ीके दो टुकड़ोंको आपसमें रगड़नेसे

बहुत जल्दी अग्नि उत्पन्न हो जाती है। इसीको 'अरणिमन्थन' कहते हैं। यज्ञ आदिमें [आवश्यक होनेपर] इस 'अरणिमन्थन' द्वारा ही अग्नि उत्पन्न किया जाता था। और दूसरे मणि [आतिशी शीशे]को सूर्यके सामने रखकर अग्नि उत्पन्न करते थे। इन दोनों साधनोंसे उत्पन्न अग्निको तृणादि ग्रहण कर लेते थे। इस प्रकार वह्निके तीन कारण हो सकते हैं १. तृण, २. अरणि, और ३. मणि। परन्तु इनकी कारणताका निश्चय तो तभी हो सकता है जब अग्निके साथ इनका 'अन्वय' और 'व्यतिरेक' दोनों घट जावें। परन्तु जब हम इनके 'अन्वय-व्यतिरेक' बनानेका विचार करते हैं तो इनका अन्वय तो बन जाता है, व्यतिरेक नहीं बनता। जैसे 'तृणसत्त्वे वह्निसत्ता', २ 'अरणिसत्त्वे वह्निसत्ता', ३ 'मणिसत्त्वे वह्निसत्ता' यह तीनों अन्वय तो ठीक घट जाते हैं, परन्तु 'तृणाभावे वह्न्यभावः' यह व्यतिरेक नहीं बनता है। क्योंकि तृणके अभावमें भी मणिजन्य और अरणिजन्य वह्निकी सत्ता है। इसी प्रकार मणिके अभावमें अरणिजन्य और अरणिके अभावमें मणिजन्य वह्निके होनेसे 'मण्यभावे वह्न्यभावः' और 'अरण्यभावे वह्न्यभावः' यह व्यतिरेक नहीं बन सकते हैं। 'अन्वय' और 'व्यतिरेक' दोनोंके घटे बिना कारणताका निश्चय नहीं हो सकता है। और वह्निके जो तीन कारण माने जा सकते हैं उनमेंसे किसीका भी अन्वय-व्यतिरेक वह्निके साथ बनता नहीं है। इसलिए इन तीनोंमेंसे वह्निका कोई कारण नहीं हो सकता। इन तीनोंके अतिरिक्त वह्निका और कोई कारण माना नहीं जा सकता है। और यदि, और कोई कारण कल्पना करनेका प्रयत्न भी करेंगे तो इसी युक्तिसे उसकी कारणताका भी खण्डन हो जायगा। इसलिए अग्निका कोई कारण सम्भव नहीं है। इसी उदाहरणसे अन्य सब पदार्थोंके कारणोंका भी खण्डन हो सकता है। इसलिए संसारमें कोई किसीका कारण नहीं है। अत एव नैयायिककी कार्यकारणभावकी कल्पना और उसके आधारपर ईश्वरादिकी कल्पना सब व्यर्थ और युक्तिविरुद्ध है। यह चार्वाकके पूर्वपक्षका आशय है।

मीमांसकके शक्तिवाद द्वारा निराकरण—

चार्वाकके इस पूर्वपक्षका समाधान करनेके लिए ही छठी कारिका लिखी गई है। इसका समाधान दो प्रकारसे किया जा सकता है। एक मीमांसककी शैलीसे और दूसरा नैयायिककी शैलीसे। मीमांसककी शैलीसे जो इसका समाधान किया जाता है वह नैयायिकको रुचिकर नहीं है। बल्कि वह उसका विरोधी है। वह मीमांसक द्वारा किए जानेवाले समाधानका भी खण्डन करना चाहता है। इसलिए टीकाकारने पहिले मीमांसकके दृष्टिकोणसे चार्वाकके इस पूर्वपक्षका समाधान प्रस्तुत कर उस मीमांसकोक्त समाधानको भी पूर्वपक्ष मानकर पहिले उस समाधानका खण्डन किया है और उसके बाद चार्वाकके मूल पूर्वपक्षका खण्डन किया है।

चार्वाकने व्यतिरेक-व्यभिचार दिखाकर तृण, अरणि और मणिकी कारणताका

खण्डन किया था। मीमांसक उसका समाधान अपने 'शक्तिवाद'के सिद्धान्तके आधारपर करता है। न्यायदर्शनके समानतंत्र वैशेषिकमें १. द्रव्य, २. गुण, ३. कर्म, ४. सामान्य, ५. विशेष, ६. समवाय और ७. अभाव यह सात पदार्थ माने गए हैं। संसारकी सभी वस्तुओंका अन्तर्भाव इन्हींके भीतर हो जाता है। ऐसा न्याय, वैशेषिक आदिका अभिप्राय है। न्यायमें जो प्रमाण, प्रमेय आदि विभाग किया गया है उनका भी इन्हीं सात पदार्थोंमें अन्तर्भाव हो सकता है। केवल उनके प्रतिपादनकी विशेष उपयोगिताकी दृष्टिसे उनका अलग प्रतिपादन न्यायमें किया गया है। वैसे उन सबका अन्तर्भाव सात ही पदार्थोंमें हो जाता है। परन्तु मीमांसक इन द्रव्य आदि सात पदार्थोंसे अलग 'शक्ति' और 'सादृश्य' दो पदार्थ और मानता है। नैयायिक इन दोनों नए पदार्थोंको नहीं मानता है अत एव उसने इन दोनोंका खण्डन किया है। उनमेंसे 'शक्ति' पदार्थका यहाँ, और 'सादृश्य'का आगे खण्डन किया गया है। यहाँ चार्वाकके पूर्वपक्षका समाधान पहिले मीमांसकके 'शक्तिवाद'के आधारपर जो दिया है उससे नैयायिकको 'शक्तिवाद'के खण्डन करनेका अवसर मिल गया है।

शक्तिवादी पूर्वपक्षकी स्थापना—

मीमांसक जो 'शक्ति'को एक अलग पदार्थ मानता है उसका आधार यह है कि अग्निसे एक समय दाह होता है परन्तु कुछ औषधि आदि ऐसी होती हैं जिनको अग्निमें डाल देने या उसके पास रख देनेसे अग्नि जलता तो रहता है परन्तु 'दूसरे पदार्थको जला नहीं सकता है। सँपेरे लोग किसी मन्त्रादिका प्रयोग कर एक दूसरेके बीनको कील देते हैं जिससे वह बजानेपर भी बजता नहीं। इसी प्रकार मणि, मंत्र अथवा औषधि आदि द्वारा अग्नि भी जब कील दिया जाता है तब वह स्वरूपतः जलते रहनेपर भी दूसरी वस्तुको जला नहीं पाता है। इससे मीमांसक यह परिणाम निकालते हैं कि अग्निमें दाहक 'शक्ति' उसके स्वरूपसे अलग है। जबतक वह दाहक 'शक्ति' अग्निमें रहती है तबतक अग्नि दाह करता है। जब मणि, मंत्र अथवा औषधिके प्रयोगसे वह दाहक 'शक्ति' नष्ट हो जाती है तो वही अग्नि दाह नहीं करता है। फिर जब उस मणि, मंत्रादिको हटा लिया जाय अथवा उसके साथ ही उत्तेजक मणिका भी प्रयोग कर दिया जाय तब अग्निकी दाहक 'शक्ति' फिर आ जानेसे वह फिर दाह करने लगता है। अग्निका स्वरूप, जिस समय वह दाह करता है और जिस समय दाह नहीं करता है दोनों दशाओंमें एक ही सा रहता है परन्तु कार्यमें भेद देखा जाता है। इसका कारण उसकी 'शक्ति' ही है। इसलिए 'शक्ति' को अग्निके स्वरूपसे अतिरिक्त मानना चाहिए। उसको अलग माने बिना वही अग्नि एक समय दाह करता है और मणि, मंत्रादिके प्रयोग कर देनेपर स्वरूपतः ज्यों का त्यों रहनेपर भी दाह नहीं करता इसका उपपादन नहीं हो सकता है। अत एव 'शक्ति'को अलग पदार्थ मानना आवश्यक है यह मीमांसकका दृष्टिकोण है।

तत्र वह्न्यनुकूलैकशक्तिमत्त्वेन कारणता, शक्तिश्च पदार्थान्तरं, प्रतिव्यक्ति नाना। अनित्ये अनित्या, 'नित्ये नित्यैव सा शक्तिरनित्ये भावहेतुजा' इति तत्सिद्धान्तात्। वह्न्यनुकूला तृणारणिमणिनिष्ठा शक्तिर्नित्येति तु मतान्तरम्।

मीमांसकके इस 'शक्ति' सिद्धान्तको मान लेनेपर चार्वाक द्वारा प्रस्तुत किए गए 'व्यतिरेक व्यभिचार' दोषका वारण सरलतासे किया जा सकता है। तृण, अरणि, और मणि यह तीन अग्निके प्रति कारण हैं। परन्तु यह स्वरूपतः वह्निके कारण नहीं है अपितु 'वह्न्यनुकूलशक्तिमत्त्वेन' कारण हैं। जैसे अग्नि दाहके प्रति स्वरूपतः कारण नहीं है अपितु 'दाहानुकूल शक्ति' होनेसे कारण है। अग्निका स्वरूप तो जिस समय वह दाह करता है अर्थात् जिस समय उसमें दाहक शक्ति रहती है और जिस समय दाहक शक्ति नहीं रहती दोनों दशाओंमें एक ही सा रहता है। इसलिए जैसे अग्नि स्वरूपतः दाहके प्रति कारण नहीं है अपितु 'शक्तिमत्त्वेन' कारण है इसी प्रकार तृण, अरणि और मणि स्वरूपतः वह्निके प्रति कारण नहीं हैं अपितु 'वह्न्यनुकूलैकशक्तिमत्त्वेन' ही कारण है। अर्थात् उनका कारणतावच्छेदक धर्म तृणत्व, अरणित्व, मणित्व नहीं अपितु 'वह्न्यनुकूलैकशक्तिमत्त्व' है। ऐसी दशामें अग्निका 'अन्वय-व्यतिरेक' तृण, अरणि और मणिके साथ नहीं अपितु 'वह्न्यनुकूलैकशक्तिमत्त्व'के साथ होगा। अर्थात् 'वह्न्यनुकूलैकशक्तिमत्त्वे सति वह्निसत्ता, वह्न्यनुकूलैकशक्तिमत्त्वाभावे सति वह्न्यभावः' यह अन्वय-व्यतिरेकका स्वरूप बनेगा। इस स्वरूपके माननेपर न अन्वयका व्यभिचार होता है और न व्यतिरेकका। क्योंकि 'वह्न्यनुकूलैकशक्तिमत्त्व' के होनेपर ही तृण, अरणि और मणिसे वह्नि उत्पन्न होता है उसके अभावमें किसीसे भी उत्पन्न नहीं हो सकता है। इसलिए अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों घट जानेसे तृण, अरणि और मणि तीनों वह्निके कारण सिद्ध हो जाते हैं। अतएव चार्वाकने जो 'व्यतिरेक-व्यभिचार' दिखलाकर कारणताका खण्डन करना चाहा था वह उचित नहीं है। इस प्रकार मीमांसकके 'शक्तिवाद' के आधारपर कारणताकी सिद्धि की जा सकती है। इसीको टीकाकारने निम्न रूपमें प्रस्तुत किया है—

उन [तृण, अरणि, मणि]में 'वह्न्यनुकूलैकशक्तिमत्त्वेन' कारणता [है]। और शक्ति [तृणादि पदार्थोंसे भिन्न] अलग पदार्थ है। [जो] प्रत्येक पदार्थ [व्यक्ति] में अलग-अलग है। अनित्य [पदार्थ]में अनित्य [शक्ति और नित्य पदार्थमें नित्य शक्ति रहती] है [क्योंकि] नित्य [पदार्थ]में वह शक्ति नित्य ही [होती है] और अनित्य [पदार्थ]में [भावहेतु अर्थात्] उस पदार्थके कारणसे उत्पन्न [अनित्य] होती है ऐसा उन [मीमांसकों]का सिद्धान्त [होनेसे] है।

शक्तिसिद्धान्तका खण्डन—

इस प्रकार मीमांसकोंके शक्ति-सिद्धान्त और उसके नित्यशक्तिपक्ष तथा अनित्य-शक्तिपक्ष दोनों पक्षोंको प्रदर्शित कर उसका खण्डन करनेके लिए न्याय मत प्रस्तुत

करते हैं। इस न्याय मतके अनुसार मीमांसकके शक्ति-सिद्धान्तके माननेमें तीन प्रकारके दोष आते हैं। १. 'धूमादिना वह्न्यनुमानं न स्यात्', २. 'प्रतिनियमो न स्यात्' और ३. 'गौरवं च स्यात्'। इनमेंसे पहिले दोनों दोष मूल पाठमें दिखलाए हैं तीसरा गौरववाला दोष यहाँ मूलमें नहीं दिया है परन्तु वह भी आगे दिया होनेसे अभिप्रेत है। इस प्रकार तीन दोषोंके आनेके कारण मीमांसकका शक्तिवाद सिद्धान्त ठीक नहीं है यह नैयायिकका अभिप्राय है। इन तीनों दोषोंका आशय निम्न प्रकार है—

१. पहिला दोष है 'धूमादिना वह्न्यनुमानं न स्यात्' अर्थात् यदि शक्ति-सिद्धान्त को मान लिया जाय तो धूमादिसे जो वह्नि आदिका अनुमान होता है वह नहीं बनेगा। इसका कारण यह है कि अनुमानके लिए धूम और वह्निकी व्याप्तिका ग्रहण आवश्यक है। और उस व्याप्तिका ग्रहण 'धूमो यदि वह्निव्याप्यो न स्यात् वह्निजन्यो न स्यात्' इस तर्कसे सहकृत धूम और अग्निके 'भूयः सहचारदर्शन' से होता है। इस व्याप्तिग्रहमें सहकारी जो 'धूमो यदि वह्निव्याप्यो न स्यात् वह्नि-जन्यो न स्यात्' रूप तर्क है वह धूम और वह्निके कार्य-कारणभावपर आश्रित है। और 'सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति' द्वारा सकलधूम और सकल वह्निके सहचार-ग्रहण द्वारा उनकी व्याप्तिका ग्रहण होता है। इस 'सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति' में धूमत्व-सामान्यसे युक्त अर्थात् धूमत्वावच्छिन्न और वह्नित्वसामान्यसे युक्त अर्थात् वह्नित्वा-वच्छिन्नका कार्य-कारणभाव समाविष्ट होता है। उससे धूमत्व तथा वह्नित्वसामान्य के द्वारा सब देश और सब कालके धूम और वह्निके ग्रहण मानकर ही उनकी व्याप्ति या नित्य सम्बन्धका निश्चय होता है। इसीको 'सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति' कहते हैं। अर्थात् व्याप्तिग्रह और उसके द्वारा अनुमानकी प्रवृत्तिके लिए धूमत्वा-वच्छिन्न [धूम] और वह्नित्वावच्छिन्न [वह्नि] का कार्य-कारणभाव मानना आवश्यक है। परन्तु आपके शक्तिसिद्धान्तके अनुसार वह्नि, स्वयं वह्नित्वेन अर्थात् वह्नित्वा-वच्छिन्न रूपसे धूमके प्रति कारण नहीं है अपितु 'धूमानुकूलैकशक्तिमत्त्वावच्छिन्नत्वेन' कारण है। इसलिए एक तो धूम और वह्निकी व्याप्ति नहीं बनेगी इसलिए धूमसे वह्निका अनुमान नहीं हो सकेगा। और दूसरे धूम कार्य है, उसमें रहनेवाला धर्म धूमत्व 'कार्यतावच्छेदक' धर्म हुआ। इसी प्रकार वह्नि कारण है, उसमें रहनेवाला धर्म वह्नित्व 'कारणतावच्छेदक' धर्म होना चाहिए था। परन्तु आपके शक्तिसिद्धान्त के अनुसार कारणतावच्छेदक धर्म 'वह्नित्व' नहीं अपितु 'धूमानुकूलैकशक्तिमत्त्व' है। साधारण नियमके अनुसार कार्यतावच्छेदकावच्छिन्न, कारणतावच्छेदकावच्छिन्नका अनुमापक होता है। यहाँ प्रकृतमें 'धूमत्वावच्छिन्न' धूम कार्य है, वह 'कारणता-वच्छेदकावच्छिन्न' अर्थात् 'धूमानुकूलैकशक्तिमत्त्वावच्छिन्न'का अनुमापक होगा, 'वह्नित्वा-वच्छिन्न' अर्थात् वह्निका अनुमापक नहीं होगा। इसलिए यदि शक्तिसिद्धान्तको

माना जाय तो इन दो कारणोंसे धूम आदिसे वह्नि आदिका अनुमान करना असंभव हो जायगा। इस बातको ध्यानमें रखकर नैयायिकने मीमांसकके शक्तिवादके खण्डनमें पहिला दोष 'धूमादिना वह्न्यनुमानं न स्यात्' प्रस्तुत किया है।

२. शक्तिवादके खण्डनमें दूसरा दोष है 'प्रतिनियमो न स्यात्'। 'प्रतिनियम' शब्दका अर्थ है व्यवस्था। अरणिके मन्थनसे ही अग्नि पैदा होता है, प्रतिफलित रविकिरण और मणिके समवधानमें ही वह्नि पैदा होता है और तृण तथा फूत्कार का समवधान ही वह्निका कारण है। यह व्यवस्था पाई जाती है। इसीको यहाँ 'प्रतिनियम' शब्दसे निर्दिष्ट किया है। यदि शक्ति-सिद्धान्तको माना जाय तो यह 'प्रतिनियम' या व्यवस्था नहीं बनेगी। क्योंकि शक्तिसिद्धान्तके अनुसार तृण, अरणि, मणि और उनके सहकारी फूत्कार, मन्थन तथा प्रतिफलित-रविकिरणसंयोग स्वरूपतः वह्निके प्रति कारण नहीं हैं अपितु वह्न्यनुकूलैकशक्तिमत्त्वेन ही यह सब कारण हैं। अर्थात् वह वह्न्यनुकूलैकशक्तिमत्त्व इन छहोंमें रहता है। तृण आदि स्वरूपतः वह्निके कारण नहीं हैं अपितु शक्तिमत्त्वेन ही कारण हैं इसलिए हम 'तृण और फूत्कारके समवधानमें वह्नि होता है' यह न कहकर 'वह्न्यनुकूलैकशक्तिमत्त्वावच्छिन्न'के 'वह्न्यनुकूलैकशक्तिमत्त्वावच्छिन्नान्तर'के साथ समवधानसे वह्नि उत्पन्न होता है यह कहनेके लिए बाध्य हैं। क्योंकि एक कारणतावच्छेदकावच्छिन्नके कारणतावच्छेदकान्तरावच्छिन्न के समवधानमें कार्योत्पत्ति देखी जाती है। इस प्रकार कहनेका अर्थ यह हुआ कि वह्न्यनुकूलैकशक्तिमत्त्वावच्छिन्नद्वयके समवधानमें वह्नि उत्पन्न होना चाहिए। तृणादि छहों ही इस वह्न्यनुकूलशक्तिसे युक्त हैं अत एव उनमेंसे किन्हीं दोका समवधान वह्निजनक हो सकेगा। अर्थात् तृण और मन्थन, अरणि और रविकिरण, मणि और फूत्कार आदिके सम्बन्धसे भी वह्नि उत्पन्न होने लगेगा। इसलिए शक्तिसिद्धान्तके माननेपर तृण और फूत्कार आदिके समवधानकी जो बनी हुई व्यवस्था है वह नहीं रह सकेगी। यही 'प्रतिनियमो न स्यात्' इस दूसरे दोषका अभिप्राय है।

३. शक्तिवादके माननेमें तीसरा दोष 'गौरव' आता है। इस दोषकी मीमांसा आगे की गई है। इस प्रकार इन दोषोंके कारण मीमांसकका शक्तिसिद्धान्त स्वीकार नहीं किया जा सकता, यह नैयायिकका आशय है।

चार्वाक पक्षका पुनरुत्थान—

इस प्रकार जब मीमांसकके शक्तिवादका खण्डन हो जाता है तो इस शक्ति सिद्धान्तके आधारपर जो चार्वाकका खण्डन किया गया था वह भी स्वयं समाप्त हो जाता है। उस दशामें मूल कार्य-कारण-सिद्धान्तके माननेमें चार्वाकने जो व्यतिरेक व्यभिचारका दोष दिखाया था और जिसका शक्ति-सिद्धान्तके अनुसार निराकरण किया गया था वह दोष पुनरुज्जीवित हो जाता है। इसलिए चार्वाकके उस मूलदोषके समाधान करनेका भार नैयायिकपर आ पड़ता है। अत एव 'न्यायमतन्तु' कहकर न्यायमतसे उस 'व्यतिरेक-व्यभिचार' दोषका निराकरण किया गया है।

न्यायमतन्तु तृणादिजन्यतावच्छेदकं वैजात्यमेव, विजातीयेष्वेकजातीयकार्यानुकूलशक्तिकल्पने १ धूमादिना वह्न्यनुमानं न स्यात् । २ न स्याच्च तृणफूत्कारसमवधानस्य, निर्मन्थनारणिसमवधानस्य, प्रतिफलितरविकिरणसमवधानस्य च प्रतिनियमः । कारणतावच्छेदकावच्छिन्नस्यैव कारणतावच्छेदकान्तरावच्छिन्नसमवधाने कार्यजननस्य दृष्टत्वात्, फूत्कारमणिसम्बन्धादितोऽपि वह्न्यापत्तेः ।

न्यायमतसे उसका निराकरण—

न्यायमतसे निराकरणका आधार कार्योंमें 'वैजात्य-कल्पना' है । तृण, अरणि और मणिसे जो वह्नि उत्पन्न होते हैं वे सब विजातीय, अलग-अलग प्रकारके वह्नि हैं, एक प्रकारके नहीं । अर्थात् तृणसे उत्पन्न वह्नि विजातीय, अलग है, और मणिसे जन्य वह्नि भी उससे बिल्कुल भिन्न, विजातीय है । इसी प्रकार अरणिजन्य वह्नि उन दोनोंसे भिन्न बिल्कुल अलग तीसरे प्रकारका विजातीय वह्नि है । इस प्रकार जब इन तीनों वह्नियोंको वैजात्य कल्पना द्वारा अलग-अलग मान लिया जाता है तब तृणादिका अन्वय-व्यतिरेक उस विशेष वह्निके साथ ही बनेगा, वह्निमात्रके साथ नहीं । इसलिए अन्वय-व्यतिरेकका स्वरूप यह होगा—'तृणसत्त्वे तार्णवह्निसत्ता' और 'तृणाभावे तार्णवह्न्यभावः ।' तृणके होनेपर तार्ण अर्थात् तृणजन्य वह्निकी सत्ता होती है और तृणके अभावमें तार्ण अर्थात् तृणजन्य वह्निका अभाव होता है । अब इस रूपमें 'अन्वय-व्यतिरेक' माननेमें कोई दोष नहीं आता है । क्योंकि चार्वाकने जो दोष दिया था वह तो इस प्रकार ही था कि तृणके अभावमें मणिजन्य वह्नि पाया जाता है इसलिए व्यतिरेक व्यभिचार आता है । अब तो तृणका व्यतिरेक तार्ण वह्निके साथ है । तृणके अभावमें मणिजन्य वह्नि भले ही रहे परन्तु तार्ण वह्निका अवश्य अभाव होगा । इस प्रकार नैयायिकने कार्यमें वैजात्य कल्पना द्वारा व्यतिरेक-व्यभिचारका वारण भी कर दिया और शक्तिवादका खण्डन भी कर दिया है ।

न्याय मत [में] तो तृणादि जन्यतावच्छेदक [अर्थात् तृण, अरणि, मणिजन्य वह्नियोंमें जन्यतावच्छेदक धर्म वह्नित्व नहीं अपितु तार्णवह्नित्व आदिरूप] वैजात्य ही है । विजातीयों [तृण, अरणि, मणि] में एकजातीय कार्य [वह्नि] के अनुकूल [वह्निजनक] शक्तिकी कल्पना करनेपर [दो दोष होंगे । जिनमें पहिला] धूम आदिसे वह्नि आदिका अनुमान नहीं हो सकेगा [यह दोष होगा । और दूसरा] और न ही तृण और फूत्कारके समवधानकी, मन्थन और अरणिके समवधानकी, तथा प्रतिफलित सूर्यकिरण और मणिके समवधानकी व्यवस्था बन सकेगी । एक कारणतावच्छेदकावच्छिन्न [कारण तृणादि] के दूसरे कारणतावच्छेदकावच्छिन्नान्तर [कारण मन्थन आदि] के साथ मिलनेसे कार्योत्पत्तिके देखे जानेसे फूत्कार और मणि आदिके समवधानमें भी वह्निकी उत्पत्ति होने लगेगी । [इसलिए शक्तिसिद्धान्त ठीक नहीं है ।]

यदि च तृणफूत्कारादिसम्बन्धादिषु वह्न्यनुकूला एका शक्तिः कल्प्यते तदा नैतत् समाधानम् । परन्तु तार्णवह्न्यादिनिष्ठं वैजात्यं प्रत्यक्षसिद्धं दीपत्वादिवदिति न पदार्थान्तरशक्तिकल्पनम् ।

अमुमर्थमाह—

प्रवाहो नादिमानेष न विजात्येकशक्तिमान् ।
तत्त्वे यत्नवता भाव्यमन्वयव्यतिरेकयोः ॥ ६ ॥

एष कार्यकारणप्रवाहः नादिमान् अनादिः । विजातीयेषु तृणादिषु एकशक्तिमान् न प्रवाहः । अन्वयव्यतिरेकयोस्तत्त्वे नियतत्वे निर्वाह्ये यत्नवता भाव्यं, यत्नः करणीयः, वैजात्यं कल्पनीयमिति भावः । वह्निसामान्यं प्रति तु विजातीयोष्णस्पर्शवत्तेज एव कारणम् ॥ ६ ॥

शक्तिवादका पुनरुत्थान और पुनः खण्डन—

हाँ, यदि [मीमांसक] तृण और फूत्कारके समवधान-सम्बन्धमें वह्न्यनुकूल एक शक्तिकी कल्पना करे [अर्थात् तृण और फूत्कारकी सम्मिलित समष्टिमें, इसी प्रकार मणि और प्रतिफलित रविकिरणके सम्बन्धमें सम्मिलित रूपसे, और इसी प्रकार अरणि तथा मन्थनके समवधानमें सम्मिलित रूपसे शक्तिकी कल्पना करे] तो यह समाधान नहीं [हो सकता] है । [अर्थात् मीमांसकके शक्तिवाद का जो खण्डन किया है वह नहीं बनेगा] परन्तु तृणजन्य वह्न्यादिमें [अर्थात् तृण, अरणि और मणिजन्य वह्नियोंमें] वैजात्य प्रत्यक्षसिद्ध है दीपत्वादिके समान । [अर्थात् जैसे भिन्न-भिन्न दीपकोंकी लौमें भेद प्रत्यक्षसिद्ध है इसी प्रकार तृणजन्य वह्नि, मणिजन्य वह्नि और अरणिजन्य वह्नि प्रत्यक्ष ही अलग-अलग भिन्न प्रकारके दिखलाई देते हैं । इसलिए कार्यमें वैजात्य मानना तो अनिवार्य है । फिर जब उस वैजात्यसे कार्य चल जाता है तब शक्ति पदार्थको मानना व्यर्थ है] अत एव अलग शक्ति पदार्थकी कल्पना [उचित] नहीं ।

इस अर्थको [कारिकाकार] कहते हैं—

[यह-कार्य कारण] प्रवाह अनादि है, विजातीयों [तृण, अरणि, मणि आदि]में एक शक्तिमान् [वह्न्यनुकूल एक शक्तिमान्] नहीं है । [शक्ति माने बिना] अन्वय-व्यतिरेकके तत्त्व अर्थात् नियतत्व में [जो व्यतिरेक व्यभिचार प्रतीत होता है उसका निवारण कर अन्वय-व्यतिरेकका ठीक निर्वाह करनेके लिए] यत्नवान् होना चाहिए ।

यह कार्य-कारण-प्रवाह नादिमान् अर्थात् अनादि है । विजातीय तृणादिकोंमें एकशक्तिमान् प्रवाह नहीं है । अन्वय व्यतिरेकके तत्त्व अर्थात् नियतत्त्वके निर्वाहमें यत्न करना चाहिए । अर्थात् वैजात्य कल्पना करनी चाहिए । वह्निसामान्यके प्रति तो विजातीय उष्णस्पर्शवत् तेज ही कारण है ॥ ६ ॥

ब्रह्मकारणपक्षका उत्थान और निराकरण—

इस प्रकार चतुर्थ कारिकामें दिए हुए अदृष्टसाधक पाँच हेतुओंमें से 'सापेक्षत्वात्'

ननु यथा एक एव दीपः, आलोककारी, वर्तिविकारकारी, घटादिप्रकाशकारी च तथा एकमेव ब्रह्म किं वा कार्यकारणयोरभेदात् प्रतिपुरुषं विभिन्नबुद्धेरभिन्ना प्रकृतिरेव हेतुरस्तु। तथा च नादृष्टाधिष्ठातृतयेश्वरसिद्धिः। इत्यत्राह—

एकस्य न क्रमः क्वापि, वैचित्र्यं च समस्य न।
शक्तिभेदो न चाभिन्नः, स्वभावो दुरतिक्रमः॥ ७॥

एकस्य कारणस्य नियम्यो न कार्याणां क्रमः। समस्य एकजातीयस्य कारणस्य प्रयोज्यञ्च न कार्याणां वैचित्र्यम्। तथा च क्रमिककार्यनिर्वाहकतया क्रमिककारणसिद्धिः, विजातीयकार्यजनकतया च विचित्रहेतुसिद्धिरित्यर्थः। शक्तिभेदादेव सजातीयादेकस्मात् कार्यवैजात्यमिति शङ्कां निराकुरुते 'शक्तिभेदो न चाभिन्न' इति। 'चो' हेतौ, न शक्तिभेदः, अभिन्नो यतः, शक्तिशक्तिमतोरभेदात्।

और 'अनादित्वात्' इन दो हेतुओंकी विशेष व्याख्या क्रमशः पञ्चम तथा षष्ठ कारिकामें की गई है। अब तीसरे हेतु 'वैचित्र्यात्'की विशेष व्याख्या अगली कारिकामें करते हैं—

अच्छा [यदि कारण मानना अनिवार्य ही है] तो जैसे एक दीपक ही आलोक भी करता है, बत्तीका विकार [जलाना] भी करता है और घट आदिको प्रकाशित भी करता है इसी प्रकार एक 'ब्रह्म' अथवा कार्य-कारणके अभेद [सांख्याभिमत सिद्धान्त]से प्रति पुरुष [के भेदसे] भिन्न-भिन्न बुद्धिसे अभिन्न [नाना बुद्धयात्मिका एकजातीया] प्रकृति ही [जगत्का] हेतु हो [सकती है]। इसलिए [फिर भी] अदृष्टके अधिष्ठाता रूपमें ईश्वरकी सिद्धि नहीं [हो सकती] है। इस प्रकारका पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर कहते हैं—

एक [कारण 'ब्रह्म'] से [कार्योंका] क्रम नहीं [बन सकता] है और एकजातीय समरूप प्रकृति] से [कार्योंका] वैचित्र्य नहीं [बन सकता] है। शक्तिभेद भी [एक या एक 'ब्रह्म' या एकजातीय 'प्रकृति'से क्रमिक और विचित्र कार्योंका उपपादन] नहीं [कर सकता] है। क्योंकि [वह शक्तिमान् 'ब्रह्म' या 'प्रकृति'से] अभिन्न है। स्वभावका अतिक्रमण नहीं हो सकता है। [इसलिए 'ब्रह्म' या 'प्रकृति'के स्वभाव भेदसे भी] क्रमिक और विचित्र कार्योंका उपपादन नहीं हो सकता है।

एक कारण [ब्रह्म] के द्वारा कार्योंके क्रमका नियमन नहीं हो सकता है। और सम अर्थात् एकजातीय कारण [प्रकृति] से कार्योंके वैचित्र्यका उपपादन नहीं हो सकता है। इसलिए क्रमिक कार्योंके निर्वाहके लिए क्रमिक कारणकी सिद्धि और विजातीय कार्यके जनक रूपमें विजातीय हेतुकी सिद्धि होती है। [यह क्रमिक और विचित्र कारण ही 'अदृष्ट' है]। समानजातीय [प्रकृति अथवा] एक [ब्रह्म] से शक्तिभेद द्वारा कार्यमें भिन्नता [और क्रम उत्पन्न हो सकता] है इस शङ्काका 'शक्तिभेदो न चाभिन्नः'से निराकरण करते हैं। [यहाँ] 'च' हेत्वर्थक है। शक्तिभेद [उपयोगी] नहीं है क्योंकि वह शक्तिमान्‌से अभिन्न है। [सांख्य और वेदान्तके

भेदे च तस्यैव कारणत्वस्वीकारे एकमात्रकारणत्वभङ्गप्रसङ्गो द्वैतापत्तिश्चेत्यर्थः। ननु स्वभावादेव एककारणस्य विचित्रकार्यनिर्वाहकत्वमित्यत्राह, 'स्वभावो दुरतिक्रम' इति। एकस्मिन् कार्ये जनयितव्ये यः स्वभावः कार्यान्तरजननकाले तस्यानुवृत्तौ दहनस्यापि जलादित्वं स्यात्, स्वभावस्य दुरपह्नवत्वादित्यर्थः। प्रदीपस्थले तत्तत्कार्यसामग्रीभेदकल्पनादिति भावः ॥ ७ ॥

ननु दण्डादिर्घटादौ हेतुरस्तु न तु यागादिः स्वर्गादिहेतुरित्यत्राह—

विफला विश्ववृत्तिर्नो न दुःखैकफलापि वा।
दृष्टलाभफला नापि विप्रलम्भोऽपि नेदृशः ॥ ८ ॥

मतमें] शक्ति और शक्तिमान्‌का अभेद होनेसे। [और शक्ति शक्तिमान्‌का] भेद [मानने] में एकमात्र कारण [अद्वैतवाद] का भङ्ग होगा [क्योंकि शक्ति तथा शक्तिमान् दो अलग-अलग कारण हुए ऐसी दशामें] द्वैतापत्ति भी होगी। [अतः एक 'ब्रह्म' या प्रकृतिसे शक्तिभेद द्वारा भी क्रमिक तथा विचित्र जगत्‌की उत्पत्ति नहीं बन सकती है]। अच्छा तो फिर स्वभावसे ही एक कारणका विचित्र कार्य जनकत्व [मान लें] इस शङ्का [के होने] पर [समाधान] कहते हैं 'स्वभावो दुरतिक्रमः'। एक कार्यके उत्पन्न करनेमें जो स्वभाव है दूसरे कार्यके उत्पत्तिकालमें भी यदि वह स्वभाव रहता है तो अग्निका भी जलादित्व प्राप्त होगा। क्योंकि स्वभावका लोप होना असम्भव है। [इसलिए जिस स्वभावसे जल बना है उसीसे अग्नि भी बना है तो अग्नि भी जलरूप ही होगा। इसलिए एक 'ब्रह्म' अथवा एक जातीय 'प्रकृति'से क्रमिक तथा विचित्र कार्योंकी उत्पत्तिका उपपादन नहीं हो सकता है। उदाहरणमें जो एक ही प्रदीपको आलोक, वर्तिविकार और घटादि प्रकाशरूप अनेक कार्योंका कारण बताया है वहाँ भी न्यायसिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक कार्यकी कारणसामग्री अलग-अलग है यह समाधान करते हैं] प्रदीप स्थलमें उस-उस कार्यकी सामग्रीके भेदकी कल्पना [करनी चाहिए] यह अभिप्रायः। [इस प्रकार तीसरे हेतु वैचित्र्यात् की व्याख्या हुई] ॥ ७ ॥

अदृष्टकारणसिद्धि की भूमिका—

चतुर्थ कारिकामें 'अदृष्ट'की सिद्धिके लिए दिए हुए पाँच हेतुओंमें से तीनकी विशेष व्याख्या क्रमशः ५, ६, ७ कारिकाओंमें की जा चुकी है। अब क्रम प्राप्त चतुर्थ हेतु 'विश्ववृत्तितः' की विशेष विवेचना अगली आठवीं कारिकामें प्रारम्भ करते हैं—

अच्छा तो दण्ड आदि [जो प्रत्यक्ष रूपसे कारण प्रतीत होते हैं वे] घटादिके हेतु [भले ही] हों परन्तु [जिसमें प्रत्यक्ष कारणता दिखलाई नहीं देती ऐसा] यागादि स्वर्गादिका हेतु नहीं [हो सकता] है। इस [पूर्वपक्षके होने] पर कहते हैं—

[यागादिमें] समस्त [परलोकार्थियोंकी] की प्रवृत्ति व्यर्थ नहीं है, और न केवल दुःख मात्र उसका फल है। लौकिक [पूजा ख्याति आदि] लाभ भी उसका फल नहीं और इस प्रकारकी प्रवञ्चना भी नहीं हो सकती है।

विश्वेषां परलोकार्थिनां स्वर्गाद्यर्थं यागादौ प्रवृत्तिर्विफला न। न वा दुःखमात्रफलिका, प्रवृत्तेरिष्टसाधनताधीसाध्यत्वात्। न च दृष्टलाभफला पूजाख्यातिधनादिफला तन्निरपेक्षैरपि तदाचरणात्। केनचित् प्रतारकेण स्वर्गादिफलकतया यागादिकं प्रकल्प्य स्वयमनुष्ठायान्धितो लोकः प्रवर्तते इत्यत्राह, 'विप्रलम्भोऽपि नेदृशः' इति। क एवं लोकोत्तरो यः परप्रतारणार्थं नानाविधक्लेशहेतुकर्मभिरात्मानमवसादयेत्। तथा च यागादिप्रवृत्तिरेव स्वर्गादिफलकत्वे यागादेर्मानमिति ॥ ८ ॥

ननु यागादि स्वर्गादिहेतुरस्तु, न तु तज्जन्यादृष्टं तथेत्यत आह—

चिरध्वस्तं फलायालं न कर्मातिशयं विना।
सम्भोगो निर्विशेषाणां न भूतैः संस्कृतैरपि ॥ ९ ॥

समस्त परलोकार्थियोंकी स्वर्गादि [प्राप्ति] केलिए यागादिमें प्रवृत्ति व्यर्थ नहीं है। और न दुःखमात्र फलक है। [क्योंकि किसी कार्यमें] इष्टसाधनता ज्ञान [इस कार्यसे मेरे इष्टकी सिद्धि होगी, इदं मदिष्टसाधनम् इस प्रकारके ज्ञान] से ही प्रवृत्ति साध्य है। और न दृष्टलाभ लौकिक पूजा ख्याति धन आदि लाभ फलक है। क्यों उन [लौकिक पूजा ख्याति आदि फलों] को न चाहनेवाले लोग भी यागादि करते हैं। किसी ठगने यागादिसे स्वर्गादि फल होता है इस प्रकारकी कल्पना गढ़कर और स्वयं अनुष्ठान करके लोगोंको अन्धा कर दिया है उससे लोग [यागादि] में प्रवृत्त होते हैं ऐसी शङ्का [करने] पर कहते हैं 'विप्रलम्भोऽपि नेदृशः'। प्रवञ्चना [ठगी] भी ऐसी नहीं हो सकती है। कौन ऐसा अलौकिक पुरुष होगा जो केवल दूसरोंको धोखा देनेके लिए नाना प्रकारके क्लेशोंके हेतुभूत कर्मोंसे अपनेको पीडित करे। इसलिए यागादिमें लोगोंकी प्रवृत्ति ही यागादिके स्वर्ग-साधनत्वमें प्रमाण है ॥ ८ ॥

अदृष्ट कारणकी सिद्धि—

'अदृष्ट' की सिद्धिके लिए चतुर्थ कारिकामें दिए हुए १ सापेक्षत्वात्, २ अनादित्वात्, ३ वैचित्र्यात् तथा ४ विश्ववृत्तितः इन चार हेतुओंकी विशेष विवेचना पाँचसे लेकर आठ तककी कारिकाओंमें की जा चुकी है। अब अन्तिम पाँचवें हेतुकी विशेष व्याख्या अगली नवम कारिकामें प्रारम्भ करते हैं—

अच्छा तो यागादि [भले ही] स्वर्गादिका हेतु हो जाय परन्तु उससे उत्पन्न अदृष्ट तो [स्वर्गादिका हेतु] नहीं [हो सकता है] इस पर कहते हैं—

चिरकाल पूर्व नष्ट हुआ [यागादि] कर्म [तत्कालपर्यन्त स्थिर रहनेवाले अतिशय] अवान्तर व्यापारके बिना [कालान्तरभावी स्वर्गादि] फलके [उत्पादनके] लिए समर्थ नहीं [हो सकता] है। और [शरीरादि] भूतोंको संस्कारयुक्त माननेपर भी अदृष्टरूप विशेष गुणसे शून्य आत्माओंमें प्रतिनियत [अलग-अलग] भोग नहीं [बन सकता] है।

चिरध्वस्तं यागादि कर्म अतिशयं तत्फलानुकूलं व्यापारं विना फलाय नालं न समर्थम्। चिरध्वस्तकारणस्य व्यापारद्वारेणैव हेतुत्वम्। यथानुभवस्य संस्कारद्वारकस्य स्मृतौ।

ननु भोग्यनिष्ठमदृष्टं कारणमस्तु इति जिज्ञासायामाह 'सम्भोग' इति। निर्विशेषाणां अदृष्टरूपविशेषगुणशून्यानां आत्मनां सम्भोगः प्रत्यात्मनियतो भोगः, संस्कृतैरपि अदृष्टवत्तया स्वीकृतैरपि भूतैर्न स्यात्। भूतानां शरीरादीनां सर्वात्मसाधारण्यात्, तददृष्टाकृष्टैरेव शरीरेन्द्रियादिभिः तद्भोगजननादित्यर्थः॥६॥

चिरकाल पूर्व नष्ट हुआ [यागादि] कर्म अतिशय अर्थात् उस फलके जनक अवान्तर व्यापारके बिना [स्वर्गादि] फलके [उत्पादनके] लिए समर्थ नहीं है। बहुत पहिले नष्ट हुआ [कोई कर्म] अवान्तर व्यापार द्वारा ही [कालान्तरभावी फलका] हेतु हो सकता है। जैसे [चिरध्वस्त] अनुभव संस्कार द्वारा स्मृतिमें [हेतु होता है]।

अदृष्टकी भोग्यनिष्ठताका निराकरण—

अच्छा [यदि अदृष्ट मानना ही है] तो भोग्यनिष्ठ अदृष्ट ही [स्वर्गादि फलका] कारण हो [भोक्ता आत्मामें अदृष्ट माननेकी क्या आवश्यकता है] इस जिज्ञासामें कहते हैं 'सम्भोग' इति। निर्विशेष अर्थात् अदृष्टरूप विशेष गुणसे रहित आत्माओंको सम्भोग अर्थात् प्रतिनियत भोग [एक ही पदार्थसे अलग-अलग आत्माको सुख-दुःखरूप अलग-अलग प्रकारका भोग], भूत अर्थात् भौतिक शरीर आदिको संस्कृत संस्कारयुक्त [भोग्यनिष्ठ अदृष्ट युक्त] माननेपर भी नहीं बन सकता है। भूत अर्थात् [भोग्य] शरीरादिके सबकेलिए साधारण होनेसे [उन भोग्य वस्तुओंसे सबको समान ही भोग हो सकता है। अलग-अलग व्यक्तिको अलग-अलग प्रकारका भोग नहीं हो सकता है]। उसके [प्रत्येक आत्माके अपने-अपने] अदृष्टसे प्राप्त [अपने-अपने] शरीरादि द्वारा उस [उस आत्मा] का भोग उत्पन्न होता है। अतः भोक्ता आत्मामें ही अदृष्ट मानना चाहिए॥९॥

शक्तिवादका पुनरुत्थापन—

इस प्रकार अदृष्टकी सिद्धिके लिए लिखी गई चौथी कारिकामें संक्षेप रूपसे १. सापेक्षत्वात्, २. अनादित्वात्, ३. वैचित्र्यात्, ४. विश्ववृत्तितः और ५. प्रत्यात्मनियमाद् भुक्तेः, ये जो पाँच हेतु प्रस्तुत किए गए थे उनकी एक बार उस कारिकामें और उसके बाद एक-एक अलग हेतुकी विशेष व्याख्या एक-एक कारिकामें देकर चौथीसे नवम कारिका तक छः कारिकाओंमें उनकी भली प्रकार विवेचना की गई। और उस विवेचनाके द्वारा आत्मनिष्ठ अदृष्टकी सत्ता आवश्यक सिद्ध की गई है। इस बीचमें पाँचवीं कारिकामें प्रसङ्गतः मीमांसकके 'शक्ति सिद्धान्तकी' आलोचना भी की गई थी। परन्तु वहाँ वह आलोचना अपूर्ण रह गई थी। इधर भोग्यनिष्ठ अदृष्ट पक्षका खण्डन नवम कारिकामें और 'प्रत्यात्मनियमाद् भुक्तेः' इस हेतुमें किया गया था वह भी मीमांसासे सम्बन्ध रखता है अत एव 'शक्तिवाद' और 'भोग्यनिष्ठ अदृष्टवाद' इन

दोनों सिद्धान्तोंका प्रबलतर खण्डन करनेकेलिए दोनों सिद्धान्तोंको मिलाकर मीमांसकोंकी ओरसे नया पूर्वपक्ष उठाते हैं।

इस पूर्वपक्षका आशय यह है कि जैसे वह्निमें शक्ति रहनेपर ही मणि-मंत्रादिके प्रयोगसे पहिले अग्नि दाह करता है और मणि मंत्रादिका प्रयोग कर देनेपर शक्तिके नष्ट या कुण्ठित हो जानेपर वह्नि स्वरूपतः पहिलेके समान होते हुए भी दाह नहीं करता है। इस प्रकार वही अग्नि दो व्यक्तियोंको अलग-अलग भोगका कारण होता है। इसी प्रकार सर्वत्र भोग्यनिष्ठ अदृष्टको माननेपर भी उससे, प्रतिनियत भोग हो सकता है। इस पूर्वपक्षको दुबारा उठाते समय मीमांसकका अभिप्राय यह भी है कि वह अपने 'शक्ति सिद्धान्त' पर विशेष बल दे। उसका कहना है कि विना शक्तिके माने उसी अग्निसे एक समय दाह होता है एक समय दाह नहीं होता इस भेदका उपपादन नहीं हो सकता है। इसके विरुद्ध नैयायिक शक्तिसिद्धान्तका खण्डन करता है और दाहके होने और न होनेके इस अन्तरका समाधान वह 'प्रतिबन्धक-संसर्गाभाव'को कारण मानकर करता है। नैयायिकका कहना यह है कि संसारमें प्रत्येक कार्यकी अपनी कारण सामग्रीके अतिरिक्त प्रतिबन्धक संसर्गाभाव भी एक कारण है जो कार्यमात्रके प्रति साधारण कारण है। रामचन्द्रजीके राज्याभिषेककी सारी सामग्री उपस्थित थी परन्तु कैकेयी-काण्ड प्रतिबन्धक रूपमें उपस्थित हो गया और वह राज्याभिषेक कार्य नहीं हो सका। इसी प्रकार अन्य सभी जगह सारी सामग्री उपस्थित होनेपर भी यदि कोई प्रबल प्रतिबन्धक आ जाता है तो कार्य नहीं हो सकता है। यह सार्वजनीन अनुभव है। इसलिए नैयायिकके मतमें 'प्रतिबन्धक संसर्गाभाव'को कार्यमात्रके प्रति कारण मानना अनिवार्य है। इसलिए मणि-मंत्रादिके प्रयोगसे जब वही अग्नि दाह करनेमें असमर्थ हो जाता है तब उसका कारण प्रतिबन्धक संसर्ग है। जिसके कारण अन्य सारी दाह-सामग्री रहते हुए भी दाह नहीं होता है। और जहाँ उसी अग्निसे दाह होता है वहाँ 'प्रतिबन्धक-संसर्गाभाव' भी रहता है तभी दाह होता है। इसलिए 'प्रतिबन्धक-संसर्गाभाव' जिसको सर्वत्र कारण मानना अनिवार्य है उसीसे दाहके भाव और अभावका भी उपपादन हो सकता है तब व्यर्थको 'शक्ति' पदार्थकी कल्पना क्यों की जाय। यह नैयायिकका अभिप्राय है।

इसके विरोधमें मीमांसकका कहना है कि कारण तो कोई भाव पदार्थ ही हो सकता है अभाव किसीका कारण नहीं हो सकता है। इसलिए नैयायिकका 'प्रतिबन्धक-संसर्गाभाव'को कारण मानना उचित नहीं है। इसलिए दाहके अभाव और भावका उपपादन करनेकेलिए 'शक्ति'के माननेके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। इसके अतिरिक्त नैयायिक 'शक्ति' पदार्थको नहीं मानता है तो वह मणि-मंत्रादिके लिए 'प्रतिबन्धक' पदका प्रयोग कैसे करता है? क्योंकि उन मणि-मंत्रादिके प्रयोगसे न तो अग्निके स्वरूपमें कोई परिवर्तन होता है और यदि 'शक्ति' नहीं है तो शक्तिका नाश भी वह नहीं होता है। इस दृष्टिसे वह मणि-मंत्रादि सर्वथा अकिञ्चित्कर है।

ननु भोग्यादिनिष्ठ एव धर्मविशेषोऽतीन्द्रियः प्रतिनियतभोगादिनियामकोऽस्तु, यथा दाहादिनियामको वह्न्यादिनिष्ठः शक्तिभेदः। अन्यथा तादृशादेव करतलानलसंयोगात् सति प्रतिबन्धके दाहापत्तेः। न च मण्यभाव एव कारणमस्त्विति वाच्यम्। कारणत्वस्य भावत्वव्याप्यत्वात्। किन्तु शक्तिनाशं करोतीति मण्यादिः 'प्रतिबन्धक' उच्यते। तथा च शक्तिः स्वीकार्या। इत्यत्राह—

उस अकिञ्चित्कर मणि-मंत्रादिके लिए 'प्रतिबन्ध करनेवाला' इस अर्थके बोधक 'प्रतिबन्धक' शब्दका प्रयोग भी नहीं बन सकता है। इस 'प्रतिबन्धक' पदका प्रयोग करनेके लिए भी 'शक्ति' पदार्थका मानना आवश्यक है।

इस पूर्वपक्षको ग्रन्थकारने इस प्रकार रखा है—

अच्छा तो जैसे भोग्यादिनिष्ठ अतीन्द्रिय धर्म विशेष [अदृष्टादि] ही प्रतिनियत भोगका नियामक हो [सकता है], जैसे वह्नि आदिमें रहनेवाली शक्तिविशेष ही [प्रतिनियत] दाहादिकी नियामक होती है। अन्यथा [यदि शक्ति न माने तो] प्रतिबन्धक मणि-मंत्रादिका प्रयोग] होनेपर [स्वरूपतः] उसी प्रकारके हाथ और अग्निके संयोगसे [जैसा कि प्रतिबन्धकके प्रयोगके पूर्व था और दाहको उत्पन्न करता था, प्रतिबन्धकके होनेपर भी] दाह होना चाहिए। [परन्तु प्रतिबन्धक होनेपर शक्ति नाश हो जानेसे उस प्रकारका दाह होता नहीं है। इस भेदका उपपादन शक्ति माने बिना नहीं हो सकता है]। मण्यादिका अभाव [जिसे नैयायिक 'प्रतिबन्धक-संसर्गाभाव' कहता है] ही उस [दाहके भाव और अभाव]का कारण हो [सकता है] यह नहीं कह सकते हैं। [क्योंकि] कारणत्व [भावत्वव्याप्य] भाव पदार्थमें ही रहनेवाला धर्म है। [अर्थात् भाव ही कारण हो सकता है अभाव कारण नहीं हो सकता है। और शक्तिके माने बिना मण्यादिके अकिञ्चित्कर होनेसे उसे 'प्रतिबन्धक' भी नहीं कह सकते हैं।] किन्तु [शक्ति माननेपर तो मण्यादि उस] शक्तिका नाश कर देते हैं इसलिए मण्यादिको 'प्रतिबन्धक' कहा जा सकता है। इसलिए शक्ति अवश्य स्वीकार करनी चाहिए।

शक्तिवादका पुनः खण्डन—

यह मीमांसककी ओरसे पूर्वपक्ष हुआ। इस पूर्वपक्षमें मुख्यतः दो युक्तियाँ दी गई हैं। एक तो यह कि कारणत्व भावत्व-व्याप्य होता है अर्थात् भाव ही कारण हो सकता है अभाव कारण नहीं हो सकता है। और दूसरी यह कि अगर शक्तिको न माना जाय तो अकिञ्चित्कर मण्यादिको 'प्रतिबन्धक' नहीं कहा जा सकता है। इन्हीं दोनों बातोंका उत्तर कारिकाकारने इस कारिका द्वारा दिया है। उसका भाव यह है कि भाव ही कारण हो सकता है अभाव कारण नहीं हो सकता इसमें कोई विनिगमक विशेष हेतु नहीं है। भाव और अभाव दोनों कार्य तो होते ही हैं। मीमांसक भी घटको तोड़ देनेपर उत्पन्न घटाभावको कार्य मानता ही है। तो जब अभाव कार्य हो सकता है तो अभाव कारण भी हो सकता है। दूसरी बात 'प्रतिबन्धक' पदके प्रयोगकी कही

भावो यथा तथाभावः कारणं कार्यवन्मतः ।
प्रतिबन्धो विसामग्री तद्धेतुः प्रतिबन्धकः ॥ १० ॥

यथान्वयव्यतिरेकादिना अभावो ध्वंसः कार्यः तथाभावः कारणमपि, कारणत्वं भावत्वव्याप्यमित्यस्याप्रयोजकत्वात् । अकिञ्चित्करस्य प्रतिबन्धकत्वानुपपत्तिरित्यत्राह 'प्रतिबन्ध' इति । विसामग्री कारणाभावः, स च प्रकृते मण्याद्यभावस्याभावो मण्यादिः । तत्समवधानहेतुः पुरुष एव 'प्रतिबन्धकः' । स्वार्थे 'क' प्रत्ययेन च मण्यादौ प्रतिबन्धकपदप्रयोग इति भावः ।

गई थी । सो नैयायिक उसका समाधान यह करता है कि 'प्रतिबन्धक' शब्दका अर्थ विसामग्री अर्थात् सामग्री वैकल्य है । मणि-मंत्रादिके प्रयोगसे सामग्रीमें वैकल्य हो ही जाता है इसलिए मणि-मंत्रादि, 'प्रतिबन्ध' कहे जा सकते हैं और उनका प्रयोग करनेवाला पुरुष 'प्रतिबन्धक' कहलाता है । कारिकाका अर्थ इस प्रकार है—

जैसे भाव कारण होता है इसी प्रकार अभाव भी कारण हो सकता है कार्यके समान [अर्थात् भाव और अभाव दोनों कार्य होते हैं इसी प्रकार दोनों कारण भी हो सकते हैं ।] 'प्रतिबन्ध' [शब्द]का अर्थ [विसामग्री] सामग्री वैकल्य है [अतः सामग्री वैकल्य रूप मणि-मंत्रादि 'प्रतिबन्ध' पदवाच्य है ।] और उनका प्रयोजक पुरुष 'प्रतिबन्धक' है । [स्वार्थमें क प्रत्ययसे मण्यादि भी 'प्रतिबन्धक' कहे जाते हैं] ।

जैसे अन्वय व्यतिरेकसे अभाव अर्थात् प्रध्वंसाभाव कार्य है उसी प्रकार अभाव कारण भी [हो सकता] है । कारणत्व भावत्व-व्याप्य है [भाव ही कारण होता है] यह कोई नियम नहीं है । [दूसरा जो] अकिञ्चित्कर [मण्यादिका] प्रतिबन्धकत्व नहीं बन सकता है [यह दोष दिया था] इस [के समाधान]में कहते हैं 'प्रतिबन्ध इति' । विसामग्री अर्थात् कारणाभाव । वह प्रकृतमें मण्याद्यभाव [प्रतिबन्धक संसर्गाभाव]का अभाव मण्यादि [रूप] है । उसके समवधानका हेतु पुरुष ही प्रतिबन्धक है । और [मण्यादिके लिए यदि कहीं प्रतिबन्धक पदका प्रयोग हो तो वहाँ प्रतिबन्ध शब्दसे] स्वार्थमें क प्रत्यय करके [प्रतिबन्ध एव प्रतिबन्धकः इस अर्थमें] मण्यादिमें प्रतिबन्धक शब्द पदका प्रयोग [किया जा सकता] है । यह अभिप्राय है ।

इस प्रकार नैयायिक प्रतिबन्धक संसर्गाभावको कारण मानकर मण्यादिके प्रयोग कालमें 'प्रतिबन्धकसंसर्गाभाव' रूप सामग्रीके न होनेसे, दाहके अभावका उपपादन करते हैं । और 'शक्ति'को नहीं मानते हैं । इसपर मीमांसकका कहना यह है कि जहाँ 'प्रतिबन्धक' मण्यादिका प्रयोग हो और उसके साथ उत्तेजक मण्यादिका भी प्रयोग कर दिया जाय तो वहाँ फिर दाह होने लगता है । परन्तु आपके मतानुसार वहाँ प्रतिबंधक मणिके उपस्थित होनेसे 'प्रतिबन्धक-संसर्गाभाव' रूप सामग्री तो है नहीं, फिर दाह कैसे होता है ? ऐसे स्थलोंके समाधानकेलिए आप अपने 'प्रतिबन्धक-संसर्गाभावका' फिर परिमार्जन करके 'उत्तेजकाभावकूटविशिष्टप्रतिबन्धकसंसर्गाभाव'को कारण कहेंगे ।

परन्तु इस ढंगसे तो कारणमें बड़ा गौरव होगा उसकी अपेक्षा तो एक 'शक्ति' पदार्थको अलग मान लेना कहीं अच्छा है। इसलिए 'शक्ति'को स्वीकार करना ही चाहिए।

इस 'शक्ति'के विषयमें मीमांसकोंमें नित्य और अनित्य दो पक्ष हैं। इनमेंसे अनित्य शक्ति पक्षमें पदार्थकी वह शक्ति प्रथम भाव हेतु अर्थात् उस पदार्थके कारणसे ही उत्पन्न होती है। 'अनित्ये भावहेतुजा'। यह शक्ति प्रतिबन्धक मण्यादिके प्रयोगसे नष्ट हो जाती है और प्रतिबन्धकके हटा लेने अथवा उत्तेजकके भी रख देनेसे फिर उत्पन्न हो जाती है। ऐसी दशामें एक वह्निमें अनन्त शक्तियाँ और उसके प्रागभाव प्रध्वंसाभाव आदिकी जो कल्पना करनी पड़ेगी वह नैयायिकके 'उत्तेजकाभावकूट विशिष्ट प्रतिबन्धक संसर्गाभाव'को कारण माननेकी अपेक्षा भी कहीं अधिक गुरुभूत होगी। अत एव अनित्य शक्ति माननेकी अपेक्षा तो 'उत्तेजकाभावकूटविशिष्टप्रतिबन्धकसंसर्गाभाव'को कारण मानना ही अच्छा होगा। अत एव अनित्य शक्ति न मानकर नित्य शक्ति मानना चाहिए। यह नित्य शक्तिवादी अनित्यशक्तिवादके खण्डनमें युक्ति प्रस्तुत करता है। इस युक्ति क्रमसे इतना तो निकल ही आया कि कमसे कम अनित्यशक्ति पक्षसे तो नैयायिकका 'प्रतिबन्धकसंसर्गाभाव'को कारण माननेका पक्ष अच्छा है।

अनित्यशक्तिपक्षमें भावहेतु और उत्तेजक आदि शक्तिके अनेक कारण हो सकते हैं। इन अनेक कारणोंके होनेसे तृण, अरणि, मणि वाले उदाहरणके समान व्यतिरेक व्यभिचार आ सकता है परन्तु जैसे वहाँ 'वन्ह्यनुकूलैकशक्तिमत्त्वेन' कारणताकी कल्पना करके उसका वारण किया गया था इसी प्रकार यहाँ भी उन अनेक कारणोंमें 'शक्त्यनुकूलैकशक्तिमत्त्वेन' कारणताकी कल्पना करके उसका वारण किया जा सकेगा। अत एव वह दोष तो यहाँ नहीं आ सकता है। फिर भी अनन्त शक्तियाँ और उनके प्रागभाव प्रध्वंसाभाव आदि अनन्त पदार्थ तो मानने ही होंगे। अतः अनित्यशक्तिपक्ष के गुरुभूत होनेसे उसको छोड़कर नित्यशक्ति पक्ष मानना ही श्रेयस्कर है। यह नित्य शक्तिवादी मीमांसकका सिद्धान्त है।

इसपर नैयायिक यह कहता है कि—अनित्य शक्ति पक्षकी अपेक्षा प्रतिबन्धकसंसर्गाभावपक्ष अधिक अच्छा है यह तो नित्यशक्तिवादी मीमांसक ने ही मान लिया है। अब नित्य शक्ति पक्षकी विवेचना यदि की जाय तो उसमें और अनित्यशक्ति पक्षमें कोई विशेष अन्तर नहीं दिखलाई देता है। प्रतिबन्धकका प्रयोग होनेपर अनित्यशक्तिपक्षमें शक्तिका नाश हो जाता है और उत्तेजक द्वारा उसकी फिर उत्पत्ति होती है। नित्य शक्ति पक्षमें नाश और पुनरुत्पत्तिके स्थानपर शक्तिका कुण्ठितत्व और उत्तेजकसे कुण्ठितत्वका विनाश होता है। यह केवल शाब्दिक अन्तर है। वस्तुतः नित्य और अनित्य शक्ति पक्ष दोनों समान रूपसे गौरव दोष ग्रस्त हैं। नित्यशक्तिवादी मीमांसकने भी अनित्य शक्ति पक्षकी अपेक्षा न्यायके 'उत्तेजका-

मीमांसकास्तु उत्तेजकाभावकूटविशिष्टमण्यभावत्वेन हेतुत्वे गौरवात्, लाघवाच्छक्तिर्नित्या वह्न्यादौ कल्प्यते। प्रतिबन्धके सति शक्तिकुण्ठनम्। यत्तु शक्तिः प्रथमतो वह्निकारणजन्या वह्निनिष्ठा, प्रतिबन्धकेन च तस्या विनाशे उत्तेजकेन च पुनर्जननम्। न च शक्तेरनियतहेतुकत्वमिति वाच्यम्। शक्त्यनुकूलशक्तिमत्त्वेन कारणत्वादिति। तन्न, वह्निनिष्ठनानाशक्तिकल्पनापेक्षया उत्तेजकाभावकूटविशिष्टमणभावस्यैकस्यैव वरं हेतुत्वौचित्यात्। तथा चाकुण्ठितशक्तिरेव तत्र कारणतावच्छेदिका कल्प्यते, इत्याहुः।

तन्न, शक्तिकुण्ठने प्रतिबन्धकस्य हेतुत्वं, उत्तेजकस्य कुण्ठितत्वविनाशकत्वं, इत्याद्यनन्तशक्ति कल्पनापत्तेरिति दिक्॥ १०॥

भावकूटविशिष्ट-प्रतिबन्धकसंसर्गाभाव' पक्षको अधिक लाघव युक्त माना है। इसलिए नित्य शक्ति पक्षकी अपेक्षा भी वही पक्ष अधिक अच्छा है। अत एव शक्ति माननेकी आवश्यकता नहीं है। इस विषयको ग्रन्थकारने इस प्रकार किया है—

नित्यशक्तिवादी मीमांसकमत—

मीमांसक तो [इत्याहुः इस आगे कहे पदसे सम्बन्ध है] उत्तेजकाभावकूटविशिष्ट मण्यभाव रूपसे कारण माननेमें गौरव होनेसे, प्रस्तुत [औरनित्य शक्ति माननेमें] लाघव होनेसे, अग्नि आदिमें नित्य शक्ति कल्पनाकी जाती है। प्रतिबन्धकके होनेपर उस शक्तिका कुण्ठन हो जाता है। और जो [अनित्यशक्तिवादीका कहना है कि] शक्ति पहिले अग्निके कारणसे वह्निमें उत्पन्न होती है और प्रतिबन्धकसे उसका विनाश होनेपर उत्तेजकसे फिर उत्पन्न होती है। [इस प्रकार अनेक कारण होनेपर शक्तिमें] अनियतहेतुकत्व [और उसके कारण तृण, अरणि, मणिके समान व्यतिरेक व्यभिचार दोष] होगा यह नहीं कहना चाहिए। क्योंकि [शक्तिके उन अनेक कारणोंमें] 'शक्त्यनुकूलैकशक्तिमत्त्व' रूपसे कारणता मानते हैं। [अनित्यशक्तिवादी यह कहता है] वह ठीक नहीं है। अग्निमें नाना शक्तिकी कल्पनाकी अपेक्षा [न्यायाभिमत] उत्तेजकाभाकूटविशिष्टमण्यभाव रूप एक ही कारण मानना अधिक अच्छा है। इसलिए [अनित्यशक्ति नहीं अपितु नित्य] अकुण्ठित शक्ति ही को वहाँ कारणताका नियामक मानना चाहिए। [यह नित्यशक्तिवादी मीमांसक] ऐसा कहते हैं। [वाक्यके प्रारम्भमें आया हुआ 'मीमांसकास्तु' इस कर्तृपदका सम्बन्ध इस 'आहुः' क्रियासे है।]

अन्तिम सिद्धान्तपक्ष—

वह [मीमांसकका कहना] ठीक नहीं है। शक्तिके कुण्ठनमें प्रतिबन्धक कारण होता है और उत्तेजक कुण्ठितत्वके विनाशका हेतु होता है [इसलिए अनित्य शक्ति पक्षके समान जिसे आप स्वयं नैयायिक पक्षसे बुरा समझते हैं, आपके नित्य शक्तिपक्षमें भी] अनन्त शक्तिकी कल्पना प्राप्त होनेसे [आपका नित्य शक्तिपक्ष भी ठीक नहीं है]। यह संक्षेप [में शक्तिसिद्धान्तके खण्डनका] मार्ग [प्रदर्शित किया] है ॥१०॥

भोग्यनिष्ठ-व्यदृष्टवादी पूर्वपक्ष—

इस प्रकार व्यदृष्टके सिद्ध हो जाने पर भी पूर्वपक्ष न्यायके आत्मनिष्ठ अदृष्ट वादी सिद्धान्तको भाव का चार युक्तियों से उसकी पहिली उक्ति यह है कि १. भोग्य निष्ठ दृष्ट की सिद्धि करने का यत्न करता है। 'व्रीहीन् प्रोक्षति' 'व्रीहीन् अवहन्ति' इत्यादि वैदिक विधियाँ हैं। अत एव उनके अनुष्ठानसे अदृष्टकी उत्पत्ति आवश्यक है। प्रोक्षणसे जो अदृष्ट पैदा होता है वह व्रीहिमें ही रहता है। इसके दो कारण हैं एक तो यह कि आगे 'प्रोक्षिता एव व्रीहयः अवघाताय कल्पन्ते' इस वाक्यशेषके अनुसार प्रोक्षित व्रीहियों [धानों] का ही अवघात [कूटना] होता है, अप्रोक्षितका नहीं। इससे प्रोक्षित और अप्रोक्षित व्रीहि [धान]में भेद मानना होगा। इस भेदका कारण व्रीहिमें रहनेवाला प्रोक्षण जन्य अदृष्ट ही है।

२. इस मान्यताका दूसरा कारण यह है कि 'व्रीहीन् प्रोक्षति'में व्रीहीन् पदमें कर्म विभक्तिका प्रयोग हुआ है। कर्मका लक्षण 'परसमवेतक्रियाजन्यफलाश्रयत्वं कर्मत्वम्' यह किया गया है। इस लक्षणका अभिप्राय यह है कि परसमवेत अर्थात् कर्मसे भिन्न दूसरेमें रहनेवाली जो क्रिया उस क्रियासे उत्पन्न फलका जो आश्रय हो, जिसमें वह फल रहे उसको 'कर्म' कहते हैं। यहाँ परसमवेत क्रिया हुई प्रोक्षण, तज्जन्य फल हुआ अदृष्ट, वह व्रीहि [धान]में रहता है इसलिए परसमवेत क्रिया जन्यफलका आश्रय होनेसे ही व्रीहिमें कर्मविभक्तिका प्रयोग हो सकता है। इसलिए भी प्रोक्षण जन्य अदृष्ट व्रीहिमें ही मानना चाहिए। इसी प्रकार भोग्य वस्तुमें ही संस्कार मानना चाहिए इसके समर्थनमें यह दूसरी युक्ति हुई।

३. तीसरी युक्ति यह है कि जो कर्म जिसमें फलकी कामनासे किया जाता है वह उसी वस्तुमें फलजनक व्यापार अर्थात् संस्कारको पैदा करता है। प्रोक्षण, व्रीहिगत अवघात रूपफलकी कामनासे किया जाता है अत एव व्रीहिमें ही संस्कारको पैदा करता है। ४. इसी प्रकार माघकर्षण माघकी जुताईसे भूमिमें शस्यातिशयकी सम्पादिका शक्ति भूमिमें ही रहती है। इसलिए भी संस्कार भोग्य वस्तुमें ही मानना चाहिए। ५. और अन्तिम युक्ति यह है कि व्रीहि यव आदिका उत्पादक संस्कार उनके परमाणुओंमें मानना होगा। अन्यथा प्रलयकालमें व्रीहि आदि सबका विनाश होकर परमाणु मात्र शेष रह जाते हैं। उन परमाणुओंमें यदि व्रीहि-यवादि-जनक संस्कार नहीं मानेंगे तो दुबारा सृष्टि होनेपर उनसे व्रीहि यवादिकी उत्पत्ति कैसे होगी। २. इस प्रकार मीमांसकने भोग्यनिष्ठ अदृष्टकी सिद्धि करनेका प्रयत्न किया है।

नैयायिक द्वारा पूर्वपक्षका खण्डन—

मीमांसकके इस पूर्वपक्षके खण्डनके लिए यह ११वीं कारिका लिखी गई है। नैयायिकका कहना यह है कि प्रोक्षण आदिसे उत्पन्न संस्कार या अदृष्ट यदि व्रीहिमें माना जायगा तो अनेक व्रीहि होनेके कारण उन सबमें अदृष्टकी कल्पना

करनी होगी। इस प्रकार अनेक अदृष्ट माननेमें बड़ा गौरव होगा। उसकी अपेक्षा आत्मामें एक अदृष्ट मानना ही अच्छा है। 'संस्कृतो व्रीहिः' इस प्रकारकी प्रतीति व्रीहिके साथ संस्कारका स्वरूप-सम्बन्ध होनेसे होती है। सम्बन्ध दो प्रकारके होते हैं एक 'वृत्तिनियामक' सम्बन्ध और दूसरे 'वृत्तिके अनियामक' सम्बन्ध। वृत्ति अर्थात् आधेयताके नियामक सम्बन्ध 'संयोग' और 'समवाय' दो हैं। संस्कार 'वृत्तिनियामक' 'समवाय' सम्बन्धसे आत्मामें रहता है। शेष वृत्तिके अनियामक सम्बन्ध 'स्वरूप सम्बन्ध' कहलाते हैं। यह स्वरूप सम्बन्ध नाना रूप हो सकते हैं परन्तु वह 'वृत्तिनियामक' अर्थात् आधाराधेय भावके नियामक सम्बन्ध नहीं होते हैं। यहाँ स्वरूप सम्बन्धका रूप 'स्वजनकप्रोक्षणजलकाभिप्रायविषयत्वरूप' अथवा 'विषयविषयिभावलक्षण स्वरूप सम्बन्ध' हो सकता है। अर्थात् प्रोक्षण जन्य संस्कार समवाय सम्बन्धसे तो आत्मामें रहता है परन्तु उसका व्रीहिके साथ वृत्त्यनियामक 'स्वजनकप्रोक्षणजनकाभिप्रायविषयत्व' रूप, अथवा विषयविषयिभाव लक्षण स्वरूप सम्बन्ध होनेसे 'संस्कृतो व्रीहिः' यह प्रतीति होती है।

संस्कारको व्रीहिनिष्ठ माननेमें सबसे प्रबल युक्ति 'व्रीहीन्'में कर्म विभक्तिके प्रयोगकी दी गई थी। उसके सम्बन्धमें नैयायिकका कहना यह है कि यहाँ 'परसमवेत क्रिया' तो 'प्रोक्षण' ही है परन्तु तज्जन्य फल 'संस्कार' नहीं अपितु 'जलसंयोग' है। उस जलसंयोग रूप फलका आश्रय होनेसे व्रीहिमें कर्मविभक्तिका प्रयोग होता है। पूर्वपक्षमें 'परसमवेत क्रिया' प्रोक्षणसे जन्यफल 'संस्कार' अथवा 'अदृष्ट'को मानकर व्रीहिको 'अदृष्ट'का आश्रय होनेसे कर्म बताया था। परन्तु नैयायिकके सिद्धान्त पक्षमें 'परसमवेत प्रोक्षण क्रिया'से जन्यफल 'जल संयोग'का आश्रय होनेसे व्रीहिमें कर्म विभक्ति होती है।

नैयायिकने अपने पक्षके समर्थनकेलिए 'सक्तून् प्रोक्षति'का दूसरा उदाहरण भी प्रस्तुत किया है। 'व्रीहीन् प्रोक्षति'के समान 'सक्तून् प्रोक्षति'में 'सक्तून्' पदमें कर्म विभक्तिका प्रयोग है। यह कोई वैदिक वाक्य नहीं है अत एव यहाँ 'अदृष्ट' कल्पनाका कोई अवसर नहीं है। उस दशामें यहाँ प्रोक्षण क्रियाका फल जलसंयोगके अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता है। अत एव यहाँ परसमवेत क्रिया प्रोक्षण, तज्जन्य फल 'जलसंयोग'का आश्रय होनेसे ही 'सक्तून्'में कर्म विभक्ति होती है। ठीक इसी प्रकार 'व्रीहीन्'में भी 'जलसंयोग'को प्रोक्षण जन्य फल मानकर उसका आश्रय होनेसे व्रीहिमें कर्मता बननेमें कोई बाधा नहीं है।

हाँ 'व्रीहीन् प्रोक्षति' तथा 'सक्तून् प्रोक्षति' इन दोनों वाक्योंमें इतना अन्तर अवश्य है कि इनमें से पहिला वाक्य 'व्रीहीन् प्रोक्षति' वैदिक वाक्य है अत एव वहाँ 'अदृष्ट' की कल्पना भी की जा सकती है। और 'सक्तून् प्रोक्षति' में लौकिक वाक्य होनेसे 'अदृष्ट' की कल्पनाका कोई अवसर ही नहीं है। इन दोनों वाक्योंके इस भेदके कारण यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'व्रीहीन् प्रोक्षति'में 'अदृष्ट'को ही

ननु १. 'व्रीहीन् प्रोक्षति' 'व्रीहीनवहन्ति' इत्यत्र प्रोक्षणजन्य कालान्तर-भाव्यजघातजनको व्यापारो व्रीहिनिष्ठः कल्प्यते, 'प्रोक्षिता एव व्रीहय अवघाताय कल्पन्ते' इति वाक्यशेषात्। २. किञ्च यो यद्गतफलार्थितया क्रियते स तन्निष्ठफलजनकव्यापारजनकः यागवत्। ३. व्रीह्यादीनामापरमाण्वन्तभंगे व्रीह्यादिनियमानुपपत्तिः। एवं ४. माघकर्षणादिना भूमिनिष्ठा कृषिजन्या शक्तिर्निर्वाच्या।

फल क्यों न माना जाय। इसका समाधान करनेकेलिए नैयायिककी युक्ति यह है कि जहाँ दृष्ट द्वार न बने वहाँ ही 'अदृष्ट'की कल्पना की जाती है, सर्वत्र नहीं। जैसे 'व्रीहीन् अवहन्ति'में ही अवघातका दृष्ट फल 'वैतुष्य' धानके छिलके या तुषका निकल जाना बन जाता है अत एव अवघात जन्य 'अदृष्ट' नहीं माना जाता है। इसी प्रकार प्रोक्षण भी दृष्ट फल जलसंयोग द्वारा अवघात अर्थात् वितुषीकरणमें उपयोगी हो सकता है इसलिए वहाँ भी अदृष्ट कल्पना करनेकी आवश्यकता नहीं है। 'सम्भवति दृष्टफलकत्वे अदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वात्'। जब तक दृष्ट फल बन सके तब तक अदृष्ट कल्पना नहीं करना चाहिए। इस न्यायके अनुसार 'व्रीहीन् प्रोक्षति'में अदृष्ट नहीं मानना चाहिए और जलसंयोगको ही फल मानकर कर्मताका उपपादन करना चाहिए। इस प्रक्रियासे भोग्यनिष्ठ अदृष्ट माननेका कोई अवसर नहीं रहता है। परन्तु यहाँ कारिकाकार ने प्रोक्षण आदिको पुरुषनिष्ठ संस्कारका जनक माना है। ऐसी दशामें प्रोक्षण क्रियाके दो फल मानने होंगे एक पुरुषनिष्ठ अदृष्ट और दूसरा जलसंयोग। कारिकाकी। व्याख्या करते हुए विवृतिकार ने प्रोक्षण क्रियाके इन दोनों फलोंको स्पष्ट रूपसे स्वीकार किया है। अनेक व्रीहियोंमें अलग-अलग शक्ति या संस्कारकी कल्पनाकी अपेक्षा आत्मनिष्ठ एक अदृष्टको माननेमें लाघव बताकर उन्होंने प्रोक्षणको पुरुषनिष्ठ अदृष्टका जनक माना है। और 'व्रीहीन्' पदकी कर्मताका उपपादन करनेके लिए जलसंयोगको प्रोक्षण क्रियाका फल माना है। इसी पूर्वपक्षको ग्रन्थकार निम्न प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

१. अच्छा तो 'व्रीहीन् प्रोक्षति' धानोंको जल छिड़कते हैं 'व्रीहीन् अवहन्ति' धानोंको कूटते हैं इनमें प्रोक्षणजन्य, कालान्तरभावि अवघात जनक व्यापार [अदृष्ट] व्रीहिनिष्ठ माना जाता है। 'प्रोक्षित व्रीहि ही अवघातके लिए होते हैं' इस वाक्यशेषसे। और २. जो [कर्म] जिसमें फलकी कामनासे किया जाता है वह उसमें रहनेवाले फलजनक व्यापारको उत्पन्न करता है जैसे याग। ३. व्रीहि आदिका परमाणु पर्यन्त नाश हो जानेपर [सृष्टिके आरम्भमें] व्रीहि आदिका नियम नहीं बनेगा [इसलिए भोग्यमें संस्कार मानना होगा]। ४. इसी प्रकार माघमें जोतनेसे उत्पन्न शक्ति भूमिमें माननी होगी। [अतः अदृष्टादि भोग्य वस्तुमें रहते हैं, आत्मामें नहीं। यह मीमांसकका पूर्व पक्ष हुआ]।

अत्रोत्तरम्—

संस्कारः पुंस एवेष्टः प्रोक्षणाभ्युक्षणादिभिः ।
स्वगुणाः परमाणूनां विशेषाः पाकजादयः ॥ ११ ॥

१. प्रोक्षणादिभिः संस्कारोऽदृष्टं 'पुंसः' पुंसि इष्टः स्वीकृतः। प्रतिव्रीहि नानाशक्तिकल्पनापेक्षया एकस्यैवादृष्टस्यात्मनिष्ठस्य प्रोक्षणादिजन्यावघातजनकस्य लाघवेन कल्पनात्। दृष्टद्वाराभावे सति विहितस्य कालान्तरभाविफलानुकूलस्य धर्मजनकत्वकल्पनाच्च। संस्कृतो व्रीहिरिति प्रत्ययबलाच्च तस्य स्वरूपसम्बन्धेनैव व्रीहिनिष्ठत्वं कल्प्यते। एतेनाभिमन्त्रितपयः पल्लवादावपि तत्तत्फलानुकूलमदृष्टं पुरुषनिष्ठम्। व्रीहीनिति च 'शक्तून् प्रोक्षति' इत्यादाविव प्रोक्षणादिजन्यजलसंयोगादिरूपपरसमवेतक्रियाजन्यफलशालितया कर्मता।

२. यो यद्गतफलार्थितया क्रियते स तन्निष्ठ-फलजनकव्यापारजनक इति च

इसके उत्तरमें [११वीं कारिकामें] कहते हैं—

[जैसे यज्ञमें देवता विशेषके उद्देश्यसे दी गई हविकी समंत्रक आहुतियाँ पुरुषमें ही संस्कार पैदा करती हैं अग्नि अथवा देवतामें नहीं, उसी प्रकार] प्रोक्षण, अभ्युक्षण आदिसे पुरुषका [अर्थात् पुरुषनिष्ठ] ही संस्कार ही इष्ट है और परमाणुओंके अपने पाकज रूपादि गुण ही [प्रलय कालमें] उनके भेदक होते हैं।

१. [न्यायाचार्योंने] प्रोक्षण आदिसे [जन्य] संस्कार अर्थात् अदृष्ट पुरुषमें ही स्वीकृत किया है। हर एक व्रीहिमें [अलग-अलग] नाना शक्ति कल्पनाकी अपेक्षा आत्मामें रहनेवाले प्रोक्षणादिजन्य अवघातके जनक एक ही अदृष्टकी कल्पना करना लाघवके कारण उचित है। कालान्तरभावि फलानुकूल विहित कर्मका, दृष्ट द्वारके न होनेपर, धर्मजनकत्व कल्पनाकी जानेसे [प्रोक्षण अदृष्ट जनक है और वह आत्मनिष्ठ अदृष्टको ही उत्पन्न करता है]। 'संस्कृतो व्रीहि' :- इस प्रतीति बलसे उसको 'स्वरूप सम्बन्धसे' व्रीहिनिष्ठ मानते हैं। इससे अभिमन्त्रित जल, पत्र आदिमें भी उस उस फलके अनुकूल अदृष्ट पुरुषनिष्ठ ही होता है। 'व्रीहीन्' इसमें 'सक्तून् प्रोक्षति' इत्यादिके समान प्रोक्षणादिजन्य जलसंयोगादि रूप परसमवेत क्रियाजन्यफलका आश्रय होनेसे कर्मता [माननी चाहिए]।

जो कर्म जिसके उद्देश्यसे किया जाता है वह उसमें कुछ पैदा करता है इसका व्यभिचार तो हविस्त्याग आदिमें मिल जाता है। देवता विशेषके उद्देश्यसे अग्निमें आहुति दी जाती हैं। परन्तु उनसे देवता या वह्निमें कोई अदृष्ट उत्पन्न नहीं होता है अपितु आत्मामें ही अदृष्ट उत्पन्न होता है। पूर्वपक्षके दूसरे भागका उत्तर अगली पंक्तिमें देते हैं—

२. जो जिसमें रहनेवाले फलकी कामनासे किया जाता है वह उसमें रहनेवाले फलजनक

शत्रुनिष्ठबधाद्यर्थक्रियमाण श्येनादौ स्वनिष्ठफलजनके व्यभिचारि । ३. यवाद्युत्पत्तिनियमार्थमाह स्वगुणाः परमाणूनां पाकजादयो विशेषकाः । तेन पाकजरूपरसादिविशिष्टाः परमाणवस्तत्तत्कार्यमारभन्ते । ४. चिकित्सास्थले तु धातुसाम्यमेव भेषजपानस्य रोगादिनाशे फले जनयितव्ये द्वारमिति भावः ।। ११ ।।

ननु यत्र पाकजो न विशेषस्तत्र वाय्वादौ कथमुद्भूतस्पर्शादि, करकादौ च प्रतिरुद्धं द्रवत्वमिति । १. कथञ्च प्रतिमादौ प्रतिष्ठादेरुपयोगः । २. तया च प्रतिष्ठाजन्या शक्तिः, चाण्डालादिस्पर्शनाश्या पूज्यताप्रयोजिका स्वीकार्या । इत्यत्राह—

व्यापारको उत्पन्न करता है इसका व्यभिचार शत्रुनिष्ठ बधादिरूप फलकी कामनासे किए जानेवाले परन्तु आत्मनिष्ठ फलके जनक श्येनयागादिमें पाया जाता है । [श्येन नामक याग विशेष शत्रुके मारणकी कामनासे किया जानेवाला एक आभिचारिक कर्म है । परन्तु उससे उत्पन्न होनेवाला अदृष्ट 'शास्त्रदेशितं फलमनुष्ठातरि' इस सामान्य नियमके अनुसार और नाना शत्रुओंमें अनेक अदृष्ट कल्पनाकी अपेक्षा कर्तामें रहनेवाले एक अदृष्टकी कल्पनामें लाघव होनेसे कर्तामें ही मानना उचित है] ।

३. यवादि नियम [प्रलय कालमें व्रीहि आदिका परमाणु रूपमें नाश हो जानेपर यदि उनमें व्रीहिके संस्कार न मानें तो पुनः सृष्टि होनेपर एक समान पार्थिव परमाणुओंसे व्रीहि, यव आदि भिन्न-भिन्न पदार्थोंकी उत्पत्ति कैसे होगी इस शङ्काका समाधान करनेके] लिए कहते हैं । परमाणुओंके पाकज [रूप रस आदि] अपने गुण ही [व्रीहि तथा यवादिके परमाणुमें परस्पर] भेदक हैं । इसलिए पाकज रूप रसादि विशिष्ट परमाणु ही उस उस [व्रीहि यवादि अलग-अलग] कार्यको उत्पन्न करते हैं । [जिस प्रकार व्रीहि और यवके बीजोंमें अन्तर है वह अन्तर उनके परमाणुओंके पाकज रूप रसादिमें भी है । तभी उन परमाणुओंमें पार्थिवत्व समान रहते हुए भी उनसे व्रीहि यवादि भिन्न पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है] ।

४. [शरीर निष्ठ आरोग्य रूप फलकी कामनासे किए जानेवाले औषध पान रूप कर्मका फलजनक व्यापार शरीरमें ही उत्पन्न होता है आत्मामें नहीं इसलिए भोग्यनिष्ठ ही अदृष्ट मानना चाहिए इस शङ्काका समाधान करते हैं] । चिकित्सा स्थलमें तो रोगादिनाश रूप फलके उत्पादन में भेषजपानका धातुसाम्य रूप [दृष्ट] व्यापार ही द्वारा है । [अतः वहाँ अदृष्ट कल्पना करनेकी आवश्यकता नहीं है] ।। ११ ।।

पुनः भोग्यनिष्ठ-संस्कारवादी पूर्वपक्ष—

अच्छा तो वायु आदिमें जहाँ पाकजगुण भेदक नहीं है [पाकज गुण केवल पृथिवीके हैं, वायु आदिमें पाकज नहीं अपाकज गुण है] वहाँ उद्भूत [अनुद्भूत नाना प्रकारका] स्पर्शादि कैसे रहता है ? और ओले आदिमें द्रवत्वका प्रतिरोध कैसे होता है ? [क्योंकि जलमें भी पाकजगुण नहीं रहते हैं अतः उसमें जल, बर्फ, ओला, भाप आदि नाना प्रकारके पदार्थ कैसे बनते हैं ?] और मूर्ति [की पूजा]में प्रतिष्ठादिका क्या

निमित्तभेदसंसर्गादुद्भवानुद्भवादयः ।
देवताः सन्निधानेन प्रत्यभिज्ञानतोऽपि वा ॥ १२ ॥

निमित्तभेदो, अदृष्ट भेदः । देवताः प्रतिष्ठाविधिनासन्निधानेनाहङ्कारममकारादिना आराधनीयतामासादयन्ति । प्रतिष्ठाविधिना देवतानां प्रतिमादौ अहङ्कारममकारौ, चाण्डालादिस्पर्शे च तादृशाभिमानाभावः देवताचैतन्यविवादेऽपि यथार्थपूजितत्वधीः प्रतिष्ठाधीश्च चाण्डालादिस्पर्शाद्यभावविशिष्टा पूज्यतानियामिका । तत्र चोपयोगिनी प्रतिष्ठा । वस्तुतस्तु प्रतिष्ठाकालीनयावदस्पृश्यस्पर्शनादिसंसर्गाभावः प्रतिष्ठाध्वंसकालीनः पूज्यताप्रयोजकः । 'प्रतिष्ठितं प्रपूजयेत्' इति क्तेन प्रतिष्ठाध्वंसस्यैव प्राप्तेरिति दिक् ॥ १२ ॥

उपयोग होगा ? इसलिए [मूर्तिमें प्रतिष्ठाजन्य और चाण्डालादिके स्पर्शसे नाश होनेवाली शक्ति पूज्यताकी प्रयोजिका स्वीकार करनी चाहिए ।

इस शङ्का [के होने] पर [सिद्धान्तरूप उत्तर] कहते हैं—

निमित्तभेद अर्थात् अदृष्टभेद [अर्थात् अदृष्टवान् आत्मा] के संसर्गसे [वायु तथा जलके स्पर्श तथा द्रवत्वका] उद्भव अनुद्भव आदि होता है । देवता अर्थात् देवप्रतिमाएँ [प्रतिष्ठाविधिसे उनमें अभिमानी देवताके] सन्निधान [अर्थात् 'अयमहम्' इस प्रकारके 'अहङ्कार'के] अथवा प्रत्यभिज्ञान ['इयं मम प्रतिमा' यह मेरी प्रतिमा है इस प्रकारके 'ममकार' के उत्पन्न होने] से [पूज्यताको प्राप्त होती है] ।

निमित्तभेद अर्थात् अदृष्टभेद । देवता [देवताओंकी मूर्तियों] प्रतिष्ठाविधिसे सन्निधान अर्थात् अहङ्कार [और प्रत्यभिज्ञान अर्थात्] ममकारादिसे पूज्यताको प्राप्त होती हैं । [अर्थात्] प्रतिष्ठा विधिसे [उन उन मूर्तियोंके अभिमानी] देवताओंका प्रतिमा आदिमें अहङ्कार, ममकार [उत्पन्न] होता है । और चाण्डालादिका स्पर्श होनेपर उस प्रकारका अहङ्कार, ममकार नहीं रहता है । देवताओंके चेतन होनेके विषयमें मतभेद होनेपर भी [जो देवताओंको चेतन नहीं मानते उनके मतमें] चाण्डालादि स्पर्शके अभावसे युक्त यथार्थ पूजितत्व बुद्धि और प्रतिष्ठितत्वज्ञान पूज्यताका नियामक है । और उसमें [प्रतिष्ठितत्त्व बुद्धिके उत्पादनमें] प्रतिष्ठा उपयोगिनी होती है। वास्तवमें तो [चेतन देवतावाद और अचेतन देवतावाद दोनों पक्षोंमें] प्रतिष्ठा [विधि] के कालमें और प्रतिष्ठा [विधि]की [ध्वंस] समाप्तिके बाद भी विद्यमान चाण्डालादि समस्त अस्पृश्योंके स्पर्शनादिके संसर्गका अभाव पूज्यताका प्रयोजक है । [क्योंकि] 'प्रतिष्ठितं प्रपूजयेत्' [इस विधि]में [भूतार्थक] क्त [प्रत्यय] से प्रतिष्ठा ध्वंस ही प्राप्त होता है । यह सार है ॥ १२ ॥

भोग्यनिष्ठ-संस्कारवादीका एक और पूर्वपक्ष—

ग्यारहवीं कारिकासे पूर्वपक्षी निरन्तरन्यायके आत्मनिष्ठ अदृष्टके स्थानपर भोग्य निष्ठ अदृष्टको सिद्ध करनेका प्रयत्न कर रहा है । इसी प्रसङ्गमें पूर्वपक्षी भोग्यनिष्ठ

ननु तुलापरीक्षाविधिना शक्तिस्तुलादौ जन्यते, तया नमनोन्नमनादिकं फलं जन्यते। इत्ययाह—

जयेतरनिमित्तस्य वृत्तिलाभाय केवलम्।
परीक्ष्यसमवेतस्य परीक्षाविधयो मताः ॥ १३ ॥

जयस्तदितरः पराजयः। तन्निमित्तस्यादृष्टस्य परीक्षणीयपुरुषसमवेतस्य वृत्तिलाभाय फलानुकूलसहकारिलाभाय परीक्षाविधयो मताः स्वीकृताः। योऽहमनेन परीक्षाविधिना तुलामारूढः सोऽहं पापवान् निष्पापो वेति

अदृष्टकी सिद्धिके लिए अगली कारिकामें तुला परीक्षाकी एक नवीन युक्ति प्रस्तुत करता है।

प्राचीन कालमें सन्दिग्ध अपराधोंकी परीक्षाकेलिए अनेक प्रकारकी पद्धतियाँ प्रचलित थीं जिन्हें 'दिव्य' परीक्षा कहा जाता था। उन दिव्य परीक्षाओंमें ही एक 'तुला परीक्षा'की पद्धति भी थी। इस पद्धतिमें मन्त्र आदि पढ़कर सन्दिग्ध अपराधवाले पुरुषको तराजू पर बैठाया जाता था और तराजू झुकने न झुकनेसे उसके अपराधका निश्चय किया जाता था। यदि तुला झुक जाती थी, अपराधका, अन्यथा निरपराधताका निश्चय हो जाता था। इसीको 'तुला परीक्षा' कहते थे। पूर्वपक्षका कहना यह है कि मन्त्र आदिके पाठसे तुलामें शक्ति विशेषकी उत्पत्ति होती है। उसीके द्वारा तुलासे अपराधका निर्णय होता है। अतः भोग्य वस्तुमें संस्कार, अदृष्ट या शक्ति माननी चाहिए।

इस पूर्वपक्षको उठाकर उसका समाधान करनेकेलिए ग्रन्थकारने अगली कारिका लिखी है। उसका अभिप्राय निम्न प्रकार है—

अच्छा तो 'तुला परीक्षा' [प्राचीनकालमें अपराधोंके निर्णयमें मन्त्रादि पाठ द्वारा अभिमन्त्रित तराजू आदिपर बैठाकर, अथवा जल, अग्नि आदिके द्वारा दिव्य परीक्षाका उपयोग होता था।] आदिमें परीक्षा विधिसे तुला आदिमें शक्ति उत्पन्न होती है। उस [शक्ति]से [ही तराजूका] झुकना या उठना आदि फल होता है। [इसलिए भोग्यनिष्ठ संस्कार और शक्ति अवश्य मानने चाहिये] इस शङ्कापर कहते हैं—

परीक्ष्य पुरुषमें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले जय और पराजयके निमित्त [धर्म और अधर्म] के [वृत्तिलाभाय अर्थात्] सहकारी लाभकेलिए परीक्षा विधि स्वीकृत [किए गए] हैं।

जय और उससे भिन्न अर्थात् पराजय। उस [जय, पराजय]के निमित रूप अदृष्ट। जो परीक्षणीय पुरुषमें [तुला आदिमें नहीं] समवाय सम्बन्धसे रहता है—के, वृत्तिलाभ अर्थात् फलानुकूल सहकारीके लाभकेलिए परीक्षा विधि माने अर्थात् स्वीकृत [की गई] है। 'जो मैं इस परीक्षा विधिसे तुला पर बैठा हूँ वह मैं पापवान् हूँ अथवा निष्पाप हूँ' इस प्रकारका ज्ञान ही सहकारी है। [जैसे 'चोरकी दाढ़ीमें तिनका' वाले

ज्ञानं सहकारि। यद्वा वृत्तिलाभाय जननाय। तथा च प्रतिज्ञानुरूपां शुद्धिमपेक्ष्य धर्मो अशुद्धिमपेक्ष्याधर्मो जन्यते। एतेन ब्रह्मवधाकरणादिना पुण्यस्याजननात् कथं तस्य सहकारि तादृग्ज्ञानं स्यादित्यपि परास्तम् ॥ १३॥

सांख्यास्तु पुरुषश्चैतन्याश्रयोऽकारणम्; अत एव कूटस्थो नित्यः। प्रकृतिश्चाचेतना परिणामिनी नित्या एका। प्रकृतेश्च प्रथमपरिणामो बुद्धिर्महत्तत्त्वम्। तत्राष्टौ धर्माः, ज्ञानाज्ञानैश्वर्यानैश्वर्य-वैराग्यावैराग्य-धर्माधर्मरूपाः। बुद्धिसुख-

---

प्रयोगमें वास्तविक चोरके मनमें 'मैं चोर हूँ कहीं मेरी दाढ़ीमें तिनका तो नहीं है' यह देखनेके लिए उसका हाथ अपने आप दाढ़ीपर चल जाता है अन्योंका नहीं इसी प्रकार 'अहं पापवान्' इस ज्ञानसे अपराधीके शरीरमें कुछ कम्प आदि इस प्रकार होता है जिससे तुलाका नमनोन्नमन आदि हो जाता है] अथवा 'वृत्तिलाभाय' [का दूसरा अर्थ] 'जननाय' अर्थात् उत्पन्न करनेके लिए है। इसलिए प्रतिज्ञाके अनुरूप शुद्धि होनेपर धर्म, और अशुद्धि होनेपर अधर्म उत्पन्न होता है। [यह अर्थ हुआ। इस दूसरे अर्थके करनेकी आवश्यकता इसलिए हुई कि जिसने ब्रह्म-वध आदि पाप नहीं किया है उसमें जयका मुख्य कारण धर्म नहीं है। क्योंकि किसी पापके न करनेसे धर्म नहीं होता है। अपितु किसी शुभ कर्मके अनुष्ठान करनेसे ही धर्म होता है। इसलिए निष्पाप पुरुषमें धर्म रूप मुख्य कारणके न होनेपर सहकारी कारण, कार्यको उत्पन्न नहीं कर सकता है। इसलिए 'वृत्तिलाभाय'का दूसरा अर्थ 'जननाय' किया है] इससे, ब्रह्म-वध आदिके न करनेपर पुण्य पैदा न होनेसे उसका सहकारी उस प्रकारका [अहं निष्पापः] ज्ञान कैसे होगा? इस [दोष]का भी निराकरण हो गया॥ १३॥

सांख्यमतका निराकरण—

अगली कारिकामें सांख्यके सिद्धान्तका खण्डन करेंगे। सांख्य, 'प्रकृति' और 'पुरुष' दो तत्त्व मानता है। अचेतन तत्त्वका नाम 'प्रकृति' और चेतन तत्त्वका नाम 'पुरुष' है। उसके मतमें पुरुष तत्त्व नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव है। अत एव वह कर्ता और भोक्ता नहीं है। प्रकृतिसे उत्पन्न बुद्धि या 'महत्' तत्त्वमें ही वस्तुतः कर्तृत्व भोक्तृत्वादि धर्म रहते हैं। बुद्धि और पुरुषके सम्बन्धसे बुद्धिके कर्तृत्व भोक्तृत्व पुरुषमें और पुरुषका चैतन्य बुद्धिमें प्रतीत होता है। वस्तुतः बुद्धिमें स्वतः चैतन्य नहीं है। सांख्यके मुख्यतः इस सिद्धान्तका कि, चेतन पुरुषमें कर्तृत्व नहीं है और अचेतन बुद्धिमें कर्तृत्वादि धर्म नहीं रहते हैं यहाँ खण्डन करना है। परन्तु टीकाकारने सांख्यके सिद्धान्तका विस्तारपूर्वक यहाँ उल्लेख कर दिया है जो इस प्रकार है—

सांख्य तो, पुरुष चैतन्यका आश्रय और किसीका कारण नहीं है इसीलिए वह कूटस्थ नित्य है। और प्रकृति अचेतना परिणामिनी, नित्य और एक है। प्रकृतिका प्रथम परिणाम 'बुद्धि' या 'महत् तत्व' है। उसमें ज्ञान, अज्ञान, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य, वैराग्य, अवैराग्य, और धर्म, अधर्म रूप आठ, अथवा बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न,

दुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मश्चेत्यष्टौ वा। भावनायास्तैरङ्गीकारात्। अनुभवस्यैव स्मृतिकाले सूक्ष्मतयावस्थानात्।

अचेतनायाः प्रकृतिकार्यायाः बुद्धेश्चैतन्याभिमानान्यथानुपपत्त्या स्वाभाविकचैतन्यस्वरूपः पुरुषः सिद्धः धर्मधर्मिणोरभेदात्।

तत्र प्रकृतेर्महान्, महतोऽहङ्कारः, तस्माद् रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दतन्मात्राणीति सप्त, चक्षुस्त्वक्घ्राणरसनाश्रोत्रमनांसि, वाक्पाणिपादपायूपस्थानि, इन्द्रियाणि, तन्मात्रैः पञ्चमहाभूतानि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानि जायन्ते। तदुक्तम्—

धर्म और अधर्म यह आठ [भाव अथवा धर्म] रहते हैं। [नैयायिक अभिमत आत्मनिष्ठ, स्मृतिके मूलभूत, संस्कार] 'भावना'के, उनके [सांख्य]के द्वारा स्वीकृत न होनेसे [सांख्यके सत्कार्यवादी होनेसे उसके मतमें अनुभवका नाश नहीं होता है अत एव] अनुभव हीके सूक्ष्म रूपमें स्मृति कालमें स्थित रहनेसे [सूक्ष्मावस्थ अनुभवसे ही स्मृतिका उपपादन हो जाता है अतः सांख्य मतमें स्मृतिजनक 'भावना' संस्कारको अलग माननेकी आवश्यकता नहीं होती है। नैयायिकके मतमें अनुभवके क्षणिक होनेसे उसका नाश हो जाता है। वह अपने पीछे भावना नामक संस्कार छोड़ जाता है यह संस्कार आत्मामें रहता है और कालान्तरमें स्मृतिका जनक होता है।]

प्रकृतिकी कार्य रूप [अत एव] अचेतन बुद्धिमें [प्रतीत होनेवाले] चैतन्यकी अन्यथा [पुरुष जैसे चेतन तत्त्वके अभावमें] उपपत्ति सम्भव न होनेसे स्वाभाविक चैतन्य स्वरूप 'पुरुष' सिद्ध होता है। धर्म [चैतन्य] और धर्मी [पुरुष]के अभेदसे [पुरुष चैतन्यस्वरूप है]।

उसमें [सृष्टि उत्पत्तिका क्रम इस प्रकार है कि] प्रकृतिसे महत्तत्व [बुद्धि] महत्तत्वसे अहङ्कार, उस [अहङ्कार]से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द तन्मात्रा, इस प्रकार [महत्, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रा यह मिलकर] सात [आगे उद्धृत सांख्यकारिका ग्रन्थकी कारिकामें 'प्रकृतिविकृतयः सप्त पदसे उल्लिखित], और चक्षु, त्वक्, घ्राण, रसना, श्रोत्र [ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ] मन [अन्तःकरण], वाक्, पाणि, पाद, पायु, और उपस्थ [ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ] [इस प्रकार पञ्चतन्मात्र और एकादश इन्द्रियाँ यह सोलह तत्त्व अहङ्कारसे उत्पन्न होते हैं। इनमेंसे पञ्चतन्मात्राएँ 'प्रकृतिविकृतयः सप्त' वाले सातके वर्गमें निकल जाती हैं। उनके स्थानपर पञ्चतन्मात्राओंसे उत्पन्न पञ्चमहाभूत मिलकर 'षोडशकस्तु विकारः' सोलह विकारका वर्ग बनता है।] तन्मात्रोंसे पञ्चमहाभूत पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश उत्पन्न होते हैं। जैसा कि [सांख्य कारिकामें] कहा है—

[सांख्यमें पुरुष सहित कुल २५ पदार्थ माने हैं जिनका चार विभागोंमें वर्गीकरण किया गया है। इनमेंसे पहिले वर्गमें] मूल प्रकृति किसीकी विकृति नहीं [केवल प्रकृति

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ [सां॰ का॰ ३]

पञ्चमहाभूतान्येकादशेन्द्रियाणि चेति षोडश ।

चैतन्यस्य नित्यस्य स्वाभाविकेष्टानिष्टविषयावच्छिन्नत्वस्वाभाव्येऽनिर्मोक्षः स्यात् । प्रकृत्यधीनत्वेऽपि विषयावच्छेद्यत्वस्य प्रकृतेर्नित्यतया तथैवानिर्मोक्षप्रसङ्गः । घटादेरनित्यस्यापि स्वाभाविकचैतन्यावच्छिन्नत्वे दृष्टादृष्टविभागानुपपत्तिश्च । इन्द्रियमात्रापेक्षो यदि विषयचैतन्यावच्छेदस्तथापि व्यसङ्गानुपपत्तिरतो मनः स्वीकार्यं यत्सम्बन्धेन इन्द्रियस्य विषयीयचैतन्यावच्छेदनियामकत्वम् ।

वर्गमें] है । [उसके बादके महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्र यह सात] महदादि सात 'प्रकृति-विकृति' [रूप दूसरे वर्गमें] और [उसके बाद उत्पन्न होनेवाली ग्यारह इन्द्रियाँ और पञ्चभूत यह] सोलह [केवल विकृति] विकार [रूप तृतीय वर्गमें] और 'न प्रकृति न विकृति' रूप [चतुर्थ वर्गमें] पुरुष है । [कारिकामें आए हुए षोडश शब्दसे] पञ्चमहाभूत और एकादश इन्द्रिय ये सोलह [गृहीत होते हैं]

नित्य चैतन्य [पुरुष]का स्वाभाविक सुख दुःख युक्त स्वभाव मानने [अर्थात् पुरुषमें सुख-दुःखका स्वभाविक सम्बन्ध मानने] पर मोक्ष नहीं बनेगा [क्योंकि स्वाभाविक धर्मका नाश नहीं हो सकता । अतः स्वाभाविक सुख-दुःखका नाश न होनेसे मोक्ष नहीं बनेगा । सुख-दुःख आदि रूप] विषयका सम्बन्ध प्रकृतिके अधीन [प्रकृतिके सम्बन्ध द्वारा] होनेपर भी प्रकृतिके नित्य होनेसे [उसका नाश न होनेसे] उसी प्रकार अनिर्मोक्ष प्राप्त होगा । [सुखदुःख आदिका पुरुषमें स्वाभाविक सम्बन्ध माननेमें अनिर्मोक्ष दोष होता है इसलिए इससे उल्टा पुरुषके सम्बन्धको विषयका स्वाभाविक धर्म यदि माना जाय तो उक्त अनिर्मोक्ष दोष नहीं होगा क्योंकि अनित्य घटादिका नाश हो जानेसे मोक्ष बन जायेगा । उसके उत्तरमें कहते हैं] अनित्य घटादिके चैतन्यके साथ स्वाभाविक सम्बन्ध माननेपर भी [घटादिके] दृष्ट तथा अदृष्ट विभागकी अनुपपत्ति होगी । [अर्थात् मनके द्वारा घटादिका पुरुषके साथ सम्बन्ध होनेपर घट दिखाई देता है अन्यथा अदृष्ट रहता है । अब यदि उस घटके साथ पुरुषका स्वाभाविक सम्बन्ध मान लेंगे तो वह सदा दृष्ट ही रहेगा । अदृष्ट कभी नहीं होगा । इस प्रकार दृष्ट अदृष्ट विभाग नहीं बनेगा] । यदि केवल इन्द्रिय द्वारा विषय [घटादि] तथा चैतन्य [पुरुष]का सम्बन्ध हो तो भी व्यासङ्ग [विक्षेप अर्थात् युगपद् विषयके ग्रहणका अभाव] अनुपपन्न होगा [अर्थात् युगपत् अनेक ज्ञान होने लगेंगे] । अतः मन [का अस्तित्व] स्वीकार करना चाहिए । जिसके सम्बन्धसे इन्द्रियका विषय और चैतन्यके सम्बन्धका नियामकत्व है ।

अर्थात् अनेक इन्द्रियोंका युगपत् अपने-अपने विषयोंके साथ सम्बन्ध होनेसे

स्वप्नदशायां व्याघ्रत्वाभिमानिनो न नरोऽहमित्याभिमानः, अतस्तन्नियमाय नियतविषयाभिमानव्यापारकोऽहङ्कारोऽपि स्वीकार्यः । जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु श्वासप्रश्वासदर्शनात सव्यापारं यदनुवर्तते तद्बुद्धितत्त्वं प्रागुक्तभावाष्टकयोगि स्वीकार्यम् ।

तस्य ज्ञानरूपपरिणामेन सम्बद्धो विषयः पुरुषस्य स्वरूपतिरोधायकः । एवं च बुद्धितत्त्वनाशादेव विषयावच्छेदाभावात् पुंसो मोक्षः । भेदाग्रहाच्च चेतनोऽहं करोमीति अभिमानः । तदुक्तम्—

युगपत् अनेक विषयोंका ज्ञान होने लगेगा क्योंकि उसमें कोई बाधक नहीं है । इस युगपत् ज्ञानोत्पत्तिका निराकरण करनेके लिए अन्तःकरण मनकी सत्ता स्वीकृत की जाती है । मनका एक कालमें एक ही इन्द्रियके साथ सम्बन्ध होता है और जिस इन्द्रियके साथ मनका सम्बन्ध होता है उसीके विषयका ग्रहण होता है । इस प्रकार मनके सम्बन्धसे अनेक विषयोंका युगपत् चैतन्यके साथ सम्बन्ध अर्थात् उनका ग्रहण पुरुष द्वारा नहीं होता है । सांख्यके जो २५ तत्त्व गिनाए है उनमें पुरुष, महत् अहङ्कार और मन इन चारकी सत्ता विशेष रूपसे साध्य हैं शेष पञ्चतन्मात्र, पञ्चस्थूल भूत, दश ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय, और इक्कीसवीं प्रकृतिकी सत्ता अपेक्षाकृत सिद्ध ही है इसलिए इन चारकी सत्ता विशेष रूपसे सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है । जिनमें पुरुषकी सत्ता पहिले सिद्ध कर आए हैं । मनकी यहाँ सिद्ध की । अहङ्कार और महत् तत्त्वकी अगली पंक्तियोंमें सिद्ध करते हैं—

स्वप्न दशामें [अपने आपमें] व्याघ्रत्वका अभिमान करनेवाले [अपनेको व्याघ्र समझनेवाले स्वप्नद्रष्टा पुरुष]को 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसा अभिमान नहीं होता है । [अन्य समयमें मैं मनुष्य हूँ इस प्रकारका अभिमान होता है] । इसलिए इसके नियमनके लिए नियत विषयमें अभिमान व्यापार करनेवाला अहङ्कार स्वीकार करना चाहिए । जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति में श्वासप्रश्वास देखनेसे [इन तीनों दशाओंमें] व्यापार करनेवाला जो तत्त्व निरन्तर वर्तमान रहता है वह बुद्धि तत्त्व पूर्वोक्त [धर्माधर्म, ज्ञानाज्ञान, वैराग्यावैराग्य ऐश्वर्यानैश्वर्य रूप अथवा सुख-दुःख इच्छा द्वेष आदि] आठ भावोंसे युक्त बुद्धि तत्वको स्वीकार करना चाहिए ।

उस [बुद्धि तत्त्व]के [वृत्ति या] ज्ञान रूप परिमाणसे सम्बन्ध विषय [भोग रूप होनेसे, मोक्ष रूप] पुरुषके स्वरूपका तिरोधायक होता है । इसलिए बुद्धि तत्त्वके [वृत्ति रूप परिणाम]के नाश से ही [पुरुषके साथ] विषय सम्बन्धका अभाव होनेसे पुरुषको [स्वस्वरूपोपलब्धि रूप] मोक्ष होता है । और [पुरुषके साथ बुद्धिके] भेदका ज्ञान न होनेसे 'चेतनोऽहं करोमि' मैं चेतन करता हूँ इस प्रकारका अभिमान [होता है] । जैसा कि गीतामें] कहा है—

'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते" ॥ इति

सा च बुद्धिरंशत्रयवती, पुरुषोपरागः, विषयोपराग, व्यापारवेशश्चेति । ममेदं कर्तव्यमित्यत्र ममेति चेतनोपरागः, बुद्धिचेतनयोर्भेदाग्रहादतात्त्विकः। इदमिति विषयोपरागः। तदुभयायत्तो व्यापारवेशः। बुद्धावरोपितचैतन्यस्य विषयेण सम्बन्धो ज्ञानं, ज्ञानेन सम्बन्धश्चेतोऽहं करोमीत्युपलब्धिरित्याहु।

अत्राह—

कर्तृधर्मा नियन्तारश्चेतिता च स एव नः।
अन्यथानपवर्गः स्यादसंसारोऽथवा ध्रुवः ॥ १४ ॥

सब कर्म [सर्वशः कर्मािण अर्थात् सर्वािण कर्मािण] प्रकृतिके गुणों [प्रकृति जन्य महत् तत्त्व या बुद्धि] द्वारा किए जाते हैं [परन्तु] अहङ्कारसे विमूढ़ पुरुष मैं कर्ता हूँ ऐसा समझता है। [अर्थात् पुरुष भ्रमवश अपनेको कर्ता समझता है]।

और वह बुद्धि तीन अंशोंसे युक्त है। पुरुष सम्बन्ध, विषय सम्बन्ध और व्यापारावेश। 'यह मेरा कर्तव्य है' इसमें 'मम' यह अंश चेतनोपराग [पुरुषसम्बन्ध] बुद्धि और पुरुषके भेदके अग्रहणसे [होता है और] अतात्त्विक है। 'इदं' यह विषयका उपराग है और इन दोनों [चेतनोपराग तथा विषयोराग]के अधीन व्यापारावेश है। बुद्धि [वृत्ति]में प्रतिबिम्बित चैतन्यका [वृत्तिसम्बद्ध] विषयके साथ सम्बन्ध [ही] ज्ञान [कहलाता है]। और ज्ञानके साथ 'चेतनोऽहं करोमि' इत्यादि सम्बन्धको 'उपलब्धि' कहते है। [इत्याहुः] ऐसा मानते हैं।

सांख्य सिद्धान्तका निरूपण करते हुए ग्रन्थकारने यहाँ जो पूर्वपक्ष इतने विस्तारके साथ दिखलाया है उसका सारांश यह है कि सांख्यके मतसे कर्तृत्व आदि धर्म अचेतन अन्तःकरण या बुद्धिमें रहते है। और चेतन पुरुष कर्तृत्व आदिसे रहित कूटस्थ नित्य है। न्याय सिद्धान्तके अनुसार ये दोनों ही बातें असङ्गत हैं। कर्तृत्व आदि धर्म अचेतन बुद्धिमें नहीं रह सकते हैं। जो चेतन है वही कर्ता हो सकता है। इसलिए सांख्यमें जो चैतन्य तथा कर्तृत्वको अलग-अलग अधिकरणमें माना है वह उचित नहीं है। इसी बातका प्रतिपादन करनेकेलिए ग्रन्थकारने अगली कारिका लिखी है। सांख्यके पूर्वोक्त पूर्वपक्षके उत्तरके लिए मुख्यतः इस कारिकाकी रचना हुई है—

इसके उत्तरमें कहा है—

कर्तामें रहनेवाले [इच्छा प्रयत्न आदि] धर्म [ही] भोगके नियामक [होते हैं य इच्छति, स एव कुरुते, स एव भुङ्क्ते। जो चाहता है, वही प्रयत्न करता और वही उसका भोग करता है अत एव इच्छा प्रयत्न और भोग एक ही अधिकरण या कर्तामें

---

१. भगवद्गीता।

कृतिसमानाधिकरणास्तावद् धर्माधर्मद्वेषेच्छाः भोगस्य कृतिसामानाधिकरण्यात्। एवं चेतिता चेतनः स एव कृतिमानेव नोऽस्माकं मतः। चेतनोऽहं करोमीति प्रत्ययबलात्। दूषणान्तरमाह अन्यथेति। यदि बुद्धिर्नित्या तदा बुद्धयुपहितात्मनः सर्वदावस्थानादनिर्मोक्षः स्यात्। यद्यनित्या तदोत्पन्ना वाच्या, अनित्य भावस्यानुत्पत्त्यभावात्। तथा च तदुत्पत्तेः प्राक् तदाश्रितधर्मादेरप्यभावेन बुद्धितत्त्वस्यानुत्पत्तौ नियतशरीरेन्द्रियादि कार्यस्यानुत्पत्तौ असंसारः स्यादित्यर्थः ॥ १४ ॥

चार्वाकस्तु भवतु चेतनधर्मोऽदृष्टं, चेतनश्च न नित्यविभुः, किन्तु कायाकारपरिणतभूतविशेषः गौरोऽहं जानामीति प्रतीत्या रूपवत्त्वसिद्धेः।

रहते है। सांख्यके अनुसार इच्छा, प्रयत्न तो बुद्धिमें और उपलब्धि रूप भोग पुरुषमें मानना उचित नहीं हैं]। और हमारे मतमें वही चेतन भी है। अन्यथा [यदि सांख्यका सिद्धान्त माना जाय तो या तो] 'अनपवर्गः स्यात्' अपवर्ग नहीं बनेगा। अथवा 'असंसारः स्यात्' संसार नहीं बनेगा।

कृतिके साथ एक अधिकरण [आत्मा]में रहनेवाले धर्माधर्म द्वेष इच्छा [भोगके नियामक] हैं [क्योंकि] भोगका कृतिके साथ सामानाधिकरण्य होनेसे। [य इच्छति स एव कुरुते स एव भुङ्क्ते यह सामानाधिकरण्यका रूप है] इस प्रकार हमारे [नैयायिकके] मतमें वही [कर्ता आत्मा] चेतन है। 'मैं चेतन करता हूँ' इस प्रतीतिके बलसे [चेतन आत्मामें ही कर्तृत्व भोक्तृत्व है] दूसरा दोष देते हैं। [अन्यथा सांख्य मतके अनुसार] यदि बुद्धि नित्य है तो बुद्धिसे उपहित आत्मा सदा ही रहेगा अत एव मोक्ष नहीं बनेगा। और यदि [बुद्धि] अनित्य है तो उत्पन्न माननी होगी। [क्योंकि] अनित्य पदार्थ अनुत्पन्न नहीं [अपितु उत्पन्न अवश्य] होता है। इसलिए उस [बुद्धि]की उत्पत्तिके पूर्व [आधार रूप बुद्धिके अभावमें] उसमें रहनेवाले धर्माधर्म आदिका भी अभाव होगा। अतः [धर्माधर्मके बिना] बुद्धि तत्त्वकी उत्पत्ति न होनेसे नियत शरीरेन्द्रियादि कार्यकी उत्पत्ति सम्भव न होनेसे संसार नहीं बनेगा। [अतः सांख्य सिद्धान्त ठीक नहीं है] यह भाव है ॥ १४ ॥

चार्वाकके देहचैतन्यवादका खण्डन—

चार्वाकके मतकी आलोचनाके लिए इस स्तबकका प्रारम्भ हुआ था। बीच में प्रसङ्गतः मीमांसक तथा सांख्यमतोंकी आलोचना आ गई। अब फिर मूल चार्वाक मतको लेते हैं।

चार्वाक तो [यह कहता है कि] अदृष्ट [भले ही] चेतनका धर्म रहे [अर्थात् भोग्यनिष्ठ न होकर भोक्तृनिष्ठ अदृष्ट माना जाय परन्तु फिर भी न्याय सम्मत पक्षकी सिद्धि नहीं हो सकती है क्योंकि] चेतन नित्य विभु नहीं है अपितु शरीराकार परिणत [पृथिवी आदि] भूत विशेष ही [चेतन हैं] है। [क्योंकि] 'गौरोऽहं जानामि'में

इत्यत्राह—

नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यो नैकं भूतमपक्रमात् ।
वासनासंक्रमो नास्ति न च गत्यन्तरं स्थिरे ॥ १५ ॥

गौर वर्णवाला मैं जानता हूँ इत्यादि प्रतीतिके बलसे [जाननेवाले ज्ञाता अर्थात् चेतनमें] रूपवत्त्वकी सिद्धि होनेसे । [रूपवान् देहादि ही ज्ञान आदिका आश्रय भूत चेतन है । देहसे अतिरिक्त आत्मा नहीं है] ।

इसका समाधान करनेके लिए कहते हैं—

[यदि शरीरको ही आत्मा या ज्ञाता मानें तो] अन्यके देखेका अन्यको स्मरण नहीं होता है [इसलिए बाल्य अवस्थामें देखे हुए पदार्थोंका यौवनमें स्मरण नहीं बनेगा ! क्योंकि बाल्य और यौवनके] भूत अर्थात् भौतिक शरीर एक नहीं हैं । अपक्रमात् अर्थात् पूर्वशरीरका विनाश हो जानेसे ।

बाल्यकालमें जिसने अनुभव किया था, किसी पदार्थको देखा था । वह शरीर अब यौवनमें नहीं रहा है । 'यौवनका शरीर बाल्य शरीरसे भिन्न दूसरा शरीर है । इसलिए जैसे देवदत्तके देखेका स्मरण यज्ञदत्तको नहीं होता है इसी प्रकार बाल्यके दृष्टका स्मरण यौवनमें नहीं हो सकेगा । बाल्य शरीरसे यौवन शरीरका परिमाण भिन्न है । अर्थात् बाल्य शरीरका परिमाण अब यौवनमें नहीं पाया जाता । वह नष्ट हो चुका है । और परिमाणका नाश तभी होता है जब आश्रयका नाश हो । परिमाण नाशका कारण आश्रयनाश ही है । अत एव बाल्य शरीरके परिमाणका नाश अपने आश्रय बाल्य शरीरके नाशसे ही हुआ है । इसलिए बाल्य शरीर नष्ट हो चुका है और यौवनका शरीर बाल्य शरीरसे भिन्न दूसरा ही शरीर है । अत एव बाल्यमें दृष्टका यौवनमें स्मरण नहीं होगा । यदि यह कहें कि बाल्य शरीरकी वासनाएँ अर्थात् संस्कार यौवनके शरीरमें संक्रान्त हो जाते हैं अत एव स्मरण बन जायेगा तो उत्तर यह है कि—

वासना संक्रम नहीं हो सकता है [क्योंकि कारणकी वासनाका कार्यमें संक्रम माननेसे माताके अनुभूत अर्थका गर्भस्थ बालकको स्मरण होना चाहिए । जो नहीं होता है । अत एव केवल उपादान कारणकी वासना उपादेयमें आती है यह कहना होगा । उस पक्षमें शरीरका उपादान उसके अवयव कर चरणादिको ही मानना होगा । [क्योंकि] स्थिरे स्थिर पक्षमें [कर चरण आदिको शरीरका उपादान माननेके अतिरिक्त] और कोई गति नहीं है ।

क्षणभङ्गवादी बौद्धके मतमें तो पूर्वपरमाणुपुञ्जसे उत्तरपरमाणुपुञ्जकी उत्पत्ति होती है अत एव बाल्यशरीरके परमाणुपुञ्जसे यौवन शरीरके परमाणुपुञ्जकी उत्पत्ति होनेसे उपादानकरणभूत बाल्य शरीरके परमाणुपुञ्जकी वासना उपादेय भूत यौवन शरीरके परमाणुपुञ्जमें आजाती है यह कहा जा सकता है । परन्तु चार्वाक तो बौद्धके समान क्षणभङ्गवादी नहीं है अत एव उसके मतमें पूर्वपरमाणुपुञ्ज उत्तरपरमाणुपुञ्ज

शरीरस्य चैतन्ये बाल्यदशायामनुभूतस्य यौवने स्मरणं न स्यात्। चैत्रदृष्टस्य मैत्रेणास्मरणमिव। न च बाल्ययौवनयोरेकं शरीरम्। अपक्रमात् पूर्वशरीर-विनाशात्। परिमाणभेदेन द्रव्यभेदात्, पूर्वपरिमाणनाशस्य आश्रयनाश-हेतुकत्वात्।

न च कारणेनानुभूतस्य कार्येण स्मरणं स्यादिति वाच्यम्। वासनासंक्रमा-भावात्। अन्यथा मात्रानुभूतस्य गर्भस्थेन स्मरणापत्तेः। ननु उपादानवासनायाः उपादेये संक्रमः स्यादित्यत्राह, 'न च गत्यन्तरं स्थिरे' इति। स्थिरे स्थिरपक्षे पुञ्जात् पुञ्जान्तरोत्पत्तेरभावात् करादि शरीरस्योपादानं वाच्यं, तथा च

का कारण नहीं कहा जा सकता है। अत एव उसके मतमें कर-चरणादिको ही शरीर का उपादान मानना होगा। उस दशामें जब शरीरका हाथ कट जाय, तब जो खण्ड-शरीर रह जायगा, उसका अवयव न होनेसे कटा हुआ हाथ उस शरीरका उपादान नहीं होगा। इसलिए उस हाथसे अनुभूत वस्तुका स्मरण खण्ड-शरीरको नहीं होगा। अत एव शरीरको ज्ञाता या अनुभव करनेवाला आत्मस्थानीय नहीं माना जा सकता है, यह नैयायिकका अभिप्राय है। इस कारिकाकी व्याख्याके लिए बहुतसे अंशकी पूर्ति अध्याहारसे करनी होती है। इसलिए टीकाकारने अनेक वाक्योंका अध्याहार करके उसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

शरीरके चेतन माननेपर बाल्यकालमें अनुभूत [अर्थ]का यौवनमें स्मरण नहीं होगा, जैसे चैत्रके दृष्ट [अर्थ]का मैत्रको स्मरण नहीं होता है। और [इस स्मरणके उपपादनकेलिए यदि बाल्य और यौवनके शरीरको एक ही मानना चाहें तो] बाल्य तथा यौवनका शरीर एक नहीं है। 'अपक्रमात्' अर्थात् पूर्व शरीरका नाश हो जानेसे [बाल्य-यौवनका शरीर एक नहीं कहा जा सकता]। परिमाणके भेदसे द्रव्यका भेद होता है [अत एव बाल्य और यौवनके शरीरके परिमाणमें भेद होनेसे दोनों शरीर एक नहीं हैं]। पूर्व [बाल्य शरीरके] परिमाणका नाश, आश्रय [अर्थात् बाल्य शरीर]के नाशसे जन्य होनेसे [बाल्य शरीरका नाश सिद्ध ही है। अतः बाल्यमें अनुभूतका स्मरण यौवनमें नहीं हो सकता है]। वासनासंक्रमका अभाव होनेसे कारणसे अनुभूतका कार्यको स्मरण हो, यह भी नहीं कह सकते हैं। अन्यथा [यदि कारणकी वासनाका कार्यमें संक्रम मानें तो] माताके अनुभूतका बालकको स्मरण होने लगेगा। अच्छा तो [माताके अनुभूतकी स्मृति बालकको न होने लगे, इसको बचानेकेलिए] उपादान कारणकी वासनाका उपादेयमें संक्रम माना जाय, इस [शङ्काके होने]पर कहते हैं—'न च गत्यन्तरं स्थिरे'। स्थिर पक्षमें [पूर्व] परमाणु-पुञ्जसे [उत्तर] दूसरे परमाणु-पुञ्जकी उत्पत्ति[माननेका सिद्धान्त सम्भव न होनेसे]के अभावसे हाथ आदि [शरीरके अवयवों]को ही शरीरका उपादान कहना होगा।

विच्छिन्ने करादौ तदनुभूतस्य स्मरणं न स्यात्। खण्डशरीरे विच्छिन्नकरादे-रनुपादानत्वात्।

न च, परमाणूनां चैतन्यं तेषाञ्च स्थिरत्वात् स्मरणं स्यादिति वाच्यम्। तथा सति स्मरणस्यातीन्द्रियत्वप्रसङ्गात्, तन्निष्ठरूपादिवत्। करपरमाण्वनुभूतस्य विच्छिन्नकरपरमाण्वसन्निधावस्मरणप्रसङ्गाच्च॥ १५॥

इसलिए हाथ आदिके कट जानेपर उसके अनुभूत [अर्थ]का [खण्ड-शरीरको] स्मरण नहीं हो सकेगा। खण्ड-शरीरमें कटे हुए हाथके उपादान न होनेसे। [अर्थात् कटा हुआ हाथ खण्ड-शरीरका अवयव नहीं है, इसलिए वह खण्ड-शरीरका उपादान नहीं कहा जा सकता है। इसलिए उस कटे हुए हाथके अनुभूत अर्थका खण्ड-शरीरको स्मरण नहीं हो सकेगा। अत एव शरीरको चेतन नहीं माना जा सकता है]।

चैतन्यके परमाणुधर्मत्वका खण्डन—

इसपर चार्वाक फिर कहता है कि चैतन्यको शरीरका धर्म न मानकर परमाणुओंका धर्म मानेंगे। बाल्य कालके शरीरके परमाणु यौवन शरीरमें भी स्थिर रहते हैं, इसलिए बाल्यकालके अनुभूत अर्थका यौवनमें स्मरण हो सकेगा, और आत्मा जैसे नित्य पदार्थको नहीं मानना पड़ेगा। इसके उत्तरमें नैयायिकका कहना यह है कि चैतन्यको परमाणुओंका धर्म माननेमें दो प्रकारके दोष आयेंगे। एक तो यह कि परमाणुके धर्म अतीन्द्रिय होते हैं। लौकिक पुरुष परमाणुके धर्मको अपनी इन्द्रियोंसे ग्रहण नहीं कर सकते हैं। जैसे परमाणुका रूपादि लौकिक प्रत्यक्षसे ग्रहण नहीं हो सकता है। इसी प्रकार यदि चैत्यन्य और उसके द्वारा स्मरणको परमाणुका धर्म मानेंगे तो वह स्मरण भी अतीन्द्रिय हो जायगा और लौकिक पुरुषको अपने मनरूप इन्द्रियसे उसका ग्रहण नहीं होगा। दूसरा दोष पहले प्रकारसे ही यह होगा कि हाथ कट जानेपर हाथके साथ अनुभव करनेवाले परमाणु भी अलग हो गए। अब जो खण्ड-शरीर रह गया है, उसमें कटे हुए हाथके परमाणु नहीं हैं। अत एव उस हाथके अनुभूत अर्थका खण्ड-शरीरको स्मरण नहीं होगा। इसलिए चैतन्यको शरीर अथवा परमाणुओंका धर्म मानना उचित नहीं है। पंक्तियोंका अर्थ इस प्रकार है—

और परमाणुओंका [धर्म] चैतन्य [है] और उन [बाल्य शरीरके परमाणुओं] के [यौवन शरीरमें] स्थिर [विद्यमान] होनेसे [बाल्यके अनुभूतका यौवन में] स्मरण हो [सकेगा], यह भी नहीं कहना चाहिए। [क्योंकि] ऐसा होनेपर [अर्थात् चैतन्यको परमाणुओंका धर्म माननेपर] उस[परमाणु]में रहनेवाले रूपादिके समान स्मरणका अतीन्द्रियत्व प्राप्त होगा। [अर्थात् लौकिक पुरुष अपनी इन्द्रिय मनसे उस स्मरणको ग्रहण नहीं कर सकेगा और कटे हुए] हाथके परमाणुसे अनुभूत [अर्थ] का कटे हुए हाथके [खण्ड-शरीरमें] न होनेसे स्मरण नहीं होगा॥१५॥

बौद्धोंका क्षणभङ्गवादी पूर्वपक्षका उपपादन—

पिछली कारिकामें 'न च गन्यन्तरं स्थिरे' की व्याख्या करते समय यह बताया था कि चार्वाकके स्थिर पक्षमें पूर्व परमाणु-पुञ्जको उत्तर परमाणु-पुञ्जका कारण नहीं कहा जा सकता है। उसके यहाँ तो, कर—चरण आदिको ही शरीरका उपादान मानना होगा। अत एव उसके यहाँ बाल्यके अनुभूतका यौवनमें स्मरण नहीं बन सकता है। इस लेखसे स्थिरपक्षका विरोधी 'क्षणभङ्ग-पक्ष' स्वतः सामने आ जाता है और उससे यह भी सूचित होता है कि क्षणभङ्गवादी-पक्षमें पूर्व अर्थात् बाल्य शरीरका परमाणु-पुञ्ज उत्तर अर्थात् यौवन शरीरके परमाणु-पुञ्जका उपादान होता है। अत एव यदि उपादानकी वासना उपादेयमें आती है, यह सिद्धान्त माना जाय तो उपादानभूत बाल्यशरीरके परमाणु-पुञ्जकी वासना उपादेयरूप यौवन शरीर के परमाणु-पुञ्जमें आ सकती है। इसलिए क्षणभङ्गवादी पक्षमें बाल्यके दृष्टका यौवनमें स्मरण बन सकता है। और आत्माको भी मानना नहीं पड़ता है। यह क्षणभङ्गवादी-पक्ष 'बौद्धों' का है। इसलिए बौद्ध अथवा बौद्धकी ओरसे चार्वाक उस पक्षको पूर्वपक्ष रूपमें उपस्थित करता है। बौद्धोंके क्षणभङ्गवाद-सिद्धान्तका खण्डन करनेकेलिए ही ग्रन्थकार श्री उदयनाचार्यने यह कारिका लिखी है।

'क्षणभङ्गवाद' बौद्धोंका एक प्रमुख सिद्धान्त है। महात्मा बुद्धने अपने जीवन में जिन चार 'आर्य सत्यों' का उपदेश दिया था, उनमें 'अनित्यम्'—यह संसार अनित्य है—यह भी एक 'आर्य सत्य' था। विश्वसे वैराग्योत्पादनार्थ यह 'आर्य सत्य' आस्तिक शास्त्रोंमें भी माना गया है। उसी भावनासे महात्मा बुद्धने भी इसका उपदेश दिया था। इसी 'आर्य सत्य' से आगे चलकर बौद्धोंके इस प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त 'क्षणभङ्गवाद' का विकास हुआ। बौद्ध दार्शमिक इस 'क्षणभङ्गवाद' को सिद्ध करने केलिए 'सत्त्व' हेतुका आश्रय लेते हैं। 'घटः क्षणिकः सत्त्वात्' घट क्षणिक है 'सत्' होनेसे—यह उनका अनुमानवाक्य है। इसके अनुसार 'यत् सत् तत् क्षणिकं'—जो 'सत्' है वह 'क्षणिक' है, यह व्याप्ति बनती है। इस व्याप्तिके समर्थनकेलिए 'जलधर पटल' को उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार अनुमान द्वारा बौद्ध विद्वान् 'क्षणिकत्व' को सिद्ध करते हैं।

इस अनुमानमें प्रयुक्त होनेवाले 'सत्' शब्दका भी बौद्धोंके यहाँ विशेष अर्थ है। नैयायिकोंके मतमें 'सत्तासामान्ययोगित्वं सत्त्वम्' यह 'सत्' का लक्षण है अर्थात् जिसमें सत्ता जाति रहे, उसको 'सत्' कहते हैं। परन्तु बौद्ध लोग इस लक्षणको नहीं मानते हैं। इसका कारण यह है कि नैयायिकका 'सामान्य' या 'जाति' पदार्थ जो इस लक्षणका घटक है, नित्य पदार्थ है। परन्तु बौद्ध किसी नित्य पदार्थको नहीं मानते हैं। अत एव वह जाति या सामान्यको भी नहीं मान सकते हैं। इसलिए सामान्य-

घटित 'सत्तासामान्ययोगित्वं सत्त्वं' यह लक्षण भी उनको मान्य नहीं हो सकता है। तब बौद्ध 'सत्' का लक्षण करते हैं—'अर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वम्'। जो 'अर्थक्रियाकारी' है, उसको 'सत्' कहते हैं। जैसे घट 'सत्' है; क्योंकि उससे जलाहरणरूप 'अर्थक्रिया' सम्पादित होती है।

यह 'अर्थक्रियाकारित्व' रूप 'सत्त्व' 'क्रम-यौगपद्याभ्यां व्याप्तम्'–क्रम और यौगपद्य से व्याप्त है। अर्थात् जहाँ-जहाँ 'अर्थक्रियाकारित्व' होगा वहाँ-वहाँ क्रम अथवा यौगपद्य अवश्य होगा। अर्थात् अनेक अर्थ-क्रियाओंका अनुष्ठान या तो क्रमसे होगा अथवा युगपत्, एक साथ होगा। इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। अत एव 'अर्थ-क्रियाकारित्व' रूप 'सत्त्व' क्रम और यौगपद्यसे व्याप्त है। अब 'व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यस्यापि निवृत्तिः' यह दर्शनका एक सामान्य सिद्धान्त है। इसका आशय यह है कि जहाँसे व्यापक धर्म निवृत्त हो जाता है, वहाँसे व्याप्य धर्म स्वतः निवृत्त हो जाता है। जैसे 'वृक्षत्व' व्यापक धर्म है, आम्रत्व, शिंशिपात्व आदि व्याप्य धर्म हैं। जहाँ वृक्षत्व नहीं होता अर्थात् जो वृक्ष नहीं; वहाँसे शिंशिपात्व, आम्रत्व आदि धर्म स्वयं निवृत्त हो जाते हैं अर्थात् वह आम है या शीशम यह प्रश्न ही नहीं उठता। अथवा जहाँसे ब्राह्मणत्व निवृत्त हो जाता है, वहाँ उसके व्याप्य गौडत्व आदि धर्म स्वयं निवृत्त हो जाते हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार जहाँसे व्यापक धर्म 'क्रम और यौगपद्य' निवृत्त हो जायेंगे, वहाँसे 'अर्थक्रियाकारित्व' रूप 'सत्त्व' भी स्वतः निवृत्त हो जायगा। अर्थात् वह 'सत्' नहीं कहा जा सकता है।

यह 'अर्थक्रियाकारित्व' रूप 'सत्त्व' स्थिर घटमें नहीं बनता है। क्योंकि उस स्थिर घटको चाहे क्रमशः अर्थक्रियाकारी मानें अथवा युगपत् अर्थक्रियाकारी मानें दोनों पक्षोंमें उसमें कर्तृत्व और अकर्तृत्व—दो विरुद्ध धर्म आ जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि, मान लो स्थिर घटको अपने जीवन-कालमें दस अर्थक्रियाएँ करनी है। तो उसकेलिए दो ही मार्ग हैं। या तो वह उन सब अर्थक्रियाओंको क्रमशः करे या युगपत्, एक साथ कर डाले। क्रमशः करनेके पक्षमें वह एक क्षणमें एक अर्थ-क्रिया करता है, उस समय वह उस एक क्रियाका तो कर्ता है और शेष नौका अकर्ता है। इस प्रकार उसमें कर्तृत्व और अकर्तृत्व—ये दो विरुद्ध धर्म आ जाते हैं। इसी प्रकार यदि वह उन सब अर्थ क्रियाओंका सम्पादन युगपत्, एक साथ कर डालता है तो वह उस एक क्षण तो कर्ता होता है, परन्तु अपने जीवनके शेष कालमें वह अकर्ता होता है। इस प्रकार क्रमशः अर्थक्रियाकारित्व अथवा युगपत् अर्थक्रिया-कारित्व—इन दोनों ही पक्षोंमें स्थिर घटमें कर्तृत्व-अकर्तृत्व दो विरुद्ध धर्मोंके आ जानेसे वह दोनों ही प्रकार अर्थात् क्रम और यौगपद्य नहीं बनते हैं। अतः स्थिर घटसे 'क्रम, यौगपद्य' रूप व्यापक धर्म निवृत्त हो जानेसे 'अर्थक्रियाकारित्व' रूप

'सत्त्व' जो कि 'क्रम, यौगपद्य' का व्याप्य है, स्वतः निवृत्त हो जायगा। अर्थात् स्थिर घट में अर्थक्रियाकारित्व रूप 'सत्त्व' नहीं बनता है। फिर भी अर्थक्रियाकारित्व घट में प्रतीत तो होता ही है, क्योंकि उससे जलाहरण होता ही है। यह 'अर्थक्रियाकारित्व' स्थिर घटमें न बननेसे 'क्षणिके घटे विश्राम्यति', अर्थात् अर्थक्रियाकारित्व प्रतीत होता ही है और वह स्थिर घटमें बनता नहीं, इसलिए यह क्षणिक घटमें ही फलित होता है। इस प्रकार बौद्ध अपने क्षणिकत्ववाद की सिद्धि करते हैं। बौद्ध दार्शनिक ज्ञानश्रीने इसी युक्तिक्रम से 'क्षणभङ्गवाद' की सिद्धि करते हुए निम्न श्लोक लिखा है—

यत् सत् तत् क्षणिकं यथा जलधरः सन्तश्च भावा अमी,
सत्ता शक्तिरिहार्थकर्मणि मितेः सिद्धेषु सिद्धा न सा।
नाप्येकैवविधान्यथा परकृतेनापि क्रियादिर्भवेत्,
द्वेधापि क्षणभङ्ग-सङ्गतिरतः साध्ये च विश्राम्यति॥

क्षणभङ्गवादी पूर्वपक्षका निराकरण—

बौद्धोंके इस सिद्धि-प्रकारमें स्थिर घटमें युगपत् अथवा क्रमशः अर्थक्रिया करने पर जिन कर्तृत्व-अकर्तृत्वको विरुद्ध धर्म मानकर क्रम और यौगपद्यको अनुपपन्न बतलाया गया है। न्यायके मतमें वे कर्तृत्व और अकर्तृत्व वस्तुतः विरुद्ध धर्म नहीं हैं। क्योंकि एक ही व्यक्तिमें ये कर्तृत्व और अकर्तृत्व कालभेदसे, और एक ही कालमें व्यक्तिभेदसे रह सकते हैं। जब घट जलाहरण रूप अर्थक्रियाएँ करता है तब, उस कालमें वह कर्ता है। और उससे भिन्न कालमें अकर्ता है। विरोध तब होता है, जब एक ही व्यक्ति एक ही कालमें एक ही वस्तुका कर्ता और अकर्ता दोनों होता है। परन्तु ऐसा नहीं है। एक व्यक्तिमें कालभेदसे, और एक कालमें व्यक्तिभेदसे रहनेवाले कर्तृत्व-अकर्तृत्व धर्म विरुद्ध धर्म नहीं हैं। इसलिए बौद्धका कथन ठीक नहीं है। यदि एक पदार्थके साथ ऐसे दो धर्मोंके सम्बन्धको विरोध कहा जाय तो बौद्धका जो क्षणिक घट है, वह भी एक साथ ही किसी देश और किसी कालमें स्थित होता है। किसी देशविशेषमें स्थित होनेसे उस क्षणिक घटमें 'तद्देशवृत्तित्व' और किसी कालविशेषमें स्थित होनेसे उसमें 'तत्कालवृत्तित्व' रूप दो विरुद्ध धर्म आ जाते हैं। इसलिए उस क्षणिक घटमें भी विभाजन करना होगा। अर्थात् 'तद्देशवृत्ति' तथा 'तत्कालवृत्ति' घटोंको अलग-अलग मानना होगा। परन्तु यह न बौद्ध मानता है और न ऐसा मानना सम्भव ही है। इसलिए वास्तवमें ऊपर दिखलाये गये कर्तृत्व और अकर्तृत्व धर्म विरुद्ध धर्म नहीं हैं। अत एव उनके आधार पर स्थिर घटमें 'अर्थक्रियाकारित्व' का निषेध कर घटको 'क्षणिक' ठहराना अनुचित है।

फिर इस 'क्षणभङ्गवाद' के अनुसार हर पदार्थमें वैजात्य स्वीकार करना पड़ेगा।

नन्वस्तु क्षणभङ्गः, तथा च पूर्वपूर्वपरमाणुपुञ्जेनोपादेयोत्तरोत्तरपरमाणुपुञ्ज इति न स्मरणानुपपत्तिः। इत्यत्राह—

न वैजात्यं विना तत् स्यात्, न तस्मिन्ननुमा भवेत्।
विना तेन न तत्सिद्धिर्नाध्यक्षं निश्चयं विना ॥१६॥

घरमें रखा हुआ गेहूँका बीज और खेतमें डाला गया गेहूँका बीज अलग-अलग हैं, विजातीय है—ऐसा बौद्धको मानना होता है। क्षेत्रस्थ बीजमें 'अङ्कुरकुर्वद्रूपत्व' है और कुशूल [अनाज भरनेकी कोठी] में रखे हुए बीजमें अङ्कुर-कुर्वद्रूपत्व नहीं है। इस प्रकारका भेद भी बौद्धको मानना होता है। इस 'वैजात्य' से अनुमान मात्रका लोप हो जायगा। इसका उपपादन कारिकामें करेंगे। इसलिए भी क्षणभङ्गवादका सिद्धान्त ठीक नहीं है। इस प्रकार इस कारिकामें 'क्षणभङ्गवाद' का खण्डन करनेके लिए पूर्वपक्ष किया गया है। उसका उत्तर कारिका द्वारा करते हैं।

अच्छा, तो क्षणभङ्गवाद ही मानो। जिससे पूर्व परमाणु-पुञ्जसे उत्तर-उत्तर परमाणु-पुञ्ज उत्पन्न होता है, इसलिए [बाल्यमें अनुभूतका यौवनमें] स्मरण अनुपपन्न नहीं है। इसपर कहते हैं—

वैजात्य अर्थात् प्रतिव्यक्ति-भेद [क्षेत्रस्थ बीजमें अंकुरकुर्वद्रूपत्व और कुशूलस्थ बीजमें उसका अभाव] माने बिना 'तत्' अर्थात् क्षणिकत्वकी सिद्धि नहीं हो सकती। और उस [वैजात्य] को स्वीकार कर लेनेपर अनुमान नहीं बन सकता। [क्योंकि अनुमानकेलिए धूमसामान्य और वह्निसामान्यका कार्यकारणभाव होना आवश्यक है। और 'क्षणभंगवाद' के अनुसार वह्निसामान्यका धूमसामान्यके प्रति कारणत्व नहीं है, अपितु धूमकुर्वद्रूपत्व-विशिष्ट वह्निविशेषका धूमविशेषके प्रति कारणत्व है। अतः धूमसामान्य और वह्निसामान्यके कार्यकारणभावके न होने से 'सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति' द्वारा होनेवाला धूम और वह्निका व्याप्तिग्रह ही नहीं हो सकेगा। अत एव व्याप्तिग्रहके अभावमें अनुमान नहीं हो सकता है] और उस [अनुमान] के बिना उस [क्षणिकत्व] की सिद्धि नहीं हो सकती है। [क्योंकि 'घटः क्षणिकः' 'सत्त्वात्' इस अनुमानके द्वारा ही तो बौद्ध 'क्षणभङ्गवाद' को सिद्ध करता है। जब व्याप्तिके अभावमें अनुमानमात्रका लोप हो जाता है, तब यह अनुमान भी नहीं बनेगा। इसलिए क्षणभङ्गवादकी सिद्धि नहीं हो सकती है। इसपर यदि बौद्ध यह कहे कि अनुमानका लोप होता है तो हो जाने दो। हम प्रत्यक्ष प्रमाणसे 'क्षण-भङ्गवाद' को सिद्ध कर लेंगे। क्योंकि प्रत्यक्ष वर्तमान पदार्थ का ही होता है और वर्त-मान एक क्षण ही रहता है। उस एक क्षणके आगे-पीछेके क्षण अतीत और अना-गत क्षण होते हैं। अत एव हम एक क्षण ही पदार्थका प्रत्यक्ष करते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाणसे क्षणिकत्वकी सिद्धि कर लेंगे। इस पक्षका समाधान करनेके लिए कारिकाका चतुर्थ चरण दिया गया है—'नाध्यक्षं निश्चयं विना'।] 'निश्चय' अर्थात्

[क्षणिकत्वविषयक] सविकल्पकके बिना 'अध्यक्ष' [क्षणिकत्वविषयक] निर्विकल्पक नहीं हो सकता है।

सविकल्पकज्ञान तथा सामान्यविषयक बौद्धमत—

इसका अभिप्राय यह है कि न्यायके मतानुसार प्रत्यक्षके दो भेद होते हैं। एक 'सविकल्पक' और दूसरा 'निर्विकल्पक'। 'नामजात्यादियोजनासहितं सविकल्पकम्' अर्थात् जिसमें पदार्थके स्वरूपके अतिरिक्त उसके नाम, जाति आदिका भी भान हो, उसको 'सविकल्पक' प्रत्यक्ष कहते हैं और 'नामजात्यादियोजनारहितं वस्तुमात्रावगाहि ज्ञानं निर्विकल्पकम्। अर्थात् नाम जाति आदिके भानसे रहित, केवल वस्तु मात्रके अवगाहि ज्ञानको 'निर्विकल्पक' कहते हैं। निर्विकल्पक ज्ञानका सबसे अच्छा उदाहरण बालक अथवा मूक, गूंगे पुरुषका ज्ञान है। 'बालमूकादिविज्ञानसदृशं निर्विकल्पकम्'। एक घड़ीको जिस प्रकार हम देखते हैं, ठीक उसी प्रकार उसके रूपका ज्ञान बालक और मूकको भी होता है। भेद केवल इतना है कि हमारे ज्ञानमें उस वस्तुके नाम, जाति आदिका भी भान होता है और बालक तथा मूकके ज्ञानमें केवल वस्तुका भान होता है। उसके नाम, जाति आदिका नहीं। इस प्रकार न्यायमतमें प्रत्यक्ष ज्ञानके दो भेद हैं।

परन्तु बौद्ध लोग केवल 'निर्विकल्पक-ज्ञान' को ही प्रत्यक्ष मानते हैं, 'सविकल्पक-ज्ञान' को नहीं। आचार्य दिङ्नागने प्रत्यक्षका लक्षण किया है—'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्'। इसके अनुसार केवल 'निर्विकल्पक' ही प्रत्यक्ष होता है। उनके यहाँ 'सविकल्पक' को प्रत्यक्ष न माननेका कारण यह है कि 'सविकल्पक' ज्ञानमें जातिका भान होता है। 'नामजात्यादियोजनासहितं सविकल्पकम्'। इसलिए सविकल्पक ज्ञान जातिज ज्ञान है। बौद्धके मतमें 'जाति' कोई पदार्थ नहीं है। नैयायिकने जो 'जाति' की कल्पना की है, वह 'अनुवृत्ति-प्रत्यय' अर्थात् एकाकार-प्रतीतिके हेतुरूपमें जाति या सामान्यकी कल्पना की है। 'अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्' यह 'सामान्य' का लक्षण है। और उसको नित्य तथा 'अनेकसमवेत' धर्म माना है। 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वं सामान्यम्' यह भी सामान्यका दूसरा लक्षण न्यायके समानतन्त्र-वैशेषिक-आदिमें पाया जाता है। इनमेंसे पहला लक्षण सामान्यके माननेके प्रयोजनको और दूसरा उसके स्वरूपको प्रधान रूपसे व्यक्त करता है। सामान्यके माननेका मुख्य प्रयोजन अनुगत प्रतीति अर्थात् दस घट-व्यक्तियोंमें 'अयं घटः, अयं घटः' इस प्रकारकी एकाकार-प्रतीतिका उपपादन करना है। उसके अनुसार इस एकाकार-प्रतीतिका कारण ही 'घटत्वसामान्य' है। दसों घट-व्यक्तियोंमें घटत्व सामान्यके रहनेसे उन सबमें घटः, घटः—यह अनुगत, एकाकार प्रतीति होती है। दूसरा लक्षण उस सामान्यके नित्य और अनेक समवेत रूपको बोधन करता है।

वैजात्यं कुर्वद्रूपत्वं विना न तत् क्षणिकत्वं स्यात् सिद्ध्यतीत्यर्थः। स्थिर

बौद्ध जब सामान्यको नहीं मानता है, तब इस एकाकार-प्रतीतिका उपपादन करनेका भार—उसपर आता है और उस एकाकार प्रतीतिके उपपादनकेलिए बौद्धदर्शनमें 'अपोह' की—जिसका अर्थ 'अतद्व्यावृत्ति' या 'तद्भिन्नभिन्नत्व' है—कल्पना की गई है। उसके अनुसार दस घटोंमें भावभूत घटत्वसामान्य अनुगत प्रतीतिका कारण नहीं है, अपितु उस प्रतीतिका कारण 'अपोह' या 'अतद्व्यावृत्ति' है। वे सब घट, अघट अर्थात् घटभिन्न समस्त जगत्से व्यावृत्त अर्थात् भिन्न हैं। इसलिए इस 'अतद्व्यावृत्ति' या 'अपोह' के कारण ही उनमें घटः, घटः-यह अनुगत एकाकार-प्रतीति होती है। यह बौद्ध मत है। बौद्धके इस 'अपोह' और न्यायके 'सामान्य' में नित्यताके अतिरिक्त एक अन्तर यह भी है कि न्यायका सामान्य एक भावभूत पदार्थ है और बौद्धका 'अपोह' अन्योन्याभावरूप कहा जा सकता है। इस प्रकार अवश्य स्वीकर्तव्य अभाव पदार्थसे ही जब 'अनुवृत्ति-प्रत्यय' या एकाकार-प्रतीति का उपपादन हो सकता है, तब उसकेलिए अलग 'सामान्य' पदार्थके कल्पना-गौरव को स्वीकार करना उचित नहीं है, यह बौद्धका अभिप्राय है।

इस प्रकार जब 'सामान्य' का खण्डन हो जाता है, तब सामान्यविषयक 'सविकल्पक' ज्ञानको अर्थज ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। इसलिए अर्थज न होने के कारण ही 'सविकल्पक' को बौद्ध प्रत्यक्ष नहीं मानते हैं। 'निर्विकल्पक' ज्ञान स्वलक्षणविषयक अर्थात् वस्तुविषयक होनेसे अर्थज है और अर्थज होनेसे प्रत्यक्ष है। यह बौद्ध मतका सार है। परन्तु इस 'निर्विकल्पक' की सिद्धि सरल नहीं है, क्योंकि प्रत्येक ज्ञानके साथ नाम आदिका भान होता ही है, इसलिए वह 'सविकल्पक' रूप में ही अनुभवमें आता है। यद्यपि उस 'सविकल्पक' का मूलभूत निर्विकल्पक होता है, परन्तु वह स्पष्ट अनुभवमें नहीं आता है। सविकल्पकके द्वारा उसके कारणभूत निर्विकल्पकका अनुमान होता है। इसलिए क्षणिकत्वविषयक निर्विकल्पक ज्ञान तभी सिद्ध हो सकता है, जब क्षणिकत्वविषयक सविकल्पक हो। परन्तु क्षणिकत्वविषयक सविकल्पक ज्ञान नहीं होता है, इसलिए क्षणिकत्वविषयक निर्विकल्पककी सिद्धि भी नहीं हो सकती है। यही कारिकाकी 'नाध्यक्षं निश्चयं विना' इस पंक्तिका भाव है।

वैजात्य अर्थात् कुर्वद्रूपत्व [कुशूलस्थ बीजमें अंकुरकुर्वद्रूपत्वके अभाव और क्षेत्रस्थ बीजमें अंकुरकुर्वद्रूपत्व रूप वैजात्य, अथवा वह्निविशेषमें धूमविशेषके प्रति कुर्वद्रूपत्वके होनेसे अन्य वह्निसे उस धूमविशेषकुर्वद्रूप वह्निके भेद अर्थात् वैजात्य] के [माने] विना 'तत्' अर्थात् उस क्षणिकत्वकी सिद्धि नहीं हो सकती है। स्थिर बीजादिमें ही सहकारी [जल, पृथिवी आदिके संयोग] के लाभ और अलाभ

एव बीजादौ सहकारिलाभालाभाभ्यामेव कार्यजन्माजन्मनोरुपपत्तेः बीजत्वादिनैव अंकुरादिजनकतोपपत्तेः, बीज व्यक्तिभेदाभावे कुतः क्षणिकत्वं स्यात्।

तस्मिन् जातिविशेषे च ऐन्द्रियकवृत्तावतीन्द्रियत्वेनाभ्युपगम्यमाने सत्यनुमानं न स्यात्। धूमकुर्वद्रूपवह्नित्वादिनैव वह्न्यादेर्हेतुतया विलक्षणस्वकार्यजनकत्वेन सम्भावितस्य विजातीयधूमस्यैव वह्निजन्यत्वसम्भावनायां

[प्राप्ति और अप्राप्ति] से ही [अंकुररूप] कार्यके जन्म और अजन्मका उपपादन हो सकनेसे, [कुर्वद्रूपत्वको माने बिना भी,] बीजत्वादि रूपसे ही [अर्थात् कुर्वद्रूपत्वके बजाय बीजत्वको अंकुरजनकतावच्छेदक धर्म मानकर स्थिर एक ही बीज से] अंकुरजनकताका उपपादन हो जानेके कारण [क्षणिकवादके समान] बीजव्यक्तियोंके भेद [माननेकी आवश्यकता] के अभावमें क्षणिकत्व कहाँसे आया।

क्षणिकत्वके खण्डनमें लिखी गई इन पंक्तियोंका अभिप्राय यह हुआ है कि क्षणिकत्ववादीके मतमें कुशूलस्थ बीज जब तक लेजाकर खेतमें बोया जाता है, तब तक एकसे दूसरा, दूसरेसे तीसरा—इस प्रकार असंख्य बीज-व्यक्ति उत्पन्न हो जाते हैं। ये सब एक-दूसरेसे भिन्न है। उन सबका भेदक धर्म स्वोत्तरवर्ती बीजविशेषके प्रति कुर्वद्रूपत्व ही है। इस प्रकार क्षणिकत्ववादी एक तो बीज-व्यक्तियों का भेद मानता है और दूसरे उनमें 'कुर्वद्रूपत्व' मानता है। यही 'कुर्वद्रूपत्व' कुशूलस्थ बीज और क्षेत्रस्थ बीजका भेदक है। कुशूलस्थ बीजमें 'अंकुरकुर्वत्रूपत्व' नहीं है, क्षेत्रस्थ बीजमें 'अंकुरकुर्वद्रूपत्व' है। इसलिए वे दोनों बीज भिन्न हैं। इसीलिए एक अंकुरका जनक होता है और दूसरा नहीं। यह बौद्धोंका दृष्टिकोण है। परन्तु न्यायका कहना यह है कि उन कुशूलस्थ और क्षेत्रस्थ बीजोंको अलग माननेकी आवश्यकता नहीं है। बीज एक ही होनेपर भी कुशूलस्थ दशामें वे अंकुर जनक नहीं होते, इसका कारण सहकारी जल, पृथिवी आदिकी प्राप्तिका न होना है और क्षेत्रस्थ दशामें जब अंकुरको पैदा करते हैं, तब उनके साथ सहकारी जल तथा पृथिवी आदिका संयोग हो जाता है। इस प्रकार सहकारीके लाभ और अलाभसे एक ही बीजमें जब अंकुरजनकता और अजनकता बन जाती है तब उनमें 'अंकुरकुर्वद्रूपत्व' रूप वैजात्य और बीज-व्यक्तियोंमें भेद मानना व्यर्थ ही है। और यदि इस भेद और वैजात्यको छोड़ दिया जाय तो क्षणिकत्व ही कहाँ रहा।

उस इन्द्रियग्राह्य [बीजादि] में [प्रत्यक्ष दिखलाई न देनेवाले अंकुरकुर्वद्रूपत्व स्वरूप] अतीन्द्रिय जातिविशेष [अंकुरकुर्वद्रूपत्व] के स्वीकार करनेपर अनुमान नहीं हो सकेगा। [क्योंकि] धूम [विशेष] कुर्वद्रूप वह्नि [विशेष] रूपसे ही वह्नि आदिकी [धूमादिके प्रति] हेतुता होनेसे, विशेष प्रकारके [धूमरूप] अपने [वह्निके] कार्यके जनक होनेसे [उस विशेष वह्निसे] उत्पन्न विशेष धूमके ही

धूमसामान्ये हेतुत्वानिर्णयात् । तथा च कार्यकारणभावरूप-विपक्षबाधकतर्काधीनव्याप्तिनिर्णयस्यासम्भवेन अनुमानमात्रोच्छेदप्रसङ्ग इति ।

तेनानुमानेन विना च न क्षणिकत्वसिद्धिः तस्यानुमानैकगम्यत्वात । न च तत्र प्रत्यक्षमेव मानमिति वाच्यम् । निर्विकल्पकस्यैव तन्मते विषयजन्यतया प्रामाण्यं, तस्य च सविकल्पकोन्नेयतया क्षणिक इति सविकल्पकस्यासिद्धावसिद्धेः ।

[विशेष] वह्निसे जन्य होनेसे धूमसामान्यके प्रति [वह्निसामान्यके] कारण न होनेसे ['सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति द्वारा धूम और वह्निका व्याप्तिग्रह नहीं हो सकता है] इसलिए कार्यकारणभाव रूप विपक्ष-बाधक-तर्कके अधीन व्याप्ति निश्चयके असम्भव होनेसे अनुमानमात्रका उच्छेद हो जायगा ।

और उस अनुमानके विना उस क्षणिकत्वकी सिद्धि नहीं हो सकती है । क्योंकि उस [क्षणिकत्व] की सिद्धि केवल ['सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् जलधरपटलवत्' इत्यादि रूप] अनुमानसे ही साध्य है । उस [क्षणिकत्व] के विषयमें प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, यह भी नहीं कहना चाहिए । क्योंकि उन [बौद्धों] के मतमें विषयजन्य [अर्थज] होनेसे निर्विकल्पकका ही प्रामाण्य है । और उस [निर्विकल्पक] के सविकल्पक द्वारा अनुमेय होनेसे [घटः] 'क्षणिकः' इस प्रकारका सविकल्पक ज्ञान न होनेसे [क्षणिकत्व-विषयक] निर्विकल्पक भी [सिद्ध] नहीं हो सकता है । [अतः प्रत्यक्ष प्रमाण भी क्षणिकत्वका ग्राहक नहीं हो सकता है] ।

जातिबाधकोंका संग्रह—

अभी 'जाति' या 'सामान्य' का लक्षण ऊपर किया जा चुका है । सामान्यतः घटत्व, पटत्व आदिके समान 'त्वान्त' पद जातिके सूचक होते हैं । परन्तु वे 'त्वान्त' पद सर्वदा जातिसूचक ही नहीं, कभी-कभी 'उपाधि' आदिके सूचक भी होते हैं । कुर्वद्रूपत्वके अन्तमें भी 'त्व' सुनाई देता है । इसलिए 'त्वान्त' होनेसे उसे भी सामान्यतः जातिसूचक समझा जा सकता है । परन्तु न्यायमें कुछ जातिबाधक हेतु भी माने गये हैं, जिनके कारण 'त्वान्त' पदोंका प्रयोग होनेपर भी वहाँ 'जाति' नहीं मानी जाती है । इन 'जातिबाधकों' का संग्रह इस प्रकार किया गया है—

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः ।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः ॥

अर्थात् १. व्यक्तिके अभेद, २. तुल्यता, ३. सङ्कर, ४. अनवस्था, ५. रूपहानि और ६. असम्बन्ध—यह छः प्रकारके 'जातिबाधक' हेतुओं का संग्रह है । अर्थात् इनके होनेपर 'जाति' नहीं होती है । १. व्यक्तिके अभेदका उदाहरण आकाश है । आकाश एक है, अत एव आकाशमें रहनेवाला 'आकाशत्व' 'जाति' नहीं है । 'जाति' का लक्षण 'नित्यत्वे

सति अनेकसमवेतत्वं' किया गया है। 'आकाशत्व' धर्म अनेकसमवेत नहीं, एक आकाशमें ही रहता है, अत एव 'आकाशत्व' जाति नहीं है। २. व्यक्तिकी तुल्यताके कारण 'घटत्व' से अलग कलशत्व 'जाति' नहीं मानी जाती है। ३. अनवस्थाके कारण 'घटत्व' जातिमें फिर 'घटत्वत्व' 'जाति' नहीं मानी जाती है। जिस प्रकार दस घटोंमें अनुवृत्ति-प्रत्यय, एकाकार-प्रतीतिके कारण 'घटत्व जाति' मानी जाती है, इसी प्रकार दस जगह होने वाले 'घटत्व' व्यवहारके कारण अनुवृत्ति-प्रत्ययके जनक 'घटत्वत्व' को भी 'जाति' मानना चाहिए था, परन्तु यदि इस प्रकार जातिमें जाति मानी जाय तो अनवस्था होगी। ४. रूपहानिके कारण 'विशेष' में 'विशेषत्व' जाति नहीं मानी जाती है।

वैशेषिक दर्शनने नित्य परमाणु आदि पदार्थोंमें एक परमाणुको दूसरे परमाणु से भिन्न करनेकेलिए एक भेदक, धर्म 'विशेष' माना गया है। घट आदि कार्य पदार्थों का भेद तो अवयव-भेदके आधारपर वन जाता है। जैसे एक घट दूसरे घटसे क्यों भिन्न है, यदि यह जिज्ञासा पैदा हो तो उसका समाधान अवयव-भेदके द्वारा किया जा सकता है। अर्थात् यह घट दूसरे अवयवों अर्थात् कपालोंसे बना है और दूसरा घट दूसरे कपालोंसे बना है, इसलिए अवयव-भेदके कारण दोनों घट भिन्न हैं यह कहा जा सकता है। परन्तु एक पार्थिव परमाणु दूसरे पार्थिव परमाणुसे क्यों भिन्न है, इस जिज्ञासाका समाधान अवयव-भेदके आधारपर नहीं किया जा सकता है। क्योंकि परमाणुके अवयव नहीं होते। परमाणु नाम ही उस सूक्ष्मतम अवयवका है, जिसके आगे अवयव नहीं होते। अत एव उन परमाणुओंके भेदक धर्मके रूपमें वैशेषिक दर्शनमें 'विशेष' नामक पदार्थकी कल्पना की गई है। हरएक परमाणुमें अलग-अलग 'विशेष' रहता है। अत एव परमाणु एक-दूसरेसे भिन्न हैं। अब परमाणुओंमें रहनेवाला यह 'विशेष' धर्म एक-दूसरेसे क्यों भिन्न है, इस प्रश्नका उत्तर है कि वह 'विशेष' 'स्वतो व्यावृत्त' है। 'विशेष' का भेदक और कोई धर्म माननेमें अनवस्था होगी। अत एव विशेषका स्वरूप ही 'स्वतो व्यावृत्त' माना है। अब यदि कोई यह कहे कि अनेक परमाणुओंमें रहनेवाले 'विशेष' धर्ममें भी अनुवृत्ति प्रत्ययके कारण 'विशेषत्व' जाति है तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा माननेसे 'विशेष' का जो 'स्वतो व्यावृत' स्वरूप माना था, वह ही नष्ट हो जायगा। यदि 'विशेष' में भी कोई 'सामान्य' धर्म निकल आए तो उसका 'स्वतो व्यावृत्त' स्वरूप ही नष्ट हो जाता है, इसलिए 'रूपहानि' के भयसे 'विशेषत्व' जाति नहीं मानी जाती है।

सङ्करकी जातिबाधकता—

इन्हीं 'जातिबाधकोंमें' एक धर्म 'सङ्कर' है। 'सङ्कर' का लक्षण 'परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोर्धर्मयोरेकत्र समावेशः सङ्करः' यह किया गया है। अर्थात् जो दो

किञ्चांकुरकुर्वद्रूपत्वं न जातिः शालित्वादिना सङ्करात् । शालित्वमपहाय यवे तस्य सत्त्वात्, शालित्वस्य कुशूलस्थे शालौ तदपहाय सत्त्वात्, कुर्वद्रूपे शालौ तूभयोः समावेशादिति । अत एव रजतत्वादिव्याप्यं नानैव घटत्वं, विजातीयसंस्थानवदवयवकत्वरूपमुपाधिमादाय घट इति अनुगतधीरिति ॥ १६ ॥

धर्म एक-दूसरेके अत्यन्ताभावमें रहते हों और कहीं उनका एकत्र समावेश हो जाय तो वह 'सङ्कर' होगा। जैसे 'भूतत्व' और 'मूर्तत्व' ये दोनों धर्म 'परस्परात्यन्ताभाव समानाधिकरण' धर्म हैं। पृथिव्यादि पाँच 'भूत' कहलाते हैं और 'मूर्त' का लक्षण है 'परिच्छिन्नपरिमाणवत्त्वं मूर्तत्वं'। परिच्छिन्न परिमाणवाले अव्यापक पदार्थ 'मूर्त' कहलाते हैं। मनका परिमाण परिच्छिन्न अणु परिमाण माना गया है। इसलिए मनमें 'मूर्तत्व' रहता है। परन्तु मनमें 'भूतत्व' नहीं रहता अर्थात् मन 'भूत' नहीं है। तो 'भूतत्व' के अत्यन्ताभावयुक्त मनमें 'मूर्तत्व' के रहने, और विभु आकाशादिमें 'मूर्तत्व' के अत्यन्ताभावस्थलमें 'भूतत्व' के रहनेसे, 'भूतत्व' 'मूर्तत्व' धर्म 'परस्परात्यन्ताभाव-समानाधिकरण धर्म' हुए। उन दोनोंका एकत्र समावेश पृथिव्यादिमें पाया जाता है, क्योंकि पृथिव्यादि 'भूत' भी हैं और परिच्छिन्न-परिमाण होनेसे 'मूर्त' भी हैं। इसलिए 'भूतत्व' और 'मूर्तत्व' सङ्कर दोषके कारण 'जाति' नहीं हैं, अपितु 'उपाधि' हैं। इसीलिए 'भूत' का लक्षण 'बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वं भूतत्वम्' और 'परिच्छिन्नपरिमाणवत्त्वं मूर्तत्वं' यह 'मूर्त' का लक्षण किया गया है।

'कुर्वद्रूपत्व' जातिका खण्डन—

[इसी प्रकार यहाँ कुर्वद्रूपत्वका] शालित्वादिके साथ सङ्कर होनेसे 'कुर्वद्रूपत्व' जाति नहीं है। शालित्वको छोड़ कर [अर्थात् शालित्वके अत्यन्ताभावसामानाधिकरण] कुर्वद्रूप यव आदिमें उस [कुर्वदरूपत्व] के रहनेसे, और कुशूलस्थ शालि में कुर्वद्रूपत्वको छोड़कर [अर्थात् कुर्वद्रूपत्वके अत्यन्तभावसमानाधिकरण कुशूलस्थ शालिमें] शालित्वके होनेसे ['शालित्व' तथा 'कुर्वद्रूपत्व' ये दोनों धर्म 'परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरण' धर्म हुए। इन दोनों धर्मोंका] कुर्वद्रूप शालि [क्षेत्रस्थ शालि] में उन दोनोंका समावेश होनेसे [इन दोनोंका सङ्कर हुआ] अत एव सङ्करके कारण 'कुर्वद्रूपत्व' जाति नहीं है]।

इसलिए रजतत्वादि व्याप्य घटत्व अलग-अलग ही हैं। [अर्थात् रजतघट, स्वर्णघट, ताम्रघट आदिमें रहनेवाली कोई एक 'घटत्व' जाति नहीं है। घटत्व जाति केवल मृद्घटमें रहती है। यदि रजतघटादिमें भी घटत्व जाति माननेका प्रयत्न किया जाय तो उस घटत्वका भी सङ्कर हो जानेसे घटत्व जाति भी सिद्ध नहीं होगी। इसलिए रजतघट आदिमें घटत्व जाति नहीं रहती है। उनमें जो 'घटः' व्यवहार होता है, वह केवल सादृश्य-मूलक है, औपाधिक व्यवहार है। यही बात कहकर इस कारिकाकी

व्याख्याका उपसंहार टीकाकार करते हैं]। विजातीय [विशेष प्रकारकी] रचना-युक्त अवयवरूप उपाधि [सादृश्य] को लेकर ही इनमें 'घट' यह एकाकार-प्रतीति होती है।

यहाँ टीकाकारने 'कुर्वद्रूपत्व' जातिका सङ्कर द्वारा खण्डन करनेका जो प्रयत्न किया है, उसका बौद्धकी दृष्टिसे वस्तुतः कोई विशेष उपयोग नहीं है; क्योंकि बौद्ध तो 'जाति' मानता ही नहीं है। इसलिए कारिकामें भी 'वैजात्य' शब्दका सम्बन्ध 'जाति' के साथ न जोड़कर उसका 'भेद' अर्थ करना ही अधिक उपयुक्त होगा ॥ १६ ॥

क्षणिकत्व सन्देह-विषयक पूर्वपक्ष—

पिछली कारिकामें 'क्षणभङ्गवाद' का खण्डन किया गया था। इसपर क्षणभङ्गवादी बौद्ध कह सकता है कि आप [नैयायिक] क्षणिकत्वका खण्डन करते हैं और हम [बौद्ध] क्षणिकत्वका उपपादन करते हैं। इस प्रकार क्षणिकत्वके विषयमें सन्देह रहेगा। उसका खण्डन नहीं हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि घटादिका स्थैर्य तो प्रत्यभिज्ञा-बलसे सिद्ध ही है तो यह कहना ठीक नहीं होगा, क्योंकि जैसे नख, केश आदिके कट जानेपर और फिर उग आनेपर भी 'त एवामी केशाः' इस प्रकारका व्यवहार होता है। अथवा जैसे बाजारमें किसीसे उधार लिए हुए पैसेको वापिस करते समय 'तदेवेदं कार्षापणं' यह वही पैसा है, जो आपसे उधार लिया था—इस प्रकारका व्यवहार होता है। इसी प्रकारका व्यवहार 'स एवायं घटः' यह वही घट है, यहाँ भी होता है। ऊपरके दोनों उदाहरणोंमें यह स्पष्ट है कि वे केश या वह पैसा न होनेपर भी उसके सदृश होनेसे 'त एवामी केशाः' या 'तदेवेदं कार्षापणम्' व्यवहार सादृश्यमूलक गौणी लक्षणासे होता है। इसी प्रकार प्रतिक्षण भिद्यमान भिन्न-भिन्न घटोंमें 'स एवायं घटः' यह व्यवहार भी सादृश्यवश गौणी लक्षणामूलक ही है। अत एव प्रत्यभिज्ञाद्वारा घटकी स्थिरता सिद्ध नहीं की जा सकती है। इस बौद्धपूर्व पक्षका खण्डन करनेकेलिए यह अगली कारिका लिखी गई है। खण्डन-पक्षका आशय यह है कि यह जो आप [बौद्ध] ने कहा कि क्षणिकत्वके विषयमें सन्देह हो सकता है, उसका खण्डन नहीं कहा जा सकता है। यह सन्देह किस विषयमें है? घटकी स्थिरताके विषयमें, यदि सन्देह कहें, तो इसलिए नहीं बनता कि 'प्रत्यभिज्ञा' से स्थिरता सिद्ध है। स्थिरताके ज्ञानके विषयमें सन्देह कहें तो, वह भी नहीं बनता; क्योंकि ज्ञानका ग्रहण 'अनुव्यवसाय' से होता है और 'घटं प्रत्यभिजानामि' इस अनुव्यवसायसे 'प्रत्यभिज्ञा' का ज्ञान भी निश्चित है। तब यह कह सकते हैं कि उस 'प्रत्यभिज्ञा' के प्रामाण्यके विषयमें सन्देह है। इस प्रामाण्यविषयक सन्देहवाले पक्षके तीन विकल्प करके आगे खण्डन किया गया है। पंक्तियोंका अर्थ इस प्रकार है—

नन्वस्तु क्षणिकत्वे सन्देहः। न च प्रत्यभिज्ञाबलेन स्थैर्यसिद्धौ कथं स इति वाच्यम्। 'स एवायं घट' इत्यत्र सन्देहसत्त्वात्। अत्राह—

स्थैर्यदृष्ट्योर्न सन्देहो न प्रामाण्ये विरोधतः।
एकतानिर्णयो येन क्षणे तेन स्थिरे मतः॥ १७॥

स्थैर्ये न सन्देहस्तस्य प्रत्यभिज्ञया विषयीकरणात्। न च प्रत्यभिज्ञारूपे

अच्छा तो क्षणिकत्वमें सन्देह मान लो। 'प्रत्यभिज्ञा' के बलसे स्थैर्यकी सिद्धि होनेपर वह [सन्देह] कैसे होगा, यह नहीं कहना चाहिए। 'यह वही घट है' इस विषयमें सन्देह होनेसे। [घटको स्थिर नहीं कहा जा सकता है]। इस [पूर्व पक्षके होने] पर [उसका समाधान अगली कारिकामें] कहते हैं—

इस पूर्वपक्षका निराकरण—

(१) [घटादिके] स्थैर्य अथवा (२) उस स्थैर्यके ज्ञानमें सन्देह नहीं है [क्योंकि 'प्रत्यभिज्ञा' और उसके 'अनुव्यवसाय' से उन दोनोंका निश्चय हो जाता है] (३) प्रामाण्यमें भी सन्देह नहीं हो सकता [क्योंकि ऐसा माननेमें] विरोध होनेसे। [अर्थात् यदि प्रामाण्यमात्रमें सन्देह करोगे तो संसारमें कहीं प्रामाण्य सिद्ध न हो सकनेसे तुम्हारे प्रामाण्यसन्देहका प्रामाण्य भी सिद्ध नहीं होगा, यह विरोध आनेसे प्रामाण्यमात्रमें सन्देह नहीं हो सकता है। यदि प्रत्यभिज्ञा अथवा उसके द्वारा सिद्ध होनेवाली एकताके विषयमें सन्देह है तो] जिस प्रमाणसे क्षणिक घटमें एकता-निर्णय करते हैं, उसी प्रमाणसे स्थिर घटमें भी एकता-निर्णय मानना होगा।

क्षणिकत्ववादके प्रसङ्गमें अभी पृष्ठ [६९] पर यह दिखाया था कि यदि स्थिर घट में कर्तृत्व और अकर्तृत्वरूप दो विरुद्ध धर्मोंका आपादन करके, बौद्ध घटको क्षणिक सिद्ध करना चाहता है तो क्षणिक घटमें भी 'तद्देशवृत्तित्व' और 'तत्कालवृत्तित्व' रूप दो विरुद्ध धर्म प्राप्त होते हैं। अत एव क्षणिक घटमें भी देश और कालके भेदसे भेदकी कल्पना करनी होगा। परन्तु बौद्ध इस प्रकारका भेद मानता नहीं है। उसका कहना है कि 'तद्देशवृत्तित्व' और 'तत्कालवृत्तित्व' ये दोनों विरुद्ध धर्म नहीं हैं। वे एक ही घटमें रह सकते हैं। इसपर नैयायिकका यह कहना है कि 'विरुद्धधर्मसंसर्गराहित्यरूप' प्रमाणसे क्षणिक घटमें यदि एकता निर्णय हो सकता है तो बौद्धने स्थिर घटमें क्रम और यौगपद्य नहीं बन सकते हैं—इसका उपपादन करते हुए जो कर्तृत्व और अकर्तृत्व रूप विरुद्ध धर्म दिखलाये हैं और उनके आधारपर क्षणिकत्वकी सिद्धिकी है, उन धर्मोंमें भी विरोध नहीं है। इसलिए स्थिर घट माननेमें कोई दोष नहीं है। यही कारिकाकी इस पंक्तिका भाव है। इसीको टीकाकार आगे लिखते हैं—

(१) [घटादिके] स्थैर्यमें सन्देह नहीं है, प्रत्यभिज्ञा [तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा। 'तत्ता' अर्थात् पूर्वदेश और पूर्वकाल-सम्बन्ध तथा 'इदन्ता' अर्थात् एतद्देश

तस्यापि तदनुव्यवसायेन निर्णयात्। प्रामाण्यमात्रेऽपि न सन्देहः 'विरोधात्। सन्देहज्ञानस्य प्रामाण्यसन्देहे सन्देहस्याप्यसिद्धेः प्रामाण्यासिद्धौ प्रामाण्यसंशयस्याप्यभावः कोट्यनिर्णयात्।

ननु प्रत्यभिज्ञायाः प्रामाण्ये संशयः, लूनपुनर्जातकेशादौ 'त एवामी केशाः' इत्यादेर्भ्रमत्वदर्शनात्। तत्राह एकतेति। येन प्रमाणेन विरुद्धधर्मसंसर्गविरहेण क्षणिके घटे यदि तस्मिन्नेव क्षणे न नानात्वं किन्त्वभेदः, तदा स्थिरे स्थिरपक्षेऽपि नानाक्षणवर्तित्वेऽपि घटस्य न नानात्वं किन्त्वेकत्वम्। एकस्य ज्ञानस्य

एतत्काल-सम्बन्धको अवगाहन करनेवाली 'सोऽयं देवदत्तः' आदि प्रतीति 'प्रत्यभिज्ञा' कहलाती है।] से उस स्थैर्यका ग्रहण होनेसे [स्थैर्यके विषयमें सन्देह नहीं है] (२) और न 'प्रत्यभिज्ञा' [ज्ञान] के रूपमें [सन्देह है] उस [प्रत्यभिज्ञा] के 'अनुव्यवसाय' [घटं प्रत्यभिजानामि इत्याकारक, ज्ञानविषयक-ज्ञान] से उस [प्रत्यभिज्ञाके स्वरूप] का भी निर्णय होनेसे। [प्रत्यभिज्ञाके रूपमें अर्थात् ज्ञानमें भी सन्देह नहीं हो सकता है]। (३) प्रामाण्यमात्रमें भी सन्देह नहीं [हो सकता है; क्योंकि उसमें], विरोध होनेसे। [अर्थात् यदि प्रामाण्यमात्रमें सन्देह है तो इसका अर्थ यह हुआ कि संसारमें कहीं प्रामाण्य है ही नहीं। उस दशामें आपके कथनमें भी प्रामाण्य नहीं बनेगा और इस प्रकार आप अपने कथनका स्वयं अप्रामाण्य सिद्ध करेंगे। इस विरोधके कारण प्रामाण्यमात्रमें सन्देह नहीं किया जा सकता है।] (४) सन्देह ज्ञानके प्रामाण्यमें सन्देह होनेपर [आपका क्षणिकत्वके विषयमें] सन्देह भी सिद्ध नहीं होगा और प्रामाण्य [कहीं भी] सिद्ध न होनेसे [प्रमाणं अप्रमाणं वा इन दोनों पक्षों] कोटियोंके अनिर्णयके कारण प्रामाण्य-सन्देह भी नहीं बनेगा। यही 'विरोधतः' हेतुका अभिप्राय है]।

(५) अच्छा तो कटनेके बाद फिर उत्पन्न हुए केशोंमें 'यह वेही केश है' इस प्रकारका भ्रम देखे जानेसे 'प्रत्यभिज्ञा' के प्रामाण्यमें सन्देह मानेंगे। इस [शङ्काके होने] पर कहते हैं। 'एकता-निर्णय' इत्यादि। विरुद्धधर्म-संसर्गविरहरूप जिस प्रमाणसे क्षणिक घटमें यदि उसी क्षणमें [तद्देशवृत्तित्व, तत्काल-वृत्तित्व आदिके कारण बौद्धमतमें] नानात्व नहीं, किन्तु अभेद [माना जाता] है तब स्थिरपक्षमें भी घटके नानाक्षणवर्ती होनेपर भी नानात्व नहीं, किन्तु एकत्व ही [मानना उचित] होगा। [जैसे बौद्धमतमें क्षणिकघटविषयक] एक ज्ञानके नाना [अर्थात् तद्देशवृत्ति और तत्कालवृत्ति रूपसे भिन्न-भिन्न] विषयके साथ सम्बन्ध [मानने] के समान एक [स्थिर घट] का नाना काल [अनेक क्षणों अर्थात् घटके स्थिरत्वरूप बहुकालवर्तित्व] के सम्बन्धमें भी कोई विरोध नहीं है। [तत्तत्काल-सम्बन्धमें काल भी कारण है और काल क्रमिक है अत एव एक घटके नाना काल-सम्बन्धमें क्रमिक काल ही कारण है, अत एव] उस कारणके क्रमके अधीन तत्काल सम्बन्ध होनेसे एक घटका नाना क्षणरूप कालके साथ सम्बन्ध होनेमें भी कोई विरोध नहीं है]।

नानाविषयसम्बन्धवत् एकस्य नानाकालसम्बन्धेऽपि अविरोधात्। तत्तत्कारण-क्रमाधीनत्वात् तत्तत्कालसम्बन्धस्य ॥ १७ ॥

तदेवं परलोकसाधनमागतम्। तत्रेदं शङ्क्यते—कारणत्वं स्वाभाविकं, औपाधिकं वा ? आद्ये नीलस्य सर्वान् प्रति नीलत्ववत् कारणस्य सर्वान् प्रत्यविशेषात् कारणत्वमपि स्यात्। तथा च सर्वं सर्वस्य कारणं स्यात्।

इस प्रकरणका भाव यह हुआ कि बौद्धने स्थिरपक्षका खण्डन और क्षणिकवादकी स्थापना इस आधारपर की थी कि स्थिर घटमें क्रमशः अथवा युगपत् अर्थक्रिया माननेपर दोनों ही पक्षोंमें उसमें कर्तृत्व और अकर्तृत्व दो विरुद्ध धर्म आ जाते हैं। इसलिए उसको न क्रमशः अर्थक्रियाकारी माना जा सकता है और न युगपत्। क्रम और यौगपद्य अर्थक्रियाकारित्वके व्यापक धर्म हैं। 'यत्र यत्र अर्थक्रियाकारित्वं तत्र तत्र क्रमः यौगपद्यं वा'। जहाँ-जहाँ अर्थक्रियाकारित्व है वहाँ-वहाँ क्रम अथवा यौगपद्यमेंसे एक अवश्य रहेगा। स्थिर घटमें इन क्रम और यौगपद्यमेंसे एक भी नहीं बनता है। इसलिए व्यापक धर्मकी निवृत्ति होनेसे व्याप्य धर्म अर्थक्रियाकारित्व स्वयं निवृत्त हो जाता है। अतः स्थिर घटमें अर्थक्रियाकारित्व न बननेसे उसको क्षणिक घटमें मानना होता है। यहाँ जो कर्तृत्व अकर्तृत्व धर्मोंको बौद्ध विरुद्ध बतलाते हैं, वे वस्तुतः विरुद्ध नहीं हैं। क्योंकि एक व्यक्तिमें कालभेद और एक कालमें व्यक्तिभेदसे वे रह सकते हैं, अत एव उनके आधार पर घट आदिको क्षणिक मानना उचित नहीं है। अतः बौद्धोंका क्षणभङ्गवाद खण्डित हो जाता है ॥ १७ ॥

कारणके खण्डनका एक और पूर्वपक्ष—

इस प्रकार [यहां तक प्रस्तुत किए हुए युक्तिक्रमसे भोक्तृनिष्ठ अदृष्ट रूप] परलोकसाधन सिद्ध हो गया। [परन्तु फिर भी चार्वाक एक बार फिर कारणत्वके खण्डन करनेकेलिए] उस विषयमें यह शङ्का करता है कि—[किसी कारणमें रहनेवाला] कारणत्व [उसका] स्वाभाविक [धर्म] है, अथवा औपाधिक ? प्रथम [स्वाभाविकत्व] पक्षमें नील [पदार्थ] के सबके प्रति नीलत्वके समान कारणका कारणत्व भी सबके प्रति समान रूपसे होगा। इसलिए सब सबके कारण होंगे। [अर्थात् जैसे नीलका नीलत्व स्वाभाविक होनेसे सबके प्रति नील रूपमें ही उपस्थित होता है, इसी प्रकार यदि कारणका कारणत्व स्वाभाविक है तो सबके प्रति समान रूपसे कारणरूप में ही उपस्थित होगा। इसका फलितार्थ यह हुआ कि 'सर्वं सर्वस्य कारणं स्यात्'। सब, सबके कारण होने लगेंगे। इसलिए कारणत्वको स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता है। यह चार्वाक का अभिप्राय है]।

द्वितीये उपाधेरपि स्वाभाविकत्वे तद्दोषतादवस्थ्यात्, औपाधिकत्वे अनवस्था।

किञ्च कारणत्वस्य स्वाभाविकत्वे उत्पत्तेरारभ्य कार्यं स्यात्। तत्राह—

हेतुशक्तिमनादृत्य नीलाद्यपि न वस्तुसत्।
तद्युक्तं तत्र तच्छक्तमिति साधारणं न किम्॥ १८॥

दूसरे [कारणत्व स्वाभाविक नहीं, अपितु औपाधिक है इस] पक्षमें [उपाधि भी स्वाभाविक है या औपाधिक ये दो विकल्प किए जा सकते हैं। इनमेंसे भी यदि स्वाभाविकत्ववाला प्रथम विकल्प माना जाय तो] उपाधिके भी स्वाभाविक होनेमें वह ['सर्वं सर्वस्य कारणं स्यात्' वाला] दोष ज्योंका त्यों रहता है। [और उपाधि को भी] औपाधिक माननेपर अनवस्था होगी। [इसलिए कारणत्व न स्वाभाविक धर्म हो सकता है और न औपाधिक धर्म। अतः कारणत्व कुछ है ही नहीं]।

यदि 'कारणत्व' 'पारमार्थिक' पदार्थ होता तो उसको 'साधारण' होना चाहिए। अर्थात् सबके प्रति कारण होना चाहिए। परन्तु न्यायमतमें इस प्रकार कारण सबके प्रति 'साधारण' तो है नहीं, इसलिए उसे 'पारमार्थिक' भी नहीं कहा जा सकता है। जो साधारण नहीं होता है, वह पारमार्थिक नहीं होता। जैसे स्वप्नदृष्ट वस्तु 'साधारण' नहीं होती अर्थात् उसको अनेक व्यक्ति नहीं देख सकते हैं; केवल स्वप्न देखनेवाला व्यक्ति ही उसको देखता है, इसलिए वह 'साधारण' नहीं है। और वह 'पारमार्थिक' भी नहीं है। इसी प्रकार जब कारणत्व 'साधारण' नहीं है तो वह 'पारमार्थिक' नहीं है। केवल कल्पित पदार्थ है। अत एव संसारमें वास्तविक कार्य-कारण,भाव है ही नहीं।

एक बात और भी है कि कारणत्व यदि 'स्वाभाविक' हो तो उस कारणके उत्पन्न होते ही उससे कार्योत्पत्ति होनी चाहिए। [क्योंकि कारणत्वके स्वाभाविक होनेसे कार्योत्पत्तिमें कोई बाधक नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि कारणसे प्रत्येक समय कार्योत्पत्ति होनी चाहिए। और बालकको उत्पन्न होते ही अपने पुत्रका भी उत्पादन करना चाहिए। ऐसा होता नहीं है। इससे सिद्ध है कि कोई किसीका कारण नहीं है। यह चार्वाकका पूर्व पक्ष है]। इस [इन शङ्काओंके होने] पर [समाधानार्थ] कहते हैं—

कारणत्व विरोधी पूर्वपक्षका खण्डन—

हेतुशक्ति अर्थात् कारणत्वको स्वीकार न करनेपर [नीलस्य सर्वान् प्रति नीलत्ववत् आदिमें अथवा उदाहरण रूपसे प्रस्तुत किया गया] नील आदि भी वस्तु सत् नहीं हो सकता है। [क्योंकि बौद्ध क्षणिकत्ववादी होनेसे, और चार्वाक भी, किसी नित्य पदार्थको नहीं मानते हैं। अतः उनके मतमें नित्य नील तो हो नहीं सकता है और कारणके अभावमें अनित्य नील भी नहीं हो सकता है। अतः नीलको जो उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया है वह नहीं बन सकता है] 'तद्युक्तं' अर्थात् सहकारीयुक्त कारण, 'तत्र' अर्थात्

'हेतुशक्तिः' कारणत्वम्, 'अनादृत्य' अनिश्चित्य, 'नीलाद्यपि न वस्तुसत्' न प्रामाणिकम्। तथा च यत्पारमार्थिकं तत्साधारणं यथा नीलादि, कारणत्वं यदि न साधारणं अतो न परमार्थसत्, इत्यपि न स्यात्। दृष्टान्तस्यानित्य-नीलस्य कारणत्वास्वीकारेण सर्वत्राभावात्। नित्यस्य नीलादेः प्रमाणागोचर-त्वात्। किञ्चेत्याद्युक्तं दूषयति तद्युक्तमिति। 'तद्युक्तं' सहकारियुक्तं, 'तत्' कारणं, 'तत्र' कार्ये, शक्तमिति नोत्पत्तेरारभ्य कारणत्वम्।

कारणत्वस्य साधारण्ये चेष्टापत्तिमाह, 'इति साधारणं न किमिति'। नीलादेरपि सर्वसाधारण्यं यत् सर्वैस्तथा नीलत्वादिना व्यवह्रियमाणत्वम्। तादृशञ्च साधारण्यं सहकारि युक्तस्य जनकत्वमित्यस्यापि, तथा व्यवहारस्य सर्वसिद्धत्वात्॥ १८॥

कार्योत्पत्तिमें, समर्थ होता है [इसलिए 'उत्पत्तेरारभ्य कार्यं स्यात्' यह दोष नहीं दिया जा सकता है]। और कारणत्वको साधारण माननेमें जो यह दोष दिया था कि 'सर्वं सर्वस्य कारणं स्यात्' यह ठीक नहीं है क्योंकि नील सबके प्रति नील है इसका अर्थ इतना ही है कि जो कोई नीलको देखता है वह उसमें नीलसे व्यवहार करता है। उसका अर्थ यह नहीं है कि 'सर्वं नीलं स्यात्'। पीतमपि नीलं स्यात्'। इसी प्रकार सहकारी युक्त कारणको जो कोई देखता है वह उसमें कारण व्यवहार करता है यही कारणके साधारणत्वका अर्थ है ऐसी दशामें कारणत्वको साधारण माननेमें कोई हानि नहीं है। अतः] कारणत्व साधारण क्यों नहीं है [अर्थात् कारणत्व साधारण ही है]।

'हेतुशक्ति' अर्थात् कारणत्वको 'अनादृत्य' अर्थात् निश्चय किए बिना [माने बिना] नीलादि भी 'वस्तुसत्' नहीं [हो सकते] हैं। इसलिए जो पारमार्थिक होता है वह साधारण होता है जैसे नीलादि। कारणत्व यदि साधारण नहीं है तो वह पारमार्थिक नहीं है यह [कथन] भी [ठीक] नहीं है। कारणत्वके स्वीकार न करनेसे दृष्टान्तरूप अनित्य नीलका सर्वत्र अभाव होनेसे [और] नित्य नीलादिके [आपके मतमें भी] प्रमाण-सिद्ध न होनेसे [नित्य या अनित्य किसी प्रकारका नील उदाहरण नहीं बन सकता है]। 'किञ्च' से कहे ['किञ्च उत्पत्तेरारभ्य कार्यं स्यात्' इस पूर्वपक्ष] का 'तद्युक्तं' इत्यादिसे खण्डन करते हैं। 'तद्युक्तं' अर्थात् सहकारियुक्त, 'तत्' अर्थात् कारण, 'तत्र' कार्य [जनन] में, समर्थ [होता] है इसलिए उत्पत्तिसे ही कारणत्व नहीं [आरम्भ] होता है।

कारणत्वके साधारणत्व [मानने] में 'इति साधारणं न किम्' आदिसे इष्टापत्ति कहते हैं। नीलादिका भी साधारणत्व [यही है कि] सबके द्वारा उस प्रकार नीलत्वादि रूपसे व्यवहार होता है ['सर्वं नीलं स्यात्' यह उसका अर्थ नहीं होता है। इसी प्रकार] और वैसा [व्यवहार रूप] साधारणत्व सहकारी-युक्त [कारण] का जनकत्व, इसका भी हो सकता है। क्योंकि [सहकारी, युक्त कारणमें] उस प्रकारका व्यवहार सर्वजन सिद्ध है॥ १८॥

आत्मा अदृष्टका कारण नहीं है, पूर्वपक्ष—

इस प्रकार परलोक साधान 'अदृष्ट' की सिद्धि तो प्रायः हो ही गई है। परन्तु फिर भी चार्वाक उसके खण्डनका एक और प्रयत्न करता है। उसका कहना है कि नैयायिक आत्मामें प्रतिनियत भोगके जनकरूपमें 'अदृष्ट' को मानते हैं। यदि यह 'अदृष्ट' प्रतिनियत भोगका जनक न हो सके तो उसका मानना व्यर्थ होगा किसी विशेष आत्मामें रहनेवाला 'अदृष्ट' यदि उस आत्मासे जन्य हो, आत्मा उसका कारण हो तब तो वह प्रतिनियत भोगका जनक हो सकता है। और यदि वह आत्म-जन्य नहीं है तो वह प्रतिनियत भोगका जनक नहीं हो सकता है। अतः 'अदृष्ट' के प्रतिनियत भोगजनकत्वके उपपादनके लिए उसे आत्म-जन्य सिद्ध करना चाहिए जो कि सिद्ध नहीं हो सकता है। इसका कारण यह है कि जैसा पहिले दिखा चुके हैं, कारणताका निश्चय अन्वय-व्यतिरेकके घटनेपर ही हो सकता है। आत्माका 'अदृष्ट' के साथ यदि अन्वय-व्यतिरेक घट जावे तब तो आत्माको अदृष्टका कारण कह सकते हैं। अन्यथा नहीं। आत्माके साथ अदृष्टके अन्वयका स्वरूप 'आत्मसत्त्वे अदृष्ट-सत्ता' यह है जो ठीक है। परन्तु इसका व्यतिरेक 'आत्माभावे अदृष्टाभावः' यह नहीं घट सकता है। क्योंकि आत्माको आप नित्य और विभु मानते हैं। अतः 'नित्य' होनेसे किसी कालमें आत्माका अभाव नहीं हो सकता और 'विभु' व्यापक होनेसे किसी देशमें उसका अभाव नहीं हो सकता है। किसी देश और किसी भी कालमें आत्माका अभाव न होनेसे 'आत्माभावे अदृष्टाभावः' यह व्यतिरेक कहीं नहीं देखा जा सकता है। और अन्वय तथा व्यतिरेक दोनोंके घटे बिना कारणताका निश्चय नहीं हो सकता है। अतः आत्मा अदृष्टका कारण नहीं है। जब आत्मारूप समवायिकारणकी ही सिद्धि नहीं हुई तब असमवायिकारण और निमित्तकारण यदि सिद्ध भी हों तो उनसे कार्योत्पत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि कार्यकी उत्पत्ति तो समवायिकारणमें ही हो सकती थी। इसलिए अदृष्ट आत्मजन्य नहीं हुआ। यदि फिर भी उसका मानना आवश्यक है तो उसे नित्य ही मानना पड़ेगा। और नित्य अदृष्टसे प्रतिनियत भोगकी व्यवस्थाका उपपादन नहीं किया जा सकता है, इसलिए उसका मानना भी व्यर्थ है। यह चार्वाकका पूर्वपक्ष है। इसका समाधान अगली कारिकामें है।

इस पूर्व पक्षका खण्डन—

समाधानका आशय यह है कि हमारे यहाँ 'कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणम्' यह कारणका लक्षण नहीं है अपितु 'अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम्' यह कारणका लक्षण है। वेदान्ती आदि जो लोग 'कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणम्' ऐसा कारणका लक्षण करते हैं उनके मतमें पूर्वोक्त दोष हो सकता है। हमारे न्यायमतमें तो 'अन-न्यथासिद्ध नियतपूर्वभावित्व' ही कारणताका नियामक लक्षण है यह लक्षण नित्य और विभु आत्मामें भी घट सकता है। अत एव आत्मा भी कारण हो सकता है।

ननु, आत्मनिष्ठमदृष्टं नात्मजन्यं नित्यविभोस्तस्य कालतो देशतश्च व्यतिरेकाभावात्। व्यतिरेकसहकृतान्वयस्यैव कारणताग्राहकत्वात्। तद्व्यतिरेकप्रयोजकव्यतिरेकप्रतियोगित्वस्यैव कारणतात्मकत्वाच्च।

दूसरी बात यह कि आत्माकी सिद्धि ही वस्तुतः इच्छा द्वेष आदि आत्म-गुणोंके कारणरूपमें होती है। इच्छा द्वेष आदि अनित्य विशेष गुण हैं। गुण किसी गुणीमें ही रहते हैं। इसलिए इच्छा द्वेषादिका भी कोई आधार और समवायिकारण द्रव्य होना चाहिए। यह इच्छादि पृथिव्यादि पञ्चभूतोंके गुण नहीं हो सकते हैं क्योंकि पञ्चभूतोंके विशेषगुण श्रोत्र आति बाह्य इन्द्रियोंसे गृहीत होते हैं और इच्छादिका ग्रहण बाह्य-इन्द्रियोंसे नहीं होता है। इसलिए वे पृथिव्यादि पाँच द्रव्योंके गुण नहीं हो सकते हैं। और न दिक्, काल तथा मनके गुण हो सकते हैं। क्योंकि दिक्, काल और मनमें रहनेवाले गुण सामान्य गुण होते हैं और इच्छादि विशेष गुण हैं। इसलिए पृथिव्यादि पांच और दिक्, काल, मन ये तीन, कुल आठ द्रव्य इच्छादिके समवायिकरण या आधार नहीं हो सकते हैं। अत एव उनके समवायिकारण रूपमें नवम द्रव्य 'आत्मा' की सिद्धि होती है। आप [चार्वाक] के पूर्वोक्त युक्तिक्रमके आधारपर यदि आत्मामें कारणत्व न माना जाय तो फिर उसकी सिद्धि ही नहीं हो सकेगी। इसलिए आत्मा इच्छादिका और अदृष्टका भी कारण होता ही है। अन्वय-व्यतिरेकको कारणताका निर्णायक बनानेमें नित्य विभु पदार्थोंमें व्यतिरेकका असम्भव होनेसे 'कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणम्' यह कारणका लक्षण अव्याप्ति दोषसे दूषित रहता है। अत एव हम [नैयायिक] इस लक्षणको नहीं मानते हैं। उसके स्थानपर हमारे यहाँ 'अनन्यथासिद्ध नियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम्' यह कारणका लक्षण है। और यह लक्षण नित्य विभु आत्मा आदिमें घट जाता है अत एव आत्मा अदृष्टका कारण है और आत्म-जन्य अदृष्ट प्रतिनियतभोगका नियामक हो सकता है। अत एव अदृष्टको माननेमें कोई हानि नहीं है। अपितु उसका मानना पूर्वोक्त युक्ति-क्रमके आधारपर अनिवार्य है। यह नैयायिकके सिद्धान्त पक्षका अभिप्राय है। ग्रन्थ कारने इन दोनों पक्षोंको इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

वृत्तिकारके शब्दोंमें पूर्वपक्ष—

अच्छा तो आत्मामें रहनेवाला अदृष्ट आत्म-जन्य नहीं है। [क्योंकि] नित्य और विभु उस [आत्मा] का काल और देशसे व्यतिरेकका अभाव होनेसे, और व्यतिरेक-सहकृत अन्वयके ही कारणता-ग्राहक होनेसे। और उस [कार्य] के व्यतिरेक [अभाव] का प्रयोजक जो व्यतिरेक [अभाव] उसका प्रतियोगी [यस्याभावः स तस्य प्रतियोगी, जिसका अभाव होता है वह उसका प्रतियोगी कहलाता है] स्वरूप ही कारण होनेसे। [अर्थात् जिसके अभावमें कार्यका अभाव हो वही कारण है अदृष्टका आत्माके साथ

तथा च समवायिकारणाभावे असमवायिकारणनिमित्तकारणाभ्यामपि न कार्यं जननीयं, तत्प्रत्यासन्नाभ्यामेव ताभ्यां जननात्। इत्यदृष्टस्य नित्यत्वापत्तिः। तथा च न प्रतिनियतात्मदेशकालीनभोगजनकत्वं कल्प्येत।

इत्यत्राह—

पूर्वभावो हि हेतुत्वं मीयते येन केनचित्।
व्यापकस्यापि नित्यस्य धर्मिधीरन्यथा नहि ॥ १९ ॥

व्यतिरेकगर्भं न कारणत्वं किन्त्वनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तिभावः। हि हेतौ, यतो ग्राहको न व्यतिरेकः धर्मिग्राहकमानेनापि तस्य प्रमापणात्। इत्यतो 'मीयते येन केनचित्'। व्यापकस्य नित्यस्यात्मनः येन केनचित् प्रमीयते, अन्यथा धर्मिधीरेव न स्यात्। तथा च धर्मिग्राहकप्रमाणसिद्धं तस्य हेतुत्वम्। घटादिकं प्रति कपालादेरन्वयव्यतिरेकदर्शनात् समवेतकार्यं प्रति द्रव्यस्य

व्यतिरेक असम्भव होनेसे आत्मा अदृष्टका समवायिकारण नहीं है]। इसलिए समवायिकारणके अभावमें असमवायि और निमित्त कारणोंको भी कार्यको उत्पन्न नहीं करना चाहिए। [क्योंकि] समवायिकारणमें प्रत्यासन्नहोनेपर ही वे दोनों [कार्यको] उत्पन्न करते हैं। इसलिए [आत्मजन्य न होनेसे] अदृष्ट नित्य होगा। और इस प्रकार वह प्रतिनियत-देश-कालीन भोगका जनक नहीं माना जा सकता है। इस [पूर्वपक्ष] पर कहते हैं—

कारिका द्वारा खण्डन—

क्योंकि [अनन्यथासिद्ध नियत] पूर्वभावित्व ही हेतुत्व [कारणका लक्षण] है [और वह] व्यापक तथा नित्य [आत्मा आदि] का भी [पूर्वभाव रूप हेतुत्व] जिस किसी [अर्थात् अन्वय व्यतिरेकसे भिन्न, धर्मिग्राहक] प्रमाणसे अनुमित होता है। अन्यथा [यदि आत्मामें कारणत्व न मानें तो] धर्मी [अर्थात् आत्माकी सिद्धि रूप] का ज्ञान ही नहीं होगा।

व्यतिरेकयुक्त कारणत्व [अर्थात् 'कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकिकारणम्' यह कारणका लक्षण] नहीं है किन्तु 'अनन्यथासिद्धपूर्वभावित्व' [यह कारणका लक्षण] है। [कारिकामें] 'हि' हेत्वर्थक है। क्योंकि [कारणताका] ग्राहक व्यतिरेक नहीं है [अपितु धर्मिग्राहक प्रमाणसे भी उसका ज्ञान होता है] इसलिए 'मीयते येन केनचित्' [कहा है]। व्यापक और नित्य आत्माका [हेतुत्व] जिस किसी [धर्मिग्राहक प्रमाण] से अनुमित होता है। अन्यथा धर्मी [आत्मा] का ज्ञान ही नहीं होगा। इसलिए धर्मिग्राहक प्रमाणसे उस [आत्मा] का हेतुत्व सिद्ध है। घटादिके प्रति कपाल आदिका अन्वय-व्यतिरेक देखनेसे, समवेत कार्यके प्रति द्रव्यकी द्रव्यत्वेन कारणताकी कल्पना करनेसे, ज्ञान इच्छादि

द्रव्यत्वेन कारणत्वस्य कल्पनात्। पृथिव्यादिबाधे परिशेषेण ज्ञानेच्छादौ पृथिव्यादिभिन्नसमवायिनः सिद्धिः।

वस्तुतस्तु समवायिकारणताघटकोऽन्योन्याभावः। 'यन्न कपालं तन्न घटवत्' इतिवत् 'यो न आत्मा न तत्र ज्ञानादि' इति धीसम्भवात्। एवं 'यो न कालस्तत्र सम्बन्धविशेषेण न घट' इति निमित्तकारणस्याधिकरणीभूतस्य कारणतापि अन्योन्याभावरूपव्यतिरेकेण ग्राह्या।

एवञ्च मायाप्रकृत्यविद्यादिपदमप्येतत् परमिति न 'मायिकं जगत्' इत्यादि श्रुतिविरोधः। तथा चादृष्टाधिष्ठातृतया ईश्वरसिद्धिः॥ १९॥

[आत्मगुणों] के विषयमें पृथिव्यादि [की कारणता] का बाध होनेपर परिशेष [अनुमान] से पृथिव्यादिसे भिन्न समवायि [कारण] की सिद्धि होती है। [इस प्रकार ज्ञान धर्मिग्राहक प्रमाणसे इच्छादिके समवायिकारण रूपमें ही आत्माकी सिद्धि होती है]।

व्यतिरेकघटित कारणत्वकी सम्भव—

और यदि व्यतिरेकको ही कारणताका नियामक मानें तो भी आत्माको कारण माननेमें कोई दोष नहीं हो सकता है इस बातका प्रतिपादन अगली पंक्तियोंमें करते हैं। उसका आशय यह है कि 'आत्माभावे अदृष्टाभावः' 'कपालाभावे घटाभावः' आदि व्यतिरेक स्थलोंमें आए हुए अभाव पदसे 'अन्योऽन्याभाव' का ग्रहण करना चाहिए। आत्मा नित्य और विभु होनेसे उसका संसर्गाभाव कहीं सुलभ नहीं है परन्तु उसका अन्योन्याभाव [तादात्म्यप्रतियोगिताकोऽभावः अन्योन्याभावः] तो बन सकता है। क्योंकि तादात्म्यका निषेध करनेवाला अभाव 'अन्योन्याभाव' कहलाता है। आत्माका तादात्म्येन अभाव घट पट आदिमें सर्वत्र मिल जाता है क्योंकि घट आत्मा नहीं है। इस 'अन्योऽन्याभाव' को लेकर व्यतिरेकका समन्वय सम्भव होनेसे व्यतिरेकगर्भ कारण-लक्षण माननेपर भी आत्माकी कारणता बन सकती है। यह समाधानका आशय है। इसीको लिखते हैं—

वास्तवमें तो समवायिकारणताका घटक [अभाव] 'अन्योऽन्याभाव' है। जो कपाल नहीं है वह घटवत् नहीं है [यह अन्योन्याभावका स्वरूप हुआ], इसी प्रकार जो आत्मा नहीं है उसमें ज्ञानादि नहीं रहते ऐसा [व्यतिरेक रूप] ज्ञान हो सकता है। इसी प्रकार जो काल नहीं है उसमें सम्बन्ध विशेषसे घट आदि नहीं रहते इस प्रकार आधारभूत निमित्तकारणकी कारणता भी 'अन्योऽन्याभाव' रूप व्यतिरेकसे ग्राह्य है।

इस प्रकार 'माया', 'प्रकृति' और 'अविद्या' आदि शब्द भी इस [अदृष्ट] के बोधक ही हैं अत एव 'मायिकं जगत्' इत्यादि श्रुतिके साथ भी [अदृष्टकारणतावादका] विरोध नहीं होता। इसप्रकार अदृष्टके अधिष्ठातारूपमें ईश्वरकी सिद्धि भी हो जाती है॥ १९॥

स्तबकार्थसंग्रहश्लोकमाह—

इत्येषा सहकारिशक्तिरसमा 'माया' दुरुन्नीतितो,
मूलत्वात् 'प्रकृतिः' प्रबोधभयतोऽविद्येति यस्योदिता।
देवोऽसौ विरतप्रपञ्चरचनाकल्लोलकोलाहलः,
साक्षात् साक्षितया मनस्यभिरतिं बध्नातु शान्तो मम॥

इति श्रीमदुदयनाचार्यविरचितायां, न्यायकुसुमाञ्जलि-
कारिकायां प्रथमस्तबकः समाप्तः।



'इति' स्तबकसमाप्तौ। यस्येशस्य 'सहकारिशक्तिः' सहकारिरूपा शक्तिः कारणं 'एषा' सहकारिरूपा 'माया'। असमत्वं सर्वकार्यापेक्षणीयत्वात्। दुरुन्नेयत्वात् सादृश्यान्मायापदेऽदृष्टे लक्षणा। मूलत्वात् प्रकृतिः सैव। तत्त्वज्ञानप्रतिबध्यत्वात् सैवाविद्या, 'उदिता' उक्ता। 'असौ देवो' मम मनसि स्वविषयां 'साक्षादभिरतिं' साक्षात्कारिज्ञानं 'बध्नातु' जनयतु। 'साक्षितया' साक्षीभूय, निर्णायकतया

उपसंहार—

[इस प्रथम] स्तबकके अर्थको संग्रह करनेवाला श्लोक कहते हैं—

जिस परमात्माकी यह अद्वितीय [अदृष्टरूप] सहकारिणी शक्ति [ही] दुर्ज्ञेय होनेके कारण 'माया', [जगत्का] मूल [कारण] होनेसे 'प्रकृति', और विद्यासे विनाश्य होनेसे 'अविद्या' कही गई है। [प्रपञ्चरचनाके कल्लोल कोलाहल अर्थात्] मिथ्याज्ञान की परम्पराके सम्पर्कसे रहित, वह शान्त [रागादिसे रहित] देव, साक्षी रूपसे मेरे मनमें [अपना] साक्षात्कार करावें।

इति श्रीमदुदयनाचार्य विरचित 'न्यायकुसुमाञ्जलिकारिका'में प्रथम स्तबक समाप्त हुआ।



[कारिकामें] 'इति' [यह पद] स्तबक की समाप्ति [के अर्थ] में [प्रयुक्त हुआ] है। जिस ईश्वरकी सहकारिशक्ति [अदृष्ट रूप] कारण, यह सहकारी रूप 'माया' [कहलाती है]। 'असमत्व' सब कार्योंमें अपेक्षणीय होनेसे [असम] है। दुर्ज्ञेय होनेसे सादृश्यवश 'माया' पदमें अदृष्ट [अर्थ] में लक्षणा है। [सब जगत्का] मूल होनेसे वही 'प्रकृति' [कहलाती है]। तत्त्वज्ञानसे नाश्य होनेसे वही 'अविद्या' 'उदित' अर्थात् कही गई है। वह [परमातमा] देव मेरे मनमें अपने विषयक 'साक्षादभिरतिं' अर्थात् साक्षात्कारि ज्ञानको 'बध्नातु' अर्थात् 'जनयतु' पैदा करें। 'साक्षितया' अर्थात् साक्षी होकर। [अपने स्वरूपके] निर्णायक होनेसे [उनका] साक्षित्व है। 'शान्त' अर्थात् रागादि गुण

साक्षित्वम् । शान्तः रागादिगुणशून्यः । प्रपञ्चस्य मिथ्याज्ञानादेः कल्लोलः मिथ्याज्ञानपरम्परा, तस्याः कोलाहलः किंवदन्ती, सा विरता यस्मादिति ।

इति श्रीहरिदासभट्टाचार्यविरचिते, न्यायकुसुमाञ्जलिकारिकाव्याख्याने, प्रथमस्तबकव्याख्यानम् समाप्तम् ।



शून्य । 'प्रपञ्च' अर्थात् मिथ्याज्ञानादि, का 'कल्लोल' अर्थात् मिथ्याज्ञान परम्परा, उसका 'कोलाहल' अर्थात् किंवदन्ती वह जहाँसे विरत हो गई है । [वह परमात्मा मेरे हृदयमें अपना साक्षात्कारात्मक ज्ञान प्रदान करें] ।

सारांश—

इस प्रकार 'न्यायकुसुमाञ्जलि'का यह प्रथम स्तबक इस श्लोकके साथ समाप्त होता है । यह स्तबक मुख्यतः 'चार्वाक' द्वारा उठाई गई हुई 'अलौकिकस्य परलोकसाधनस्य अभावात्' इस प्रथम विप्रतिपत्तिके निराकरणके लिए लिखा गया है । किन्तु उसमें प्रसङ्गतः चार्वाकके अतिरिक्ति अन्य मतोंकी भी आलोचना की गई है । जिसमें सबसे अधिक बल मीमांसकोंके 'शक्ति-सिद्धान्त' के खण्डनमें लगाया गया है । मुख्य विषयका निरूपण 'सापेक्षत्वादनादित्वात्' इत्यादि चौथी कारिकासे होता है । उसमें 'अस्ति हेतुरलौकिकः' । इस प्रतिज्ञाद्वारा अदृष्टकी सिद्धिके लिए 'सापेक्षत्वात्' आदि पाँच हेतु प्रस्तुत किए गए हैं । इसके बाद ५—९ तककी पाँच कारिकाओंमें इन्हीं पाँचो हेतुओंकी विस्तार-पूर्वक विवेचना की गई है । इसके बाद १०—१३ तक चार कारिकाओंमें मीमांसकोंके 'शक्ति-सिद्धान्त' और अदृष्टको भोग्यनिष्ठ माननेवाले सिद्धान्तकी आलोचना की गई है । १४वीं कारिकामें सांख्यके सिद्धान्तकी और १५वीं कारिकामें चार्वाकके 'देहचैतन्यवाद' का खण्डन किया गया है । इसके बाद १६—१७ दो कारिकाओंमें बौद्धोंके 'क्षणभङ्गवाद' की आलोचना की गई है । चार्वाक कार्य-कारणभाव ही स्वीकार नहीं करता है । तब जगतके कारण रूपमें ईश्वरकी सत्ता वह कभी स्वीकार ही कैसे कर सकता है । इसलिए चार्वाकके मतका खण्डन करनेके लिए ग्रन्थकारको कार्यकारणभावका सिद्ध करना आवश्यक था । इसीके लिए उन्होंने इस स्तबकका आरम्भ किया था । इसलिए स्तबकका उपसंहार भी उसी विषयके साथ किया है । उन्होंने 'कारण' की सत्ता फिरसे सिद्ध की है । और स्तबककी अन्तिम १९वीं कारिकामें कारणके लक्षणका विवेचन किया है । यह संक्षेपमें इस स्तबका सारांश है ।

इति श्री हरिदासभट्टाचार्य विरचित न्यायकुसुमाञ्जलिकी कारिकाओंके व्याख्यानमें प्रथम स्तबक समाप्त हुआ ।



द्वितीयः स्तबकः

अन्यथापि परलोकसाधनानुष्ठानसम्भवादिति द्वितीयविप्रतिपत्तिः ।

अन्यथा ईश्वरं विनापि परलोकसाधनं यागाद्यनुष्ठानं सम्भवति । यागादेः स्वर्गसाधनत्वस्य वेदगम्यत्वात् । नित्यनिर्दोषतया च वेदस्य प्रामाण्यं, महाजनपरिग्रहाच्च प्रामाण्यस्य ग्रह इति वेदकारणतया नेश्वरसिद्धिः । योगर्धिसम्पादितसार्वज्ञ्यकपिलादिपूर्वक एव वा वेदोऽस्तु । इत्यत्राह—

प्रमायाः परतन्त्रत्वात् सर्गप्रलयसम्भवात् ।
तदन्यस्मिन्नविश्वासान्न विधान्तरसम्भवः ॥ १ ॥

अथ द्वितीय स्तबक

द्वितीय विप्रतिपत्ति—

प्रथम स्तवकमें ईश्वरके विषयमें पाँच प्रकारकी विप्रतिपत्तियाँ दिखलाई थीं । उनमेंसे प्रथम विप्रतिपत्ति चार्वाककी थी । उसका निवारण प्रथम स्तबकमें किया जा चुका है द्वितीय विप्रतिपत्ति मीमांसककी ओरसे उठाई गई है। उसका निराकरण द्वितीय स्तबकमें करना है, अत एव पहिले मीमांसककी ओरसे पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—

'अन्यथापि परलोकसाधनानुष्ठानसम्भवात्' यह दूसरी विप्रतिपत्ति [मीमांसकके मतानुसार प्रस्तुत की गई] है। [इसका अर्थ यह है कि] 'अन्यथा' अर्थात् ईश्वरके बिना भी 'परलोक-साधन' अर्थात् 'यागादि' का अनुष्ठान हो सकनेसे [ईश्वरको मानने की आवश्यकता नहीं है]। यागादिकी स्वर्ग-साधनता [का ज्ञान ही यागादिमें प्रवर्तक होता है और यागादिकी वह स्वर्ग-साधनता] वेदसे ज्ञात होती है। [उस स्वर्ग-साधनताके ज्ञानके लिए ईश्वरकी आवश्यकता नहीं है] वेदके नित्य निर्दोष होनेसे वेदका प्रामाण्य है, और महाजनों [ऋषि मुनियों आदि] के द्वारा स्वीकृत होनेसे [वेदोंके] प्रामाण्यका ग्रहण [सर्वसाधारणको हो सकता] है। इसलिए वेदके कारण रूपमें ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकती है। [अथवा यदि वेदका रचयिता किसी को मानना आवश्यक ही हो तो], योग सामर्थ्यसे सर्वज्ञताका सम्पादन करनेवाले कपिलादिके द्वारा रचित ही वेद है। इस [पूर्वपक्षके प्राप्त होने] पर कहते हैं—

मीमांसकके पूर्व पक्षका समाधान—

(१) प्रमा [अर्थात् शाब्दी-प्रमाके प्रामाण्य] के परतन्त्र [अर्थात् वक्ताके यथार्थ वाक्यार्थ-ज्ञान रूप गुणसे उत्पन्न] होनेसे, [ईश्वरका मानना आवश्यक है]। (२) सृष्टिका प्रलय होनेसे, और (३) उस [सर्वज्ञ ईश्वर] से भिन्न किसी अन्यमें विश्वास न होनेसे [यागादिके अनुष्ठानकेलिए ईश्वरको माननेके अतिरिक्त] अन्य कोई मार्ग सम्भव नहीं है।

शाब्दी प्रमा वक्तृयथार्थवाक्यार्थधीरूपगुणजन्या इति गुणाधारतया ईश्वर-सिद्धिः। ननु सकर्तृकेऽस्तु यथार्थवाक्यार्थधीर्गुणः, अकर्तृके च वेदे निर्दोष-त्वमेव प्रामाण्यप्रयोजकमस्तु, महाजनपरिग्रहेण च प्रामाण्यग्रह इत्यत आह 'सर्गप्रलयसम्भवात्' इति। प्रलयोत्तरं पूर्ववेदनाशादुत्तरवेदस्य कथं प्रामाण्यं,

---

इसका अभिप्राय यह हुआ कि शब्द-प्रमाणका प्रामाण्य तभी होता है जब उसका वक्ता प्रमाण हो। अर्थात् उसको उस बातका, उस वाक्यके अर्थका, जो वह कह रहा है यथार्थ ज्ञान हो। इस नियमके अनुसार वैदिक वाक्योंका प्रामाण्य भी उनके वक्ताके प्रामाण्यके ऊपर अवलम्बित है। इसलिए वेदका कोई वक्ता होना चाहिए, जिसे वेदप्रतिपादित समस्त विषयोंका पूर्ण ज्ञान हो। ऐसा वक्ता सर्वज्ञ ईश्वरके अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता है। अत एव ईश्वरका मानना अनिवार्य है। मीमांसक वेदको 'अपौरुषेय' मानता है और 'पुरुषके' दोष भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा अर्थात् किसीको धोखा देने, ठगनेकी इच्छा आदि पुरुष-दोषोंसे रहित नित्य। निर्दुष्ट मानता है। 'अपौरुषेय' शब्दमें प्रयुक्त 'पुरुष' शब्दका अर्थ 'ईश्वर' करके वेदको ईश्वर कृत भी नहीं मानता है। वेद नित्य और निर्दुष्ट होनेसे स्वतः प्रमाण है। उसके प्रामाण्यके लिए अथवा उस प्रामाण्यके ज्ञानकेलिए भी ईश्वरकी आवश्यकता नहीं है। इसके खण्डनके लिए 'सर्गप्रलयसम्भवात्' यह दूसरा हेतु दिया है। सृष्टिका प्रलय सम्भव होनेसे प्रलयके बाद फिर नवीन सृष्टिके प्रारम्भमें महाजन परिग्रहके न होनेसे वेदके प्रामाण्यका ग्रहण कैसे होगा? उस ईश्वरसे भिन्न किसी असर्वज्ञको वेदका कर्ता माननेसे उसमें विश्वास न होनेसे ईश्वरके माननेके अतिरिक्त यागादिमें प्रवृत्ति और उसके अनुष्ठानका उपपादन करनेका अन्य कोई प्रकार सम्भव नहीं है। अतः ईश्वरका मानना अनिवार्य है। इसीको वृत्तिकार कहते हैं—

शाब्दी प्रमा वक्ताके यथार्थ वाक्यार्थ-ज्ञान रूप गुणसे उत्पन्न होती है। इसलिए [वेदका प्रामाण्य होनेसे उसके वक्ता रूपमें] गुण [अर्थात् वक्तृयथार्थवाक्यार्थधी रूप गुण] के आधार रूपमें ईश्वरकी सिद्धि होती है।

[इसपर मीमांसक कह सकता है कि] 'सकर्तृक' [लौकिक वाक्यों] में यथार्थ वाक्यार्थधी रूप गुण [भले ही प्रामाण्य ग्राहक] हो, [परन्तु जिसका कोई रचयिता नहीं है ऐसे] अकर्तृक वेदमें तो नित्यत्व और निर्दोषत्व ही प्रामाण्यका प्रयोजक मानना चाहिए। और महाजनों [बड़े ऋषि मुनि आदि महापुरुषों] के स्वीकार करनेसे [सर्व साधारणको वेदके] प्रामाण्यका ग्रहण होता है। [यह पूर्वपक्ष प्राप्त होता है] इसलिए 'सर्गप्रलयसम्भवात्' यह कहा है। सृष्टिका प्रलय सम्भव होनेसे। प्रलयके बाद [सृष्टिमें विद्यमान] पूर्व वेदका नाश हो जानेसे उत्तर [दूसरी सृष्टिके आरम्भमें प्रकाशित] वेदका प्रामाण्य [ग्रहण] कैसे होगा? [क्योंकि] महाजन-

महाजनपरिग्रहस्यापि तदा अभावात्। शब्दस्यानित्यत्वं 'उत्पन्नो गकार' इति प्रतीतिसिद्धम्। प्रवाहाविच्छेदरूपनित्यत्वमपि प्रलयसम्भवान्नास्तीति भावः।

कपिलादय एव सर्गादौ पूर्वसर्गाभ्यस्तयोगजन्यधर्मानुभवात् साक्षात्कृतसकलार्थाः कर्तारः सन्तु इत्यत आह तदन्यस्मिन्निति। विश्वनिर्माणसमर्था अणिमादिशक्तिसम्पन्ना यदि सर्वज्ञास्तदा लाघवादेक एव तादृशः स्वीक्रियतां 'स एव भगवनीश्वरः'। अनित्यासर्वविषयकज्ञानवति च विश्वास एव नास्तीति वैदिकव्यवहारविलोप इति न विधान्तरसम्भवः ईश्वरानङ्गीकर्तृनये इति शेषः॥१॥

परिग्रह [जिसे वेदके प्रामाण्यका ग्राहक माना है सृष्टिके आदिमें उस] के भी न होनेसे [नवीन सृष्टिके आरम्भमें वेदके प्रामाण्यके ग्रहणका कोई मार्ग नहीं है। यदि यह कहा जाय कि वेदके नित्य होनेसे उसका नाश ही नहीं हो सकता है तो वेद शब्द रूप है और] शब्दका अनित्यत्व 'गकार उत्पन्न हुआ' इस प्रतीतिसे सिद्ध है। [यदि] प्रवाहसे अविच्छेद रूप [से वेदका] नित्यत्व [माने तो वह] भी प्रलय सम्भव होनेसे नहीं बनता है। ['सर्गप्रलयसम्भवात्' इस हेतु का] यह भाव है।

इस प्रकार वेदकर्ता रूपमें ईश्वरको स्वीकार करनेसे ही उसका प्रामाण्य सिद्ध हो सकता है, और सृष्टिके प्रारम्भमें उस प्रामाण्यका ग्रहण बन सकता है। अत एव वेदकर्ताके रूपमें ईश्वरको अवश्य स्वीकार करना चाहिए। यह नैयायिककी युक्तियोंका सार हुआ। इसपर फिर सांख्य, आदिकी ओरसे पूर्वपक्ष होता है कि—

पूर्व सृष्टिमें अभ्यस्त योगजन्य धर्मके अनुभवसे समस्त अर्थोंका साक्षात्कार करनेवाले कपिल आदि ही [नवीन] सृष्टिके आरम्भमें वेदके कर्ता मान लिए जाँय। [ऐसा पूर्वपक्ष हो सकता है] इसलिए 'तदन्यस्मिन् अविश्वासात्' इत्यादि कहा है। उस [सर्वज्ञ ईश्वर] से अन्य [असर्वज्ञको वेदकर्ता मानने] में [उसके असर्वज्ञ होनेसे] विश्वास ही नहीं होगा। [और यदि] अणिमादि शक्तियोंसे सम्पन्न विश्वके निर्माणमें समर्थ सर्वज्ञों [को ही वेद निर्माता स्वीकार करना] है तो फिर इस प्रकारका [विश्वनिर्माण समर्थ सर्वज्ञ] एक ही मानना चाहिए। [विश्वनिर्माण समर्थ अनेक सर्वज्ञोंको माननेमें अव्यवस्था होगी अत एव एक ही सर्वज्ञका मानना उचित है] वही ऐश्वर्यशाली 'ईश्वर' है। [और यदि सर्वज्ञको वेदकर्ता न माने तो] अनित्य और असर्वज्ञमें विश्वास ही नहीं होगा। इसलिए वैदिक व्यवहार [यागादिके अनुष्ठान आदि] का विलोप हो जायगा। इसलिए [वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानकेलिए और वेदके प्रामाण्यकेलिए ईश्वरकी स्वीकृतिके अतिरिक्त] कोई दूसरा मार्ग नहीं है ; ईश्वरको स्वीकार न करनेवालेके मतमें यह शेष है। [अर्थात् इसको भी व्याख्या करते समय जोड़ लेना चाहिए। इस प्रकार इस कारिकामें वेदकर्ताके रूपमें ईश्वरकी सिद्धि की है]॥ १ ॥

ननु सर्गप्रलयसम्भवादिति न युक्तं, प्रलये मानाभावादिति ।
१. अहोरात्रस्याव्यवहिताहोरात्रपूर्वकत्वनियमात् ।
२. कर्मणां विषमविपाकतया कालोपाधित्वस्य भोगव्याप्यत्वात् ।
३. युगपददृष्टस्य च वृत्तिनिरोधानुपपत्तेः ।

मीमांसकका प्रलयविरोधी पूर्वपक्ष—

इस कारिकामें 'सर्गप्रलयसम्भवात्' यह कहा है । नैयायिक मुख्यतः सृष्टिकर्ता और वेदोपदेष्टाके रूपमें ईश्वरकी सिद्धि करते हैं । उसमेंसे वेदोपदेष्टाके रूपमें उसकी सिद्धिका प्रकार प्रथम कारिकामें दिखलाया था । मीमांसकोंने वेदको नित्य और अपौरुषेय मान लिया है अत एव उनको वेदके कर्ताके रूपमें ईश्वरकी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है । परन्तु न्यायकी दृष्टिसे इसका खण्डन ऊपर किया गया है ।

ईश्वर सिद्धिका दूसरा कारण 'सृष्टिकर्तृत्व' है । मीमांसक सृष्टिको प्रवाहसे नित्य मान कर और प्रलयको अस्वीकार करके इस रूपमें भी ईश्वरकी आवश्यकता नहीं समझते हैं । इस दृष्टिसे अगली पक्तियोंमें मीमांसककी ओरसे प्रलयके विरोधमें पूर्वपक्ष उठाकर अगली दो कारिकाओंमें सिद्धान्त रूपमें प्रलयकी सिद्धि करेंगे। इनमेंसे पहिली अर्थात् द्वितीय कारिकामें मीमांसककी ओरसे प्रस्तुत किए जाने वाले प्रलयके बाधक हेतुओंका निराकरण किया गया है और अगली अर्थात् तीसरी कारिकामें प्रलयके साधक हेतु प्रस्तुत किए गए हैं । प्रलयके विरोधमें मीमांसककी ओरसे छः हेतु प्रस्तुत किए गए हैं और उनका समाधान कारिकाकारने कारिकाके एक-एक चरण द्वारा किया है । जो इस प्रकार है—

वृत्तिकार पहिले मीमांसकका पूर्वपक्ष निम्न लिखित प्रकार से प्रस्तुत करते हैं—

अच्छा तो सर्गप्रलयसम्भवात् [यह जो कहा है सो] वह ठीक नहीं है । [क्योंकि] प्रलय [की सिद्धि] में प्रमाणका अभाव होनेसे । [इसके विपरीत प्रलयके विरोधमें निम्न चार प्रकारके बाधक हेतु पाए जाते हैं]—

१. अहोरात्रके अव्यवहित अहोरात्र-पूर्वक होनेके नियमसे । [प्रलयकी सिद्धिमें बाधा पड़ती है । क्योंकि यदि प्रलय मानी जायगी तो प्रलयके बाद सृष्टिके प्रारम्भका प्रथम अहोरात्र अव्यवहित अहोरात्र-पूर्वक नहीं होगा । अत एव इस नियमका उल्लङ्घन होगा । यह प्रलयकी सिद्धिमें प्रथम बाधक है] ।

२. कर्मोंका भोग विषम [भिन्न-भिन्न कालमें भिन्न-भिन्न प्रकारका] होनेसे कालत्व रूप उपाधिके भोग व्याप्य होनेसे । [अर्थात् 'यत्र-यत्र कालः तत्र-तत्र भोगः जो-जो काल है वहाँ-वहाँ भोग है । अर्थात् प्रत्येक कालमें किसी न किसीको भोग अवश्य होगा । यदि महाप्रलय मानलें तो उस महाप्रलयके कालमें किसीको भोग नहीं हो सकेगा अत एव इस नियमका उल्लङ्घन होगा । यह भी प्रलयकी सिद्धिमें एक दूसरा बाधक है] ।

३. एक साथ [समस्त प्राणियोंके] अदृष्टका वृत्तिनिरोध न बननेसे [प्रलयकी

४. ब्राह्मणस्य ब्राह्मणजन्यत्वनियमात्, सर्गाद्युत्पन्नस्य ब्राह्मणत्वाभावात् उत्तरकालेऽपि ब्राह्मणव्यवहारानुपपत्तेः ।

५. प्रयोज्यप्रयोजकयोरभावात् संकेतग्रहाभावे शब्दव्यवहारानुपपत्तेः ।

६. घटादिनिर्माणे नैपुण्यस्य च पूर्वदर्शनसापेक्षस्य सर्गादावभावात् घटादि-सम्प्रदायोच्छेदादित्यादेर्बाधकाच्च ।

तत्राह—

वर्षादिवद् भवोपाधिर्वृत्तिरोधः सुषुप्तिवत् ।
उद्भिद्वृश्चिकवद् वर्णा मायावत् समयादयः ॥ २ ॥

सिद्धिमें बाधा आती है । प्रलय कालमें समस्त संसारके प्राणियोंके धर्माधर्मकी वृत्ति बन्द हो जाती है । उस वृत्तिनिरोधके कारण ही प्रलयकालमें भोग नहीं होता है । परन्तु प्रश्न यह है कि संसारके असंख्य प्राणियोंके अदृष्टका एक साथ वृत्तिनिरोध कैसे होगा ? युगपत् सारे प्राणियोंके अदृष्टके वृत्तिनिरोधकी अनुपपत्ति भी 'प्रलयकी सिद्धिमें बाधक है]।

४. ब्राह्मणके, ब्राह्मण-जन्य होनेका नियम होनेसे [भी प्रलयकी सिद्धिमें बाधा पड़ती है । अर्थात् ब्राह्मणका पुत्र ही ब्राह्मण होता है । यदि प्रलय मान लेगें तो उसके बाद सृष्टिके आरम्भमें कोई ब्राह्मणपुत्र नहीं मिलेगा, इसलिए उस समय किसीको ब्राह्मण नहीं कहा जा सकेगा । फलतः उसके आगे भी यह ब्राह्मण-व्यवहार उपपन्न न होनेसे [भी प्रलयकी सिद्धि नहीं हो सकती है । यह चौथा बाधक दिखलाया है] ।

५. [नवीन सृष्टिके आरम्भमें] प्रयोज्य-प्रयोजक [मध्यमवृद्ध और उत्तमवृद्ध] के अभावमें संकेतग्रहके न होनेसे शब्द-व्यवहार के अनुपपन्न होनेसे [से भी प्रलय नहीं बनता है यह प्रलयके माननेमें पाँचवाँ बाधक है] ।

६. और पूर्वदर्शन-सापेक्ष घटादि निर्माणके नैपुण्यके, सर्गादिमें न होनेसे घटादि सम्प्रदायका उच्छेद इत्यादि बाधकोंके होनेसे [प्रलयकी सत्ता नहीं मानी जा सकती है । यह मीमांसकका पूर्वपक्ष है] ।

प्रलय बाधक हेतुओंका समाधान—

कारिकाकार इसके समाधानमें कहते हैं—

(१) वर्षा [दिन] आदि [की सिद्धिमें प्रयुक्त 'वर्षादिनपूर्वकत्वात्' इस हेतुमें 'राशि विशेषावच्छिन्नरविकालपूर्वकत्वे] के समान [अहोरात्रको अव्यवहित अहोरात्र-पूर्वक सिद्ध करनेकेलिए दिए गए 'अहोरात्रत्वात्' हेतुमें] 'भव' [काल] उपाधि है । [इसलिए उससे प्रलयाभाव सिद्ध नहीं हो सकता है] (२) सुषुप्ति [में बहुतसे व्यक्तियोंके अदृष्ट] के समान [प्रलयकालमें समस्त प्राणियोंके अदृष्टका युगपत्] वृत्तिनिरोध हो सकता है । (३) 'उद्भित्' शाक विशेष और विच्छू [अनेक कारणोंसे उत्पन्न होते हैं उन]के

समान, वर्ण [व्यवहार अनेक रूपमें हो सकता] हैं। और (४) बाजीगरके समान सङ्केतग्रह आदि [का उपपादन हो सकता। अतः प्रलयमें कोई बाधक हेतु नहीं है]

इस कारिकाकी अवतरणिकामें पूर्वपक्षमें प्रलयके बाधक ६ हेतु प्रस्तुत किए थे। उत्तर देते समय कारिकाकारने पहिले दूसरेको एकमें और पाँचवें तथा छठेको सम्मिलित करके छःके स्थानपर चार समाधान दिए हैं। जो कि कारिकाकी चारों पंक्तियोंमें ऊपर दिखलाए जा चुके हैं। उनको अलग-अलग इस प्रकार समझना चाहिए कि—पूर्व पक्षके (१) अहोरात्रस्याव्यवहिताहोरात्रपूर्वकत्वनियमात्, तथा (२) कालोपबाधित्वस्य भोगव्याप्यत्वात्। दोनों प्रलय-बाधक हेतुओंका कारिकाके प्रथम चरणमें निराकरण निम्न लिखित युक्तिक्रमके द्वारा किया गया है—

१-२. [अहोरात्रको अव्यवहित अहोरात्र पूर्वक सिद्ध करनेकेलिए जो 'अहोरात्रत्वात्' हेतु दिया जाता है वह 'सोपाधिक' होनेसे 'व्याप्यत्वासिद्ध' हेत्वाभास है। उस हेतुमें 'भव' अर्थात् संसार काल 'उपाधि' है]। जैसे वर्षा दिनको अव्यवहित वर्षादिन पूर्वक सिद्ध करनेमें 'राशिविशेषावच्छिन्न-रविकालपूर्वकत्व' उपाधि है।

१-२. उपाधिका लक्षण 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम् उपाधिः' यह किया गया है। अर्थात् जो साध्यका व्यापक और साधनका अव्यापक हो उसको उपाधि कहते हैं। यहाँ 'अहोरात्रपूर्वकत्व' साध्य है और 'अहोरात्रत्वात्' हेतु है। 'भव' अर्थात् संसारकाल उपाधि है। उपाधिके लक्षणका समन्वय इस प्रकार होता है। 'यत्र यत्र अहोरात्रपूर्वकत्वं तत्र तत्र भवकालत्वं'। जो जो अहोरात्र, अहोरात्र पूर्वक होता है वह संसार कालीन अहोरात्र होता है। यह साध्य-व्यापकत्व हुआ। और 'यत्र यत्र अहोरात्रत्वं तत्र तत्र भवकालपूर्वकत्वं इति न' जो जो अहोरात्र होता है वह वह भवकाल-पूर्वक होता है यह बात नहीं है। क्योंकि सृष्टिका प्रथम अहोरात्र भवकाल-पूर्वक नहीं अपितु प्रलयकाल-पूर्वक है। यह 'साधनाव्यापकत्व' हुआ। इस प्रकार 'सोपाधिक' होनेसे यह हेतु 'व्याप्यत्वासिद्ध' हेत्वाभास है। अत एव साध्यका साधक नहीं हो सकता है। इस अभिप्रायको मनमें रखकर कारिकाकारने पहिला पाद लिखा है। जिसका अर्थ यह हुआ कि जैसे वर्षादिनका अव्यवहित वर्षादिन पूर्वकत्व सिद्ध करनेमें राशि-विशेषावच्छिन्न-रविकालपूर्वकत्व उपाधि है इसी प्रकार अहोरात्रके अव्यवहित अहोरात्रपूर्वकत्व सिद्ध करनेमें 'भवकालपूर्वकत्व' उपाधि है। अतः हेत्वाभास होनेसे 'अहोरात्रत्वात्' से प्रलयके अभावकी सिद्धि नहीं हो सकती है। पूर्वपक्षकी दूसरी युक्ति 'कालोपाधित्वस्य भोगव्याप्यत्वात्'का समाधान भी इसीके अन्तर्गत हो जाता है। यही उसमें भी भवकालके उपाधि होनेसे व्याप्यत्वासिद्धि आ जाती है। इस प्रकार पूर्वपक्षके प्रथम द्वितीय बाधकोंका निराकरण कारिकाके प्रथम हेतु द्वारा किया गया है।

३. प्रलयके बाधकोंमें तीसरा बाधक यह दिया था कि युगपत् समस्त प्राणियोंके

१. यथा वर्षादिनस्याव्यवहितवर्षादिनपूर्वकत्वे साध्ये राशिविशेषावच्छिन्नरविकालपूर्वकत्वमुपाधिस्तथाहोरात्रस्याव्यवहिताहोरात्रपूर्वकत्वेऽव्यवहितसंसारपूर्वकत्वमुपाधिः। भवोपाधिः संसारावच्छेदककालोपाधिः स एवोपाधिरित्यर्थः।

२. सुषुप्तिकाले कतिपयव्यक्तिनिष्ठभोगजनकादृष्टनिरोधवत् कालविशेषात् समस्तात्मनां समस्तादृष्टनिरोधः। तदिदमुक्तं 'वृत्तिरोधः सुषुप्तिवत्' इति।

अदृष्टका वृत्तिरोध कैसे होगा उसका समाधान कारिकाके दूसरे चरण 'वृत्तिरोधः सुषुप्तिवत्' में किया गया है।

(४) प्रलय माननेमें चौथा बाधक यह दिया गया था कि ब्राह्मणका पुत्र ही ब्राह्मण होता है। यदि प्रलय मान लेगें तो उसके बाद जो सृष्टि होगी उसके आदिमें ब्राह्मण पुत्र न होनेसे कोई ब्राह्मण नहीं कहला सकेगा। इसका उत्तर ग्रन्थकार यह देते हैं कि जैसे बिच्छूका पुत्र भी बिच्छू होता है और दही गोवरके मिश्रणसे भी बिच्छू उत्पन्न होता है। इसी प्रकार सृष्टिकालमें ब्राह्मणका पुत्र ब्राह्मण कहलाता है परन्तु सृष्टिके प्रारम्भमें केवल अदृष्टसे ब्राह्मण आदि व्यवहार होता है।

(५) तथा ६ बाधकोंका उत्तर कारिकाके चतुर्थ चरणमें एक साथ दिया गया है। जिसका अभिप्राय यह है कि जैसे मायावी बाजीगर कठपुतलियोंके द्वारा सारे लोक व्यवहारका प्रदर्शनकर दिखला देता है इसी प्रकार सृष्टिके आरम्भमें परमात्मा नाना देहोंका निर्माणकर समस्त व्यवहारकी शिक्षा दे देता है। इसलिए प्रलयका खण्डन करनेके लिए दिए गए हेतु निरर्थक है।

इस प्रकार कारिकाकारने एक ही कारिकामें छहों बाधक हेतुओंका खण्डनकर दिया है। उसीकी व्याख्या करते हुए वृत्तिकार लिखते हैं—

(१) जैसे वर्षादिनके अव्यवहित वर्षादिन पूर्वकत्व सिद्ध करनेमें राशिविशेषावच्छिन्नरविकालपूर्वकत्व उपाधि है। इसी प्रकार अहोरात्रके अव्यवहित अहोरात्रपूर्वकत्व सिद्ध करनेमें अव्यवहितसंसारपूर्वकत्व [उपाधि] है। भवोपाधि अर्थात् संसारावच्छेदक कालोपाधि। वही उपाधि है यह अर्थ हुआ। [इससे प्रलय-बाधक १-२ दोनों हेतुओंका निराकरण किया गया है]।

(२) सुषुप्ति कालमें [एक समयमें हजार दो हजार] कतिपय व्यक्तियोंमें रहनेवाले भोगजनक अदृष्टके वृत्तिनिरोधके समान [सुषुप्तिकालमें किसी प्रकारका सुख दुःखका अनुभव न होनेसे उस समय अदृष्टका वृत्तिनिरोध मानना आवश्यक है। और रात्रिके परिमित समयमें एक साथ सैकड़ों हजारों प्राणियोंको सुषुप्तिकी अवस्था प्राप्त होती है। उस कालमें जैसे कतिपय व्यक्तियोंके अदृष्टका वृत्तिरोध होता है उसी प्रकार] कालविशेष

३. उद्भित् शाकविशेषः तस्य यथा तण्डुलकणात् शाकविशेषबीजाच्च उद्भवः, यथा वा वृश्चिकस्य गोमयाद् वृश्चिकाच्च उद्भवः, तथा कालविशेषेऽदृष्ट-विशेषात् केवलात्, इदानीं च ब्राह्मणात् ब्राह्मणोत्पत्तिः। वैजात्यस्य च[1] कार्यतावच्छेदकत्वान्न व्यभिचारः।

४. यथा मायावी सूत्रसञ्चाराधिष्ठितं दारुपुत्रकं कृत्वा दारुपुत्रक ! घटमानय इत्यादि नियोज्य, घटानयनं सम्पाद्य, बालकस्य व्युत्पत्तौ प्रयोजकस्तथेश्वरोऽपि प्रयोज्यप्रयोजकभावापन्नं शरीरद्वयं परिगृह्य, व्यवहारं कृत्वा तदानीन्तनानां शक्तिं ग्राहयति। एवं घटादिसम्प्रदायमपि स्वयं कृत्वा शिक्षयति। तदिदमुक्तं 'मायावत् समयादय' इति। समयः शक्तिग्रहः ॥ २ ॥

[प्रलयकाल] में समस्त प्राणियोंके समस्त अदृष्टोंका वृत्तिरोध [हो सकता है] इसीलिए यह कहा है 'वृत्तिरोध सुपुप्तिके समान' [हो सकता है]।

(३) उद्भित् शाक विशेष [का नाम है], उसकी जैसे चावलके कणसे और शाकविशेष [अपने] के बीज [दोनों] से उत्पत्ति होती है; अथवा जैसे बिच्छूकी गोबरसे और बिच्छूसे [दोनोंसे] उत्पत्ति होती है, इसी प्रकार काल विशेष [सर्गादिकाल] में केवल अदृष्टसे, और इस समय ब्राह्मणसे ब्राह्मणकी उत्पत्ति होती है। [अनेक कारण माननेमें पीछे प्रथम स्तबक की छठी कारिकामें कहा तृणारणिमणि स्थलीय व्यतिरेक व्यभिचार प्राप्त होता है। उसके परिहारकेलिए उसी कारिकामें कहे हुए] वैजात्यके कार्यतावच्छेदक होनेसे [व्यतिरेक] व्यभिचार नहीं होता है।

(४) जैसे मायावी [बाजीगर] कठपुतलीको सूत्रसञ्चारसे अधिष्ठित करके और उस कठपुतलीको 'घट लाओ' इस प्रकारकी आज्ञा देकर [उसके द्वारा] घटका आनयन करवाकर बालकके ज्ञान [संकेतग्रह आदि] का कारण होता है। इसी प्रकार ईश्वर भी [सृष्टिके आरम्भमें] प्रयोज्य प्रयोजक [मध्यमवृद्ध और उत्तमवृद्ध] स्वरूप दो शरीरों [इनको निर्माणकाय कहते हैं] को ग्रहणकर [उनसे उत्तमवृद्ध और मध्यमवृद्धोचित] व्यवहार करके उस समयके लोगोंको शक्तिग्रह करा देता है। इसी प्रकार घटादि [निर्माण] के सम्प्रदायको भी स्वयं करके सिखाता है। यही बात 'मायावत् समयादयः' में कही है। 'समय' [इससे दो बाधकोंका निराकरण किया है] शक्तिग्रह है।

इस प्रकार पूर्वपक्षने प्रलयकी सिद्धिमें जितने बाधक हेतु प्रस्तुत किए थे उन सबका समाधान इस कारिकामें कारिकाकारने कर दिया है। इसलिए प्रलयकी सिद्धिमें इनमेंसे कोई भी बाधक नहीं रहता है ॥ २ ॥

---

१. अन्य संस्करण में 'च' नहीं है।

बाधके निरस्ते साधकमप्याह—

जन्मसंस्कारविद्यादेः शक्तेः स्वाध्यायकर्मणोः ।
ह्रासदर्शनतो ह्रासः संप्रदायस्य मीयताम् ॥ ३ ॥

सम्प्रदायस्य वेदादिसम्प्रदायस्य ह्रासोऽनुमीयताम् । कुतः ? जन्मादेर्ह्रास-दर्शनात् । प्रयोगश्च, वेदादिसम्प्रदायोऽयमत्यन्तमुच्छिद्यते ह्रसमानत्वात् प्रदीप-वत् । स्वरूपासिद्ध्युद्धारायाह जन्मेति । पूर्वं मानस्यः प्रजाः । ततः पुत्रमात्रार्थि-प्रयुक्तमैथुनजाः, सम्प्रति सम्भोगकामिप्रवृत्त्यावर्जितजन्मान इति जन्मह्रासः । पूर्वं चरुप्रभृतिषु संस्कारः, ततो गर्भे, ततो जननानन्तरं, इदानीं कथञ्चिदिति

प्रलय साधक हेतु—

[प्रलयके] बाधकोंका निराकरण हो जानेपर [अब उसके] साधक [हेतु] भी कहते हैं—

जन्म, संस्कार, विद्या आदि, शक्ति, स्वाध्याय, कर्मके, ह्रास देखनेसे इस वेदादि सम्प्रदायके [अत्यन्त] ह्रासका अनुमान करना चाहिए ।

'सम्प्रदाय' अर्थात् वेदादि सम्प्रदाय [संप्रदीयते गुरुणा शिष्यायेति सम्प्रदायो वेदः] के ह्रासका अनुमान करना चाहिए । क्यों ? जन्मादिके ह्रास देखनेसे । [अनुमान वाक्यका] प्रयोग [इस प्रकार बनेगा]—'यह' वेदादि सम्प्रदाय अत्यन्त नष्ट होगा [प्रतिदिन] ह्रासको प्राप्त होनेसे, प्रदीपके समान । [जैसे प्रतिपल क्षीण होनेवाला प्रदीप एक समय अत्यन्त निर्वाणको प्राप्त हो जाता है इसी प्रकार प्रतिदिन ह्रासको प्राप्त होनेवाला वेदादि सम्प्रदाय एक दिन सर्वथा विनष्ट हो जायगा । यह अनुमानका स्वरूप हुआ] । स्वरूपासिद्धि [यो हेतुः आश्रये नावगम्यते स स्वरूपासिद्धः । जो हेतु आश्रय, पक्षमें, न हो उसको 'स्वरूपासिद्ध' हेत्वाभास कहते हैं । प्रकृतमें वेदादि सम्प्रदाय पक्ष है, 'ह्रसमानत्व' हेतु है । वह हेतु 'स्वरूपासिद्ध' नहीं है अपितु वेदादि सम्प्रदाय रूप पक्षमें ह्रसमानत्व हेतु विद्यमान है इस बातको बोधन करनेकेलिए जन्म संस्कार आदिमें ह्रास दिखलाया है]के उद्धारकेलिए 'जन्म' इत्यादि कहा है । (१) पहिले [सृष्टिके प्रारम्भमें] मानसी प्रजा [उत्पन्न हुई], उसके बाद पुत्रकामनासे किए गए मैथुनसे उत्पन्न हुई, और आजकल सम्भोगकामियों द्वारा किए गए मैथुनसे जन्मलाभ करती हैं, यह जन्मका ह्रास हुआ । (२) पहिले [गर्भाधानके भी पूर्व] चरु [भक्ष्य यज्ञशेष विशेष] आदिमें संस्कार होता था, फिर गर्भ [गर्भाधानकाल] में, उसके बाद जन्मके अनन्तर [जातेष्टि आदि] और आजकल जैसे-तैसे [संस्कार होता है] यह संस्कार का ह्रास

संस्कारह्रासः। पूर्वं सहस्रशाखस्य चतुर्वेदस्याध्ययनं, तत एकस्याः शाखायाः इत्यादि क्रमेण विद्याह्रासः। विद्यादेरित्यादिना वृत्तिधर्मादिसंग्रहः। पूर्वमुञ्छ-शिलावृत्तयः, ततोऽयाचितवृत्तयः, ततः कृष्यादिवृत्तयः, ततः सेवावृत्तय इति-वृत्तिह्रासः। पूर्वं तपो-ज्ञान-यज्ञ-दानात्मकचतुष्पाद् धर्मः, ततस्त्रेतादौ एकैकह्रासः, कलौ तु विसंष्ठुलस्खलद्दानैकपादिति धर्मह्रासः। पूर्वं यज्ञशेषभुज-स्ततोऽतिथिशेषभुजस्ततः स्वार्थसाधित भुजस्ततो भृत्यादिसहभुज इत्यपि धर्मह्रासः। स्वाध्यायस्याध्ययनस्य, कर्मणो यागादेः, शक्तेः सामर्थ्यस्य ह्रासात्। अध्ययनशक्तेः कारणस्य ह्रासात् विद्याशक्तेः कार्यस्य ह्रास इति पृथङ् निर्देशः। एवञ्च ब्रह्माण्डनाशे तदन्तर्गतप्राणिनां नाश इति प्रलयसिद्धिः।

भक्ष्यपेयाद्यद्वैतरागजीविकाकुतर्काभ्यासव्यग्रताभिसन्धि–पाषण्डसंसर्गप्रतार-

---

हुआ। (३) पहिले सहस्र शाखावाले चारो वेदोंका अध्ययन [होता था] उसके बाद एक-एक शाखाका, इत्यादि क्रमसे विद्याका ह्रास हुआ। 'विद्यादेः' में 'आदि' पदसे 'वृत्ति' 'धर्म' आदिका संग्रह है। (४) पहिले उञ्छवृत्ति और शिलावृत्ति [खेतोंके कट जानेपर उनमें गिरी बालियों आदिको बीनकर जीविका करनेवाले 'शिलावृत्ति' और कणोंका बीननेवाले 'उञ्छवृत्ति' कणाद आदि हुए हैं]। उसके बाद अयाचितवृत्ति [भिक्षा न करनेवाले], उसके बाद कृषि आदि द्वारा वृत्ति करनेवाले, उसके बाद सेवा [नौकरी] द्वारा वृत्ति उपार्जन, इस प्रकार वृत्तिका ह्रास हुआ। (५) पहिले [सत्ययुगमें] १ तप २ ज्ञान, ३ यज्ञ और ४ दान रूप चार पादोंसे युक्त धर्म था, उसके बाद त्रेतादिमें एक-एक पादका ह्रास हुआ, अब कलियुगमें अतिजीर्ण [विसंष्ठुल और] लड़खड़ाते हुए दान रूप एक पादपर आश्रित है, यह धर्मका ह्रास हुआ। (६) पहिले यज्ञशेषका भक्षण करनेवाले [लोग थे], फिर [अतिथियोंको खिलाकर उनसे शेष बचेका भक्षण करनेवाले], अतिथिशेषभोजी, उसके बाद अपनेलिए स्वयं पकाए अन्नको खानेवाले, और उसके बाद भृत्यादिके साथ खानेवाले [लोग हो गए] यह धर्मका ह्रास हुआ। (७) स्वाध्याय अर्थात् अध्ययनका, कर्म अर्थात् यागादिका, शक्ति अर्थात् सामर्थ्यके ह्राससे अध्ययन–शक्तिरूप कारणके ह्राससे विद्याशक्ति रूप कार्यका ह्रास [होता है] इसलिए [इन दोनोंका] अलग निर्देश किया है। इस प्रकार ब्रह्माण्डका नाश होनेपर उसके अन्तर्गत प्राणियोंका भी नाश हो जायगा इसलिए प्रलयकी सिद्धि होती है।

भक्ष्य [अभक्ष्य] पेय [अपेय] का जो अभेद [विचार न करना] तन्मूलक जो राग, जीविका कुतर्कके अभ्यासमें व्यग्रता, अभिसन्धि अर्थात् दूसरेके अनिष्टकी इच्छा, पाखंडियों [वेदमार्ग विरोधियों] के साथ संसर्ग, और दूसरेको धोखादेने आदि कारणोंसे

णादिनिबन्धनान्या या प्रवृत्तिर्यागादौ तद्वान् महाजनस्तत्परिग्रहाद् वेदस्य प्रामाण्यमिति ॥ ३ ॥

इति श्रीहरिदासभट्टाचार्यविरचिते न्यायकुसुमाञ्जलिकारिका-
व्याख्याने द्वितीयस्तबकव्याख्यानं समाप्तम् ।



कारं कारमलौकिकाद्भुतमयं मायावशात् संहरन्,
हारं हारमपीन्द्रजालमिव यः कुर्वन् जगत् क्रीडति ।
तं देवं निरवग्रहस्फुरदभिध्यानानुभावं भवं,
विश्वासैकभुवं शिवं प्रति नमन् भूयासमन्तेष्वपि ॥४॥

इति श्रीमदुदयनाचार्यविरचितायां न्यायकुसुमाञ्जलिकारिकायां
द्वितीयः स्तबकः समाप्तः ।



भिन्न कारणोंसे यागादिमें जो प्रवृत्ति, उस प्रवृत्तिसे युक्त पुरुष 'महाजन' हैं । उनके परिग्रहसे ही वेदोंका प्रामाण्य [गृहीत होता] है ॥ ३ ॥

इति श्रीहरिदास भट्टाचार्य विरचित न्यायकुसुमाञ्जलि कारिकाके व्याख्यानमें
द्वितीय स्तबक समाप्त हुआ ।



स्तबकके अर्थका संग्रह करनेवाला श्लोक कहते हैं—

जो [परमात्मा] अपनी मायासे अलौकिक और अद्भुत पदार्थोंसे युक्त इस जगत्को इन्द्रजालके समान बार-बार बनाकर बिगाड़ता, और बिगाड़-बिगाड़कर बनाता हुआ खेलता है । जिसके अभिध्यान [ईक्षण] का प्रभाव अबाध रूपसे प्रकट हो रहा है, उन श्रद्धा और विश्वासके भाजन, कल्याणकारी और जगत्के उत्पादक [भवम्] परमात्म-देवको अपने जीवनकी अन्तिम वेलामें भी नमस्कार करता हुआ रहूँ ॥ ४ ॥

इति श्रीउदयनाचार्यविरचित न्यायकुसुमाञ्जलि कारिकामें
द्वितीय स्तबक समाप्त हुआ ।



तृतीयः स्तबकः

तदभावावेदक–प्रमाणसद्भावादिति तृतीयविप्रतिपत्तिः ।

अथ तृतीय स्तबक

'तदभावादेकप्रमाणसद्भावात्' यह तृतीय विप्रतिपत्ति है । [जो मुख्यतः बौद्ध मतके अभिप्रायसे उपस्थित की गई है] ।

इसका आशय यह है कि उस ईश्वरके अभावसाधक प्रमाण उपस्थित होनेसे ईश्वरका अभाव सिद्ध होता है । इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि इन छहों प्रमाणोंसे ईश्वरका अभाव सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है । और आचार्यने उन सबका खण्डन कर यह सिद्ध किया है कि इनमेंसे कोई प्रमाण ईश्वरका अभाव सिद्ध नहीं करता है । न्याय मतमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार ही प्रमाण हैं । इन चारोंमेंसे किसीसे ईश्वरका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता है। वेदान्ती आदि इनके अतिरिक्त 'अर्थापत्ति' और 'अनुपलब्धि' दो प्रमाण और मानते हैं । उनके द्वारा भी ईश्वरका अभावसाधन करनेका प्रयत्न पूर्वपक्षमें किया गया है और सिद्धान्त-पक्षने उसका दुहरा परिहार किया है । एक तो यह कि उनसे ईश्वरका अभाव सिद्ध नहीं होता है और दूसरे यह कि वस्तुतः वे अलग प्रमाण ही नहीं हैं । इस प्रकार इन छहों प्रमाणोंकी विवेचना इस स्तबकमें की गई है । इनमें ईश्वरकी अभावसिद्धिके लिए सबसे पहिले 'अनुपलब्धि' प्रमाण उपस्थित होता है । क्योंकि ईश्वर दिखलाई नहीं देता है इसलिए उसकी सत्ता नहीं है यह बड़ा सीधा-सा परिणाम है जो ईश्वरकी अनुपलब्धिसे निकाला जा सकता है । इसलिए अनुपलब्धि प्रमाण ईश्वरके अभावका साधक है यह सबसे पहिला पूर्वपक्ष है । वैसे अनुपलब्धि प्रमाणका स्थान सबसे अन्तमें है और वहाँ भी इसकी विवेचना करेंगे परन्तु, सबसे अधिक स्पष्ट होनेके कारण सबसे पहिले भी उसीको प्रस्तुत किया है । यहाँ इसके खण्डनका सार यह है कि 'अनुपलब्धि' अभावसाधिका नहीं है अपितु 'योग्यानुपलब्धि' अर्थात् प्रत्यक्ष योग्य पदार्थकी 'अनुपलब्धि' अभावसाधिका है । यदि केवल 'अनुपलब्धि'को अभावसाधिका मान लिया जाय तब तो बौद्धोंके अभिमत धर्म-अधर्म आदि पदार्थोंका भी दिखलाई न देनेके कारण अनुपलब्धिसे अभाव सिद्ध हो जायगा । परन्तु बौद्ध धर्म-अधर्म आदिको मानते हैं इसलिए केवल 'अनुपलब्धि'को अभावसाधिका नहीं माना जा सकता है अपितु 'योग्यानुपलब्धि' ही अभावसाधिका है । और परमात्माके प्रत्यक्षके अयोग्य होनेसे उसकी अनुप-

भूतले घटाभाववदीश्वरस्याप्यनुपलब्धेः अभावस्य ग्रहात्। परमात्मनोऽयोग्यतया योग्यानुपलब्धेरभावात् नाभावग्रहो यदि तदा शशशृङ्गस्याप्ययोग्यस्य नाभावः सिद्ध्येत्। इत्यत्र—

योग्याहष्टिः कुतोऽयोग्ये प्रतिबन्धिः कुतस्तराम्।
क्वायोग्यं बाध्यते शृङ्गं, क्वानुमानमनाश्रयम् ॥१॥

अयोग्ये परमात्मनि योग्यानुपलब्धिः कुतः। सैव बाधिका, या चास्ति सा न बाधिका। अन्यथा धर्माधर्मादिविलयापत्तेः। शृङ्गन्तु योग्यमेव तथा च कुतः

लब्धिको 'योग्यानुपलब्धि' स्वरूप न होनेसे अभावसाधिका नहीं माना जा सकता है। पङ्क्तियोंका अर्थ इस प्रकार है—

उस [ईश्वर] के अभावसाधक प्रमाणोंके विद्यमान होनेसे [ईश्वरका अभाव सिद्ध होता है] यह तीसरी विप्रतिपत्ति [बौद्धमतके अभिप्रायसे] है। भूतलमें घटाभाव [जैसे अनुपलब्धिसे सिद्ध होता है उस] के समान ईश्वरकी अनुपलब्धिसे [उसका] भी अभाव ग्रहण होनेसे [ईश्वर नहीं है]। यदि यह कहें कि परमात्माके [प्रत्यक्षके] अयोग्य होनेसे 'योग्यानुपलब्धि'के अभावके कारण [उस ईश्वरके] अभावका ग्रहण नहीं होता है तो, [प्रत्यक्षके] अयोग्य शशशृङ्गका भी अभाव सिद्ध नहीं होगा। इस [पूर्वपक्ष] पर कहते हैं—

[प्रत्यक्षके] अयोग्य [परमात्मा] में योग्यानुपलब्धि [रूप अभावसाधक प्रमाण] कहाँ [घटता] है? [जिससे ईश्वरका अभाव सिद्ध हो। और जो 'अनुपलब्धि' पाई जाती है वह केवल अनुपलब्धि रूपसे अभावसाधिका नहीं है अन्यथा बौद्धाभिमत आकाश, धर्माधर्म आदि अप्रत्यक्ष पदार्थोंका भी लोप हो जायगा। अतः अनुपलब्धि मात्रसे ईश्वरका अभाव सिद्ध नहीं होता है। और आपने जो यह कहा है कि योग्यानुपलब्धिको अभावसाधिका माननेपर प्रत्यक्षके अयोग्य होनेसे शशशृङ्गका अभाव अनुपलब्धिसे सिद्ध नहीं होगा। आपका यह] प्रतिबन्धि भी कहाँ बनता है? [क्योंकि प्रत्यक्षके] अयोग्य [शश] शृङ्गका बाध [हम] कहाँ करते हैं [हम तो शृङ्गमें शशीयत्व, शशसम्बन्धका निषेध करते हैं, शशशृङ्ग नामक पदार्थका निषेध नहीं करते हैं। शृङ्ग प्रत्यक्षके योग्य ही है। इस प्रकार कारिकाके तीन चरणोंमें अनुपलब्धि द्वारा अभावसिद्धिका खण्डन किया गया है। चतुर्थ पादमें अनुमानकी चर्चा है अतः इन तीन पादोंसे सम्बद्ध वृत्ति भागके अनुवादके बाद उसकी व्याख्या करेंगे]।

अयोग्य [प्रत्यक्षके अयोग्य] परमात्मामें योग्यानुपलब्धि कहाँ है, वही बाधिका है। और जो [केवल अनुपलब्धि मात्र पाई जाती] है, वह अभावसाधिका नहीं है। अन्यथा [यदि अनुपलब्धिमात्रको अभावसाधिका मान लिया जाय तो बौद्धाभिमत]

प्रतिबन्धिः। अयोग्यन्तु शशशृङ्गं न बाध्यते किन्तु साधकाभाव एव तत्र। प्रकृते च पञ्चमस्तबके साधकस्य वक्तव्यत्वात्।

आकाश, धर्म, अधर्म आदिका विलोप हो जायगा। [आकाशादि अप्रत्यक्ष अर्थोंका भी अभाव मानना होगा जो बौद्धको अभिमत नहीं है। योग्यानुपलब्धिको अभावसाधक माननेमें शशशृङ्गका भी अभाव सिद्ध नहीं होगा यह जो 'प्रतिबन्धि' दिया गया है उसका उत्तर करते हैं कि—हम प्रत्यक्षके अयोग्य शशशृङ्ग नामक किसी पदार्थका निषेध नहीं करते हैं अपितु शशरूप आधारमें प्रत्यक्ष योग्य शृङ्गके संयोग सम्बन्धका निषेध करते हैं] शृङ्ग तो [प्रत्यक्ष के] योग्य ही है इसलिए प्रतिबन्धि कैसे [बनेगा, अर्थात् प्रतिबन्धि नहीं बन सकता है]। अयोग्य शृङ्गका [हम] निषेध नहीं करते हैं। [तब उसकी सत्ता सिद्ध हो जायगी यह शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि] उस [शशशृङ्ग] के विषयमें साधक [प्रमाणों] का अभाव ही [उसकी सत्ताका बाधक] है। [इसी प्रकार ईश्वरके विषयमें भी कहा जा सकता है कि अनुपलब्धिसे ईश्वरका बाध न मानो तो भी शशशृङ्गके समान साधक प्रमाणोंका अभाव ही ईश्वरकी सत्तामें बाधक होगा। यह शङ्का भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि] प्रकृत [ईश्वरके विषय] में पञ्चम स्तबकमें साधक [प्रमाणों] को कहा जायगा।

इस प्रकार 'अनुपलब्धि' ईश्वरके अभावकी साधिका नहीं हो सकती है यह बात कारिकाके तीन चरणोंमें सिद्ध की गई है। इसपर पूर्वपक्षकी ओरसे ईश्वरकी अभाव सिद्धिके लिए अनुमान प्रस्तुत किया जाता है। अनुपलब्धिकी विवेचना करनेवाली इस कारिकामें एक दम अनुमानको भी सम्मिलित कर दिया है वह केवल इस दृष्टिसे कि, परमात्माके प्रत्यक्षायोग्य होनेसे उसके 'क्षितिकर्तृकत्व' आदि धर्म भी प्रत्यक्षके अयोग्य हैं। अत एव उन 'क्षितिकर्तृकत्व' आदिके अभावको देखकर उनके आधारपर जो अनुमान किया जायगा वह भी ठीक नहीं होगा। इस प्रकार उस अनुमानका अनुपलब्धिसे सम्बन्ध होनेके कारण ही उसको यहाँ जोड़ दिया है। वैसे अनुमान प्रमाणकी विवेचना आगे अलग की है। यहाँ जो अनुमान प्रस्तुत किया जा रहा है उसका आधार यह है कि 'शरीरसम्बन्ध' और 'प्रयोजन' ये दो कर्तृत्वके व्यापक धर्म हैं। 'यत्र यत्र कर्तृत्वं तत्र तत्र शरीरसम्बन्धः, प्रयोजनञ्च'। जो कर्ता होता है वह शरीरयुक्त अवश्य होता है और उस कार्यके करनेमें उसका कोई प्रयोजन अवश्य होता है। परन्तु ईश्वर न शरीरी है और न सृष्टिके निर्माणमें उसका कोई स्वार्थ अथवा कारुण्यरूप प्रयोजन ही है। यदि उसका कोई स्वार्थ है तो वह पूर्णकाम नहीं रहेगा। और अन्य आत्माओंके उद्धारकी कारुण्य भावना इसलिए नहीं बनती है कि दुःखी प्राणीको देखनेके बाद ही करुणा हो सकती है उसके पूर्व नहीं। दुःख संसारकालमें ही हो सकता है अत एव करुणा भी संसारकालमें ही हो सकती है, सृष्टिकी उत्पत्तिके

ननु कर्तृत्वव्यापकशरीरप्रयोजनाभिसन्धानयोरभावात् ईश्वरस्याभावोऽनुमेयः इत्यत्राह 'क्वानुमानमनाश्रयम्' इति। ईश्वरस्याश्रयस्य पक्षस्यासिद्धेः सिद्धौ च धर्मिग्राहकमानेन अनुमानबाध एव ॥ १ ॥

पूर्व नहीं। इसलिए सृष्टिके निर्माणमें उसका कोई प्रयोजन भी नहीं है और शरीर-सम्बन्ध भी नहीं। अतः ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं हो सकता है। यह पूर्वपक्ष है। उसके अनुसार अनुमान वाक्य इस प्रकार बनेगा, 'ईश्वरः न क्षित्यादिकर्ता शरीरसम्बन्धाभावात् प्रयोजनाभावाच्च।' इस अनुमानमें ईश्वर पक्ष या आश्रय है। जब वही सिद्ध नहीं है तो यह हेतु 'आश्रयासिद्ध' हेत्वाभास होनेसे साध्यको सिद्ध नहीं कर सकता है। और यदि 'आश्रयासिद्धि'को बचानेकेलिए ईश्वरकी सत्ता मान लें तो जिस प्रमाणसे उसकी सत्ता मानेंगे उसी धर्मिग्राहक प्रमाणसे उसका 'क्षित्यादिकर्तृत्व' भी सिद्ध हो जायगा। उस दशामें यह हेतु 'बाधितविषय' हेत्वाभास हो जायगा। इसलिए दोनों प्रकारसे हेत्वाभास होनेसे 'शरीरसम्बन्धाभावात्' हेतु ईश्वरके अभावका साधक नहीं हो सकता है। यही बात कारिकाके अन्तिम शेष चरणमें कही है। उस वृत्तिभागका अनुवाद इस प्रकार है—

अच्छा तो कर्तृत्व व्यापक शरीर [सम्बन्ध] और प्रयोजनका अभाव होनेसे ईश्वर [अर्थात् क्षित्यादिकर्ता ईश्वर] का अभाव अनुमानसे सिद्ध होता है। इस [पूर्वपक्षके खण्डन] केलिए कहते हैं—'क्वानुमानमनाश्रयम्' ? बिना आश्रय [अर्थात् पक्ष] के अनुमान कहाँ होता है ? ईश्वर [रूप] आश्रय अर्थात् पक्षके सिद्ध न होनेसे [अनुमान नहीं हो सकता है]। और [यदि ईश्वरकी सिद्धि माने तो] सिद्धि होने [मानने] पर धर्मिग्राहक [उस ईश्वरसाधक] प्रमाणसे ही [ईश्वरके क्षित्यादिकर्तृत्वाभावसाधक इस] अनुमानका बाध भी हो जायगा। [अतः इस अनुमानसे भी ईश्वरका अभाव सिद्ध नहीं होता है।] ॥ १ ॥

इसपर पूर्वपक्षी फिर पूर्वपक्ष करता है कि कुछ लोग मिथ्याज्ञानवश ईश्वरको मानते हैं। उनका यह मिथ्याज्ञान, भ्रम या 'असत्ख्याति' कहलाता है। इस 'असत्ख्याति'से ईश्वरवादी जिस परमात्माको मानते हैं, उसको पक्ष बनाकर 'ईश्वरः न क्षित्यादिकर्ता शरीरसम्बन्धाभावात् प्रयोजनाभावाच्च' यह अनुमान, अथवा 'ईश्वरो नास्ति शरीरसम्बन्धाभावात् प्रयोजनाभावाच्च' यह अनुमान किया जा सकता है। इस शङ्काका उत्तर करनेकेलिए अगली कारिका लिखी गई है। उत्तरपक्षका भाव यह है कि 'क्षित्यादिकर्तृत्वाभाववानीश्वरः' इस पहिले अनुमानमें ईश्वरमें कर्तृत्वका अभाव सिद्ध किया जारहा है। उसमें ईश्वर विशेष्य है और क्षित्यादिकर्तृत्वाभाव उसका विशेषण है। दूसरे अनुमान 'ईश्वरो नास्ति' में ईश्वरका अभाव सिद्ध किया जारहा है। 'यस्याभावः स तस्य प्रतियोगी'। जिसका अभाव होता है

ननु असत्ख्यात्युपनीत ईश्वरस्तत्र कर्तृत्वाभावः, तस्यैव वा अभावः साध्यः। इत्यत्राह—

व्यावर्त्याभाववत्तैव भाविकी हि विशेष्यता।
अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता ॥ २ ॥

व्यावर्त्यः प्रतिक्षेप्यः, तदभाववत्ता भाविकी पारमार्थिकी। हि यतः विशेष्यता, अभावस्याश्रयता, तथा चालीकं न विशेष्यमित्यर्थः। अभावविरहात्मत्वं प्रतियोगित्वम्, अवस्तुनो नेति नालीकस्य प्रतिषेधाधिकरणत्ववत् प्रतिषेध्यत्वमपीति भावः ॥ २ ॥

वह उस अभावका 'प्रतियोगी' कहलाता है। इसलिए ईश्वर अभावका प्रतियोगी है। यह 'विशेष्यता' और 'प्रतियोगिता' दोनों धर्म किसी यथार्थ वस्तुमें ही रह सकते हैं। मिथ्या या 'असत्ख्याति' से सिद्ध वस्तुमें नहीं। क्योंकि 'विशेष्यता' का अर्थ 'विशेषणाश्रयता' है। यह आश्रयता भाव पदार्थमें ही रह सकती है और 'प्रतियोगिता' 'अभावविरोधीभाव' रूप ही हो सकती है। इसलिए 'प्रतियोगिता' भी वस्तुमें ही रह सकती है। इसलिए 'असत्ख्याति' से उपनीत ईश्वर न 'विशेष्य' हो सकता है और न 'प्रतियोगी'। इसलिए ईश्वरके अभावसाधक ये दोनों अनुमान नहीं बन सकते हैं। यह सिद्धान्तपक्षका अभिप्राय है। पंक्तियोंका अर्थ इस प्रकार है—

अच्छा तो 'असत्ख्याति' से प्राप्त [सिद्ध, जो] ईश्वर [है] उसमें [क्षित्यादिके] कर्तृत्वका अभाव [ईश्वरः न क्षित्यादिकर्ता अथवा क्षित्यादिकर्तृत्वाभाववान् ईश्वरः], अथवा उस [ईश्वर] का ही अभाव [ईश्वरो नास्ति शरीरसम्बन्धाभावात् प्रयोजनाभावाच्च] साध्य है। [यदि ऐसा मान लें तो अनुमान बन जायगा]। इस पूर्वपक्षके होनेपर कहते हैं—

[ईश्वरमें जो कर्तृत्वाभाव साध्य है उस] प्रतिषेध्य कर्तृत्वके अभावकी आश्रयता [रूप] विशेष्यता [जो ईश्वरमें आती] है, वह भाविकी अर्थात् भावभूत पदार्थमें ही रह सकती है। और [दूसरे अनुमानमें ईश्वरमें जो अभावप्रतियोगित्व प्रतीत होता है वह] प्रतियोगिता अभावके अर्थात् विरोधीभाव रूप [होनेसे] वस्तुमें ही रह सकती है। [अतएव 'असत्ख्याति' से उपनीत ईश्वर न 'विशेष्य' हो सकता है और न 'प्रतियोगी'। इसलिए आपके दोनों अनुमान नहीं बन सकते हैं]।

व्यावर्त्य अर्थात् प्रतिषेध्य [क्षित्यादिकर्तृत्व] उसके अभावकी आश्रयता [रूप विशेष्यता] भाविकी अर्थात् पारमार्थिकी ही है। 'हि' माने 'यतः' क्योंकि 'विशेष्यता' अर्थात् [उस] अभावकी आश्रयता [रूप] है। इसलिए अलीक मिथ्या पदार्थ [असत् ख्यातिसे सिद्ध ईश्वर] विशेष्य नहीं हो सकता है, यह अभिप्राय है। अभावविरोधी भावरूप प्रतियोगित्व [भी] अवस्तुका नहीं [बनता]। इसलिए [असत्ख्यातिसे

ननु अयोग्यस्याप्यनुपलब्ध्या कथं नाभावग्रहः । इत्यत आह—

दुष्टोपलम्भसामग्री शशशृङ्गादियोग्यता ।

उपनीत] मिथ्या [ईश्वर] के प्रतिषेधाधिकरणत्वके समान प्रतिषेध्यत्व भी नहीं बनता है यह आशय है ॥ २ ॥

योग्यानुपलब्धिको अभावसाधक माननेसे शशशृङ्गका भी अभाव सिद्ध नहीं होगा क्योंकि वह प्रत्यक्षके योग्य नहीं यह 'प्रतिबन्धि' हेतु ऊपर दिया गया था। उसका समाधान भी वहाँ कर दिया था कि हम अयोग्य शृङ्गका अभाव सिद्ध नहीं करते हैं अपितु प्रत्यक्ष योग्य शृङ्गका शशके साथ सम्बन्धका निषेध करते हैं और शशशृङ्गका निषेध न करनेसे उसका भाव सिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि उसका साधक कोई प्रमाण नहीं है। परन्तु यदि इस समाधानसे पूर्वपक्षीको सन्तोष नहीं है और वह यही कहता है कि शशशृङ्गका ही निषेध किया जाता है। और योग्यानुपलब्धिको अभावसाधिका माननेसे उसका निषेध सम्भव नहीं होगा क्योंकि वह प्रत्यक्ष योग्य नहीं है। इसलिए केवल अनुपलब्धिको अभाव साधिका मानना चाहिए। इस शङ्काका उत्तर इस कारिकामें दिया गया है। उसका भावार्थ यह है कि यदि आप शशशृङ्गका ही अभाव सिद्ध करना चाहते हैं तो वह शशशृङ्ग भी प्रत्यक्ष के योग्य है। और उसकी अनुपलब्धि योग्यानुपलब्धि ही है। तब प्रश्न यह पैदा होता है कि यदि शशशृङ्ग प्रत्यक्ष योग्य है तो उसका प्रत्यक्ष भी होना चाहिए। इसका उत्तर नैयायिक यह देता है कि हाँ, जब उसके प्रत्यक्षकी सामग्री होगी तब उसका प्रत्यक्ष अवश्य होगा और यदि प्रत्यक्ष नहीं होता है तब यह समझना चाहिए कि प्रत्यक्षकी सामग्री नहीं है। वह शशशृङ्गके प्रत्यक्षकी सामग्री दोषयुक्त इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष आदि है। जैसे पीलिया रोगके रोगीको 'पीतः शङ्खः' प्रतीति होती है। वहाँ इस प्रतीतिमें पित्तादि दोषयुक्त नेत्र कारण होते हैं। इसी प्रकार शशशृङ्गके प्रत्यक्षमें भी दुष्ट अर्थात् दोषघटित प्रत्यक्ष, सामग्री होगी। और उस सामग्रीके होनेपर शशशृङ्गका भी प्रत्यक्ष हो सकता है। इसलिए शशशृङ्ग भी प्रत्यक्ष योग्य है अत एव उसका अभाव योग्यानुपलब्धिसे सिद्ध हो सकता है। अतः अब योग्यानुपलब्धि ही अभावसाधिका है अनुपलब्धिमात्र नहीं। इसी विषयको कारिकाकार तथा वृत्तिकारने निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है—

अच्छा तो अयोग्यकी अनुपलब्धिसे भी [उसका] अभाव क्यों नहीं [मानते]? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं—

दोषघटित प्रत्यक्ष सामग्री [का अस्तित्व ही] शशशृङ्गादि [के प्रत्यक्ष होने] की योग्यता है। उस [दोषघटित सामग्री] के होनेपर [शशशृङ्गका] प्रत्यक्ष न हो

न तस्यां नोपलम्भोऽस्ति नास्ति सानुपलम्भने ॥ ३ ॥

योग्यानुपलब्धिरेवाभावग्राहिका, अन्यथा अतीन्द्रियमात्रोच्छेदापत्तेः। योग्यता च प्रतियोगि-तद्व्याप्येतर-यावदुपलम्भसामग्रीसमवधानम्। एवञ्च शशशृङ्गे योग्यता दुष्टा दोषघटितोपलम्भसामग्री वाच्या। तस्यां सत्याम् अनुपलब्धिर्न किन्तूपलब्धिरेव स्यात्। अदृष्टे च सा योग्यता नास्तीति ॥ ३ ॥

नन्वात्मा किञ्चिदनभिज्ञः स्वनिष्ठकर्तृत्वानिरूपकक्षितिको वा आत्मत्वादित्यत्राह—

ऐसा नहीं है [अर्थात् अवश्य प्रत्यक्ष होगा]। और यदि प्रत्यक्ष नहीं होता है तो वह [सामग्री] नहीं है। [यही समझना चाहिए]।

योग्यानुपलब्धि ही अभावग्राहिका है अन्यथा अतीन्द्रियमात्रका लोप हो जायगा [जो पूर्वपक्षी बौद्धको इष्ट नहीं है। योग्यानुपलब्धिकी घटकीभूत 'योग्यता' क्या है यह कहते हैं] प्रतियोगी और तद्व्याप्य अन्य समस्त प्रत्यक्ष सामग्रीका समवधान ही 'योग्यता' पदार्थ है। इस प्रकार शशशृङ्ग [के प्रत्यक्ष] में दुष्ट अर्थात् दोषघटित उपलम्भ-सामग्री [ही] योग्यता [कही जासकती] है। उस [दोषघटित सामग्री] के होनेपर अनुपलब्धि नहीं, किन्तु उपलब्धि ही होगी। और दिखलाई न देनेपर [अर्थात् यदि वह दिखलाई नहीं देता है तो] वह [सामग्री] नहीं है। [यही मानना होगा] ॥ ३ ॥

इसपर पूर्वपक्षी फिर आत्माको पक्ष बनाकर 'आत्मा न सर्वज्ञः आत्मत्वात्', अथवा 'आत्मा न क्षित्यादिकर्ता आत्मत्वात् अस्मदादिवत्' यह अनुमान करना चाहता है और इस प्रकार परमात्माका या सर्वज्ञ आत्माका खण्डन करना चाहता है। इसका उत्तर करनेके लिए अगली कारिका लिखी गई है। उत्तरका आशय यह है कि यहाँ किस आत्माको पक्ष बनाया है? प्रसिद्ध आत्मा अर्थात् जीवात्माको अथवा अप्रसिद्ध आत्मा अर्थात् परमात्माको? यदि जीवात्माको पक्ष बनाया है तब तो 'सिद्धसाधन' या 'इष्टसिद्धि' है। क्योंकि हम भी जीवात्माको सर्वज्ञ या क्षित्यादिकर्ता नहीं मानते हैं। और यदि अप्रसिद्ध आत्मा अर्थात् परमात्माको पक्ष बनाया है तो उसके सिद्ध न होनेसे 'आश्रयासिद्धि' तो पूर्ववत् है ही उसके अतिरिक्त 'हेत्वसिद्धि' अर्थात् 'स्वरूपासिद्धि' भी होगी। क्योंकि पक्षवृत्तित्वेन हेतुका ज्ञान अनुमानका प्रयोजक होता है सो यहाँ पक्षके न होनेसे पक्षवृत्तित्वविशिष्ट हेतुज्ञानका भी अभाव होनेसे 'हेत्वसिद्धि' भी होगी। इसलिए इस आत्माको पक्ष बनाकर भी आपके अभिमतकी सिद्धि नहीं हो सकती है। यह कारिकाकारका अभिप्राय है। पंक्तियोंका अर्थ इस प्रकार है—

अच्छा तो [आत्माको पक्ष बनाकर] 'आत्मा किञ्चिदनभिज्ञः' अथवा अपने [आत्मा] में रहनेवाले कर्तृत्वकी अनिरूपिका है क्षित्यादि जिसकी [अर्थात् जो

इष्टसिद्धिः प्रसिद्धेंऽशे हेत्वसिद्धिरगोचरे ।
नान्या सामान्यतः सिद्धिर्जातावपि तथैव सा ॥ ४ ॥

प्रसिद्धे संसार्यात्मनि पक्षे इष्टसिद्धिः, सिद्धसाधनम् । अगोचरे अज्ञाते ईश्वरे हेत्वसिद्धिः, हेतोरज्ञानम् । आत्मत्वेन सामान्यतः सिद्धः पक्षश्चेत् तत्राप्यस्मदादिस्तदितर आत्मा वा पक्ष इति विकल्पे सिद्धसाधनं हेत्वसिद्धिर्वा ।

नन्वात्मत्वं जातिः पक्षस्तत्राह जातावपि तथैव सेति । आत्मत्वं जातिर्न क्षितिकर्त्री इत्यत्रेष्टसिद्धिः सिद्धसाधनं, हेतोश्च तत्रासत्त्वमिति हेत्वसिद्धिरित्यर्थः ॥ ४ ॥

क्षित्यादिका कर्ता नहीं है] इस प्रकारका है, आत्मा होनेसे । [इस अनुमान द्वारा आत्माकी असर्वज्ञता और क्षित्यादिकर्तृत्वाभावकी सिद्धि हो सकती है] इस [पूर्वपक्षके होने] पर कहते हैं—

प्रसिद्ध अंश [जीवात्माको पक्ष बनाने] में सिद्धसाधन, और अप्रसिद्ध [परमात्माको पक्ष बनाने] में हेत्वसिद्धि [पक्षवृत्तित्वविशिष्ट] हेतुका अज्ञान [अथवा स्वरूपासिद्धि] होगी ।[प्रसिद्ध या अप्रसिद्ध आत्मा अर्थात् जीवात्मा तथा परमात्मासे भिन्न] अन्य कोई सामान्य आत्मा नहीं है [जिसको पक्ष बनाकर इन दोषोंसे बचा जा सके]। आत्मत्व जाति [को पक्ष मानने] में भी वही [इष्टसिद्धि तथा स्वरूपासिद्धि] उसी प्रकार होगी ।

प्रसिद्ध अर्थात् संसारी आत्मा [जीवात्मा] को पक्ष माननेपर इष्टसिद्धि अर्थात् सिद्धसाधन, और अगोचर अर्थात् अज्ञात आत्मा [परमात्माको पक्ष मानने] में हेत्वसिद्धि अर्थात् [पक्षवृत्तित्वविशिष्ट] हेतुका अज्ञान [स्वरूपासिद्धि] होगी । [अत एव इस प्रकारके अनुमानसे ईश्वरका अभाव सिद्ध नहीं होसकता है । इसपर यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि हम प्रसिद्ध या अप्रसिद्ध आत्माके विकल्पको नहीं मानते, हम तो सामान्यतः सिद्ध आत्माको पक्ष बनाते हैं । तो इसका उत्तर देते हैं—] आत्मत्वेन सामान्यतः सिद्ध [आत्मा] यदि पक्ष है तो वहाँ भी अस्मदादि [हमारे समान जीवात्मा] अथवा उससे भिन्न [परमात्मा] आत्मा पक्ष है इस विकल्पमें सिद्धसाधन और हेत्वसिद्धि होगी ।

अच्छा तो आत्मत्व जातिको पक्ष मान लें इसपर कहते हैं—'जातावपि तथैव सा ।' जाति [के पक्ष मानने] में भी उसी प्रकार वह इष्टसिद्धि और स्वरूपासिद्धि होगी । आत्मत्व जाति क्षित्यादिकर्त्री नहीं है इसमें इष्टसिद्धि अर्थात् सिद्धसाधन है [क्योंकि हम भी आत्मत्व जातिको क्षितिकर्त्री नहीं मानते हैं] । और हेतु [आत्मत्व] की उस [आत्मत्व जाति] में सत्ता नहीं है इसलिए हेत्वसिद्धि अर्थात् स्वरूपासिद्धि है । [आत्मत्व जातिमें आत्मत्वरूप हेतु नहीं रहता इसका कारण अनवस्था है । पहले 'जातिबाधकों'में 'अनवस्था'को भी 'जातिबाधक' माना गया है । उसके कारण जातिमें जाति नहीं मानी जाती है । इसलिए आत्मत्वजातिरूप पक्षमें आत्मत्वजातिरूप हेतु नहीं रह सकता है इसलिए पक्षमें हेतुके न रहनेसे स्वरूपासिद्धि हुई] ॥ ४ ॥

नन्वागमादिसिद्धात्मनि अकर्तृत्वं साध्यम् । तत्राह—

आगमादेः प्रमाणत्वे बाधनादनिषेधनम् ।
आभासत्वे तु सैव स्यादाश्रयासिद्धिरुद्धता ॥ ५ ॥

आगमादेः प्रमाणत्वे तत एव ईश्वरस्य कर्तृत्वादिसिद्धौ कर्तृत्वाद्यभावसाधने बाधः । आगमादेरप्रमाणत्वे सैवाश्रयासिद्धिः । उद्धता उत्कटा ॥ ५ ॥

किञ्चिदनभिज्ञः का रहस्य—

इस कारिकाके प्रारम्भमें पूर्वपक्ष रूपमें आत्मा 'किञ्चिदनभिज्ञः आत्मत्वात्' यह जो अनुमान प्रस्तुत किया था उसका अभिप्राय आत्माकी असर्वज्ञता सिद्ध करनेका है। परन्तु 'आत्मा असर्वज्ञः' यह साक्षात् साध्य न रखकर 'असर्वज्ञः'की जगह 'किञ्चिदनभिज्ञः' साध्य रखा है। इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वरमें सर्वज्ञताका अभाव तभी सिद्ध किया जा सकता है जब कहीं और सर्वज्ञता रहती हो। परन्तु उसके मतमें सर्वज्ञ कोई है ही नहीं तब साध्याप्रसिद्धि दोष प्राप्त होने लगेगा। उक्त दोषको बचानेकेलिए ही पूर्वपक्षीने अनुमानमें 'आत्मा न सर्वज्ञः'के स्थानपर 'आत्मा किञ्चिदनभिज्ञः' को साध्य बनाया है ॥ ४ ॥

इस प्रकार ईश्वरका अभाव सिद्ध करनेके लिए पूर्वपक्षीने अनेक प्रकारके अनुमान प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया था। परन्तु उन सभी अनुमानोंके आश्रयासिद्धि या स्वरूपासिद्धि हो जानेसे उसके अभीष्टकी सिद्धि नहीं हो सकी। इसलिए अब आश्रयासिद्धिको बचानेकेलिए आगमसिद्ध अर्थात् वेदप्रतिपादित आत्माको पक्ष बनाकर उसमें क्षित्यादिकर्तृत्वका अभाव और उसके द्वारा ईश्वरका अभाव सिद्ध करनेका प्रयत्न करता है—

अच्छा तो आगमादिसिद्ध आत्मामें [क्षित्यादिका] अकर्तृत्व साध्य है [ऐसा मान लें] इस पर कहते हैं—

आगम आदिके प्रमाण होनेपर [उन्हींसे अनुमानका] बाध हो जानेसे [ईश्वरका] निषेध नहीं हो सकता है। और [आगमके] आभास [अप्रमाण] होनेपर वही [पूर्व कथित] उत्कट आश्रयासिद्धि होगी।

आगम आदिके प्रमाण होनेपर उसीसे ईश्वरके [क्षिति] कर्तृत्वादिकी सिद्धि हो जानेपर [अनुमान द्वारा] कर्तृत्वादिके अभावसाधनमें बाधा होगी [अर्थात् अभावसाधक अनुमान 'बाधितविषय' हेत्वाभास हो जायगा]। और आगमादिके अप्रमाण होनेपर वही [पूर्व कथित] उद्धत अर्थात् उत्कट दुर्निवार आश्रयासिद्धि होगी। 'उद्धता'का अर्थ 'उत्कटा' दुर्निवार है ॥ ५ ॥

यहाँ तक ग्रन्थकारने यह सिद्ध किया है कि अनुपलब्धि तथा अनुमान इन दोनों प्रमाणोंसे ईश्वरका अभाव सिद्ध करनेका प्रयत्न सफल नहीं हो सकता है। क्योंकि

अत्र चार्वाकाः, योग्यताविशेषणेन किं, 'यन्न प्रत्यक्षं तन्नास्ति' इत्यनुपलब्धिमात्रमेव बाधकं स्यात्, अनुमानविलोपश्चेष्ट एव। धूमदर्शनानन्तरं वह्न्यर्थप्रवृत्तिश्च सम्भावनामात्रादिति। तत्राह—

दृष्ट्यदृष्ट्योर्न सन्देहो भावाभावविनिश्चयात्।
अदृष्टिबाधिते हेतौ प्रत्यक्षमपि दुर्लभम् ॥ ६ ॥

अनुपलब्धिको अभावसाधिका माननेमें आकाश धर्माधर्म आदिका विलोप हो जाता है। जो कि पूर्वपक्षी बौद्धको अभिमत नहीं है। क्योंकि बौद्ध यद्यपि नित्य आत्मा तथा ईश्वरकी सत्ता नहीं मानते हैं किन्तु आकाश, धर्माधर्म आदिका अस्तित्व स्वीकार करते हैं। इसलिए जब अनुपलब्धिको अभावसाधिका माननेसे आकाश, धर्माधर्म आदिका लोप प्राप्त होने लगता है तो बौद्ध भयभीत हो जाता है। इसी प्रकार अनुपलब्धिको अभाव साधिका मान लेनेपर अनुमान प्रमाणका कोई उपयोग नहीं रहता है। अतः अनुमानका भी लोप हो जाता है। जो कि बौद्धको अभीष्ट नहीं है। क्योंकि बौद्ध प्रत्यक्षके अतिरिक्त अनुमान प्रमाणको भी मानता है। इसलिए जब आकाश, धर्माधर्म और अनुमानके विलोपका अवसर आता है तब बौद्धको चुप हो जाना पड़ता है। वह अनुपलब्धिको अभावसाधिका नहीं मान सकता है। बौद्धकी इस दुर्बलताको देखकर चार्वाक उसको हटाकर स्वयं सामने आ जाता है। आकाश, धर्माधर्म और अनुमानके विलोपके भयसे बौद्ध भयभीत हो गया था। परन्तु चार्वाकके लिए उसमें कोई भयकी बात नहीं है। बल्कि इष्टसिद्धि है। क्योंकि वह इनमेंसे किसीकी भी सत्ता नहीं मानता है। इसलिए चार्वाकके पूर्वपक्षका खण्डन करनेकेलिए ग्रन्थकार अगली कारिका लिखते हैं—

इसपर चार्वाक [कहते हैं] योग्यता विशेषणसे क्या [प्रयोजन] ? जो प्रत्यक्ष नहीं है वह नहीं है इस प्रकार [योग्यानुपलब्धि नहीं अपितु] अनुपलब्धिमात्र ही [ईश्वरकी सिद्धिमें] बाधक हो [माननी चाहिए। ऐसा माननेसे] अनुमान [से सिद्ध धर्माधर्म आदि, अथवा स्वयं अनुमान] का विलोप इष्ट ही है। [बौद्धको अनुमानका या धर्माधर्म आदिका विलोप इष्ट नहीं था, चार्वाकको उनका लोप माननेमें कोई आपत्ति नहीं है इसी दृष्टिसे इस पक्षको दुबारा प्रस्तुत किया है] धूमको देखनेके बाद वह्निकेलिए प्रवृत्ति [वह्निके अनुमानसे नहीं अपितु] सम्भावना मात्रसे होती है। यह पूर्वपक्ष होनेपर [उसके समाधानकेलिए] कहते हैं—

[अग्निके] दर्शन और अदर्शन [दोनों पक्षों] में सन्देह नहीं [बनता, क्योंकि दर्शन पक्षमें] भाव और [अदर्शन पक्षमें] अभावके निश्चय हो जानेसे। [प्रत्यक्षके] हेतु [चक्षुरादि] के भी अदर्शनसे बाधित [न दिखाई देनेसे उनका अभाव] होनेसे प्रत्यक्ष भी [बनना] दुर्लभ है।

सम्भावना हि सन्देहः। स च दृष्टौ नास्ति तस्य निश्चयात्, अदृष्टौ च नास्ति अनुपलब्धौ तदभावस्यैव निर्णयात्। एवमदृष्ट्या अनुपलब्ध्या हेतौ प्रत्यक्षकारणे चक्षुरादौ बाधिते सति प्रत्यक्षमपि प्रमाणं न स्यात्। अनुपलब्धिकालेऽपि तस्य सत्त्वे तु व्यभिचारात् नानुपलब्धिरभावावधारणे हेतुः। एवञ्च गृहान्निर्गतश्चार्वाकः पुत्रदाराद्यभावमवधार्य विक्रोशेत, परावृत्तोऽपि कुटुम्बं नासादयेत्। तदा तेषां सत्त्वे चानुपलब्धिर्व्यभिचारिणी न हेतुः स्यादिति ॥६॥

ननु यद्यनुपलम्भमात्रं नाभावसाधकं तदा अयोग्योपाधिशङ्कया, धूमादावपि व्यभिचारशङ्कया न व्याप्तिनिश्चयः स्यादिति गतमनुमानेन। इत्यत्राह—

सम्भावनाका अर्थ सन्देह है। वह दर्शन होनेपर उस [की सत्ता] का निश्चय हो जानेसे नहीं बनता है। और न दिखलाई देनेपर भी उसका अभाव निश्चय हो जानेसे नहीं होता है। इस प्रकार अदर्शन अर्थात् अनुपलब्धिसे हेतु अर्थात् प्रत्यक्षके कारण चक्षुरादिके बाधित [असिद्ध] हो जानेपर प्रत्यक्ष प्रमाण भी नहीं बन सकता है। [चक्षुरादि इन्द्रियाँ अनुमानसे ही सिद्ध होती हैं। प्रत्यक्ष दीखनेवाले तो गोलक हैं वे इन्द्रियाँ नहीं हैं] अनुपलब्धिकालमें भी उनकी [चक्षुरादि] की सत्ता माननेपर तो व्यभिचारिणी हो जानेसे अनुपलब्धि अभावसाधनमें हेतु नहीं हो सकेगी। और इस प्रकार [अनुपलब्धि मात्रको अभावसाधिका माननेसे] घरसे बाहर निकला हुआ चार्वाक, पुत्र कलत्र आदि [को न देखनेके कारण अनुपलब्धिमात्रसे उन] के अभाव आदिका निश्चय कर, रोए चिल्लाए [गा]। और [घरमें] लौटनेपर भी [उनका अभाव होनेसे] कुटुम्बको नहीं पाए [गा] और उस समय [अनुपलब्धिकालमें] उनकी सत्ता होनेपर अनुलब्धि व्यभिचारिणी होनेसे [अभावनिश्चयमें] कारण नहीं होवे [गी] ॥ ६ ॥

[इसपर चार्वाक फिर शङ्का करता है कि] अच्छा यदि अनुपलम्भमात्र अभावसाधक नहीं है तो [प्रत्यक्षके] अयोग्य उपाधिकी शङ्का [कर देने] से धूमादि [धूम और वह्नि आदिके कार्यकारणभाव सम्बन्ध] में भी व्यभिचारकी शङ्का [हो जाने] से व्याप्तिका निश्चय न हो [गा]। इसलिए अनुमान [ही] समाप्त हो जायागा। [अर्थात् कहीं अनुमान नहीं हो सकेगा]। इस [पूर्वपक्षके होने] पर कहते हैं—

उस देश और उस काल अर्थात् व्याप्तिग्रहके स्थल महानस आदि तथा व्याप्तिग्रह के कालमें स्थित धूम और वह्निका सम्बन्ध प्रत्यक्ष होनेसे उनके सम्बन्धके विषयमें तो कोई व्यभिचार आदिकी शङ्का हो ही नहीं सकती है इसलिए यदि आप अयोग्य उपाधिकी शङ्का करेंगे तो किसी कालान्तरस्थ अथवा देशान्तरस्थ धूम और वह्निके सम्बन्धमें ही शङ्का कर सकते हैं। परन्तु उन कालान्तरस्थ और देशान्तरस्थ धूम या वह्निका ग्रहण प्रत्यक्षसे नहीं अनुमानसे ही हो सकता है। इसलिए यदि आप अयोग्य उपाधिकी शङ्का करना चाहेंगे तो आपको अनुमान मानना ही पड़ेगा और

शङ्का चेदनुमास्त्येव न चेच्छङ्का ततस्तराम्।
व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिर्मतः ॥ ७ ॥

तद्देशतत्कालस्थयोर्व्यभिचाराभावनिश्चयात् कालान्तरस्थदेशान्तरस्थयोर्व्यभिचारशङ्का स्यात्। कालान्तरस्थदेशान्तरस्थज्ञानं चानुमानादेवेति सिद्धमनुमानम्। शङ्का न चेत्, ततः शङ्काविरहे तरां सुतरामनुमानम्।

यदि शङ्का नहीं करना चाहते हैं तो व्याप्तिनिश्चयमें कोई बाधा है ही नहीं इसलिए अनुमान बना हुआ ही है। उसका अभाव नहीं हो सकता है। अतः आपका 'गतमनुमानेन' कहना ठीक नहीं है। इसी बातको कारिकाके पूर्वार्द्धमें और उसकी वृत्तिमें इस प्रकार कहा गया है—

यदि [अयोग्य उपाधि की] शङ्का [करनी] है तो [उसके आधारभूत कालान्तरस्थ और देशान्तरस्थ घूम और वह्निके ज्ञानके लिए अनिवार्य होनेसे] अनुमान है ही, और यदि शङ्का नहीं [करनी] है तो 'तरां' अर्थात् 'सुतरां' अनुमान सिद्ध ही है। [अयोग्य उपाधिकी] शङ्काका [अवधि] निवर्तक [घूमो यदि वह्निव्याप्यो न स्यात् वह्निजन्यो न स्यात्' घूम यदि वह्निव्याप्य न हो तो वह्निजन्य भी न होना चाहिए इस प्रकारका विपक्ष बाधक] तर्क माना गया है। [प्रश्न—इस तर्कके मूलमें भी तो व्याप्ति है यदि उसमें अयोग्य उपाधिकी शङ्का कर दी जाय तो उसकी निवृत्ति इस प्रकारसे करनेसे अनवस्था होगी। इसलिए तर्कसे उपाधि—शङ्काकी निवृत्ति नहीं हो सकती है। इसका उत्तर देते हैं] शङ्का [व्यभिचार—शङ्का] व्याघात [जबतक प्रत्यक्षादिसे विरोध न हो वहाँ तक] पर्यन्त ही हो सकती है। [तर्ककी मूलभूत व्याप्तिमें शङ्का करनेका अर्थ यह होगा कि बिना कारणके कार्य हो सकता है। यह प्रत्यक्ष विरोधी बात है। यदि ऐसा मान लें तो भोजनादिमें प्रवृत्ति भी न हो क्योंकि शायद बिना भोजनके भी तृप्ति हो जाय। इसलिए प्रत्यक्षादि—बाधित होनेसे तर्ककी मूलभूत व्याप्तिमें व्यभिचार-शङ्का नहीं हो सकती है। अतः तर्क पूर्वशङ्काका निवर्तक हो सकता है]।

उस देश और उस काल [अर्थात् व्याप्तिग्रह के देश महानस आदि और व्याप्तिग्रहके काल] में स्थित [धूम और वह्निके सम्बन्धके प्रत्यक्ष होनेसे] दोनोंमें व्यभिचारके अभावका निश्चय होनेसे कालान्तरस्थ और देशान्तरस्थ [घूम और वह्नि] में व्यभिचारकी शङ्का होगी। और कालान्तरस्थ तथा देशान्तरस्थ [धूम और वह्नि] का ज्ञान [प्रत्यक्षसे सम्भव न होनेके कारण] अनुमानसे ही होगा, इसलिए अनुमान सिद्ध ही है। [उसका खण्डन नहीं हो सकता है] और यदि शङ्का नहीं है तो शङ्काके न होनेसे 'तरां' अर्थात् 'सुतरां' अपने आप अनुमान [सिद्ध] है। [इसलिए आपका 'गतमनुमानेन' यह कहना ठीक नहीं है। यह कारिकाके पूर्वार्द्धकी व्याख्या हुई]।

ननु किं शङ्कानिवर्तकं, तत्राह—'तर्कः शङ्कावधिर्मतः' इति । विपक्षबाधकतर्काच्छङ्काविरहो मतः सम्मत इत्यर्थः। ननु तर्कस्यापि व्याप्तिमूलकत्वेऽनवस्था, इत्यत्राह—व्याघातेत्यादि । तर्कमूलव्याप्तौ न शङ्का व्याघातात् । क्लृप्तकारणं विना कार्योत्पत्तिशङ्कायां तृप्त्यर्थं भोजनादौ, परप्रतिपत्त्यर्थञ्च शब्दप्रयोगादौ न प्रवर्तेतेति । एवञ्च तर्कानवतारे शङ्कितोपाधिरेवाप्रयोजक इत्युच्यते । तदुक्तम्—

इसपर चार्वाक फिर कहता है कि आपने यह तो सिद्ध कर दिया कि शङ्का होने और न होने दोनों दशाओंमें अनुमानका लोप नहीं हो सकता है । अनुमान तो मानना ही होगा । परन्तु अब हम जिज्ञासाभावसे 'समित्पाणिः' होकर यह जानना चाहते हैं कि यदि कोई धूमादिके साथ वह्नि आदिके सम्बन्धमें अयोग्य उपाधिकी शङ्का कर दे तो उसका निवारण कैसे किया जाय ? इस प्रश्नका उत्तर कारिकाके उत्तरार्द्धमें दिया गया है । उसका आशय यह है कि 'धूमो यदि वह्निव्याप्यो न स्यात् वह्निजन्यो न स्यात्' इस प्रकारके कार्यकारणभावमूलक विपक्ष-बाधक तर्कसे शङ्का की निवृत्ति होगी । पर प्रश्न यह है कि इस तर्कके मूलमें भी तो कार्यकारणभावमूलक 'यो यज्जन्यो भवति स तद्व्याप्यो भवति' इस प्रकारकी व्याप्ति है । धूम और वह्निकी व्याप्तिके समान तर्ककी मूलभूत इस व्याप्तिमें भी अयोग्य उपाधिकी शङ्काकी जा सकती है । उसकी निवृत्ति कैसे होगी ? उसका समाधान यह है कि जबतक प्रत्यक्षादि प्रमाण से व्याघात न हो तबतक तो शङ्का हो सकती है। परन्तु प्रत्यक्षादिका व्याघात होनेपर शङ्का नहीं हो सकती है । क्योंकि यदि ऐसी शङ्का होने लगे तो तृप्तिकेलिए भोजन आदिमें प्रवृत्ति भी न हो । इसी बातको कारिकाके उत्तरार्द्ध और उसकी वृत्तिमें इस प्रकार कहा है—

अच्छा तो [अयोग्योपाधि] शङ्काका निवर्तक क्या है ? इस प्रश्नके उत्तरमें [कारिकाकार] कहते हैं तर्क शङ्काका निवर्तक है। विपक्ष-बाधक [अर्थात् 'यदि धूमकी वह्निके साथ व्याप्ति न हो तो धूमको वह्निजन्य भी नहीं होना चाहिए' । वह वह्निसे उत्पन्न होता है इसलिए वह वह्निव्याप्य अवश्य ही है इस प्रकारके] तर्कसे शङ्काकी निवृत्ति मानी गई है । अच्छा तो तर्कके भी ['जो जिससे उत्पन्न होता है वह उसका व्याप्य होता है' इस प्रकारकी] व्याप्तिमूलक होनेसे [तर्कको शङ्कानिवर्तक माननेमें] अनवस्था होगी। इसके [समाधानके] लिए कहते हैं—'व्याघातावधि' इत्यादि। तर्ककी मूलभूत व्याप्तिमें । [व्यभिचारकी] शङ्का [प्रत्यक्षादिसे] विरोध होनेसे नहीं हो सकती है । स्वीकृत कारणके बिना कार्यकी उत्पत्तिकी शङ्का करनेपर तृप्तिके लिए भोजनादिमें, और दूसरोंके ज्ञान करानेकेलिए [कारणभूत] शब्दादिमें [कोई भी] प्रवृत्त न हो । इस प्रकार [तर्ककी मूलभूत व्याप्तिमें व्यभिचार शङ्काके प्रयोजक] तर्कके अनवतारमें शङ्कितोपाधिको ही अप्रयोजक [अननुमापक] कहा जाता है । जैसाकि

यावच्चाव्यतिरेकित्वं शतांशेनापि शङ्क्यते।
विपक्षस्य कुतस्तावद्धेतोर्गमनिकाबलम्॥

विपक्षस्य विपक्षे हेतोरव्यतिरेकित्वं सत्त्वं यावच्छङ्क्यते तावद्धेतोर्न गमकत्वमिति भावः।

व्यभिचारशङ्का च उपाधिशङ्काधीना। तदुक्तम्—

अन्ये परप्रयुक्तानां व्याप्तीनामुपजीवकाः।
तैर्दृष्टैरपि नैवेष्टा व्यापकांशावधारणा॥ इति।

अन्ये केचन हेतवः परप्रयुक्तानां व्याप्तीनामुपजीवका आश्रयाः। तथाहि उपाध्यवच्छिन्नहेतुनिष्ठा व्याप्तिः, हेतुतावच्छेदकावच्छिन्नहेतुवृत्तितया ज्ञायते।

[आचार्य श्री कुमारिलभट्टने अपने श्लोकवार्तिकके अनुमानपरिच्छेदकी निम्न कारिकामें] कहा है—

जबतक हेतुका विपक्षमें [अव्यतिरेकित्व] सत्ताकी [शतांशेन] तनिक भी शङ्का है तबतक हेतुमें अनुमापन सामर्थ्य कहाँ हो सकती है ?

[श्लोक वार्तिककी इस कारिकामें प्रयुक्त] विपक्षका [अर्थ] विपक्षमें [करना चाहिए]। हेतुके अव्यतिरेकित्व अर्थात् सत्त्व [की] जबतक शङ्का की जाती [या रहती] है तबतक हेतु अनुमापक नहीं हो सकता है यह [इस कारिकाका] अभिप्राय है।

[यहाँ यह शङ्का होती है कि इस कारिकामें सन्दिग्ध अनैकान्तिक हेतुको अनुमान का अप्रयोजक बतलाया है सन्दिग्ध या शङ्कितोपाधिको तो नहीं और आप [टीकाकार] 'शङ्कितोपाधिरेवाप्रयोजकः' लिख रहे हैं। यह कैसे ? इसका समाधान करनेके लिए टीकाकी अगली पंक्ति है।] व्यभिचार-शङ्का उपाधि-शङ्काके आधीन है। [इसलिए व्यभिचार संशयको अनुमानका अप्रयोजक बतलानेसे उसके कारणीभूत उपाधि-संशय अर्थात् शङ्कितोपाधिका भी अप्रयोजकत्व अर्थतः आ जाता है। इसलिए उक्त कथनमें कोई दोष नहीं है]। जैसा कि [आचार्य श्रीकुमारिल भट्टने अपने श्लोकवार्तिक के अनुमान परिच्छेदकी १५वीं कारिकामें] कहा है—

दूसरे [अर्थात् सोपाधिक या उपाधिसद्भावात् व्याप्यत्वासिद्ध] हेतु अन्य [उपाधि भूत धर्म] से प्रयुक्त व्याप्तिके उपजीवक अर्थात् आश्रय होते हैं [अर्थात् उनकी स्वतः साध्यके साथ व्याप्ति नहीं होती अपितु अन्य उपाधिभूत धर्मकी व्याप्ति उनमें भासती है] उन [सोपाधिक हेतुओं] के देखे जाने [पक्षमें उपस्थित होने] पर भी व्यापक अंश [साध्य] का निश्चय नहीं होता है।

अन्य कुछ हेतु अन्य [अर्थात् उपाधि भूतधर्म] से प्रयुक्त व्याप्तियोंके उपजीवक अर्थात् आश्रय होते हैं। अर्थात् उपाधियुक्त [उपाध्यवच्छिन्न] हेतुमें रहनेवाली व्याप्ति, हेतुतावच्छेदक [वह्नित्व आदि धर्म] से युक्त [अवच्छिन्न] हेतु [वह्नित्वावच्छिन्न

अत एव उप समीपवर्तिनि स्वसमानाधिकरणे स्वधर्मं व्याप्तिं आदधाति बोधयतीति उपाधिशब्दो जवाकुसुमादिसाधारणः। तैः सोपाधिभिर्दृष्टैरपि पक्षे व्यापकांशावधारणा निश्चयो नेष्यते। साधारणधर्मेण साध्यसंशयजननादित्यर्थः ॥ ७ ॥

वह्नि] निष्ठ रूपसे प्रतीत होती है। इसीलिए 'उप' अर्थात् 'समीपवर्ती' अपने समानाधिकरण [मैत्रीतनयत्वादि] में स्व अपने धर्म [श्यामत्व प्रयोजकत्व] को 'आधान' करता है इसलिए [शाकपाकजन्यत्वादि उपाधिभूत धर्म] 'उपाधि' शब्द जवाकुसुम [गुड़हलके कूल] आदिमें [साधारण] समान रूपसे प्रयुक्त होनेवाला है। उन सोपाधिक [हेतुओं] के पक्षमें देखे जानेपर भी उनसे व्यापक अंश [साध्य] का निश्चय इष्ट नहीं है। साधारण [अनैकान्तिक] धर्मसे साध्यके संशयको उत्पन्न करनेके कारण। यह अभिप्राय है ॥ ७ ॥

'मैत्रीतनयत्वात्' हेतुसे 'श्यामत्व' सिद्ध करनेमें 'शाकपाकजन्यत्व' 'उपाधि' है। 'सः श्यामः मैत्रीतनयत्वात् परिदृश्यमानमैत्रीतनयस्तोमवत्'। इस अनुमानमें 'श्यामत्व' साध्य है 'मैत्रीतनयत्व' हेतु है और 'शाकपाकजन्यत्व' 'उपाधि' है। 'उपाधि' का लक्षण 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम्' किया जा चुका है। साध्य अर्थात् 'श्यामत्व'का प्रयोजक 'मैत्रीतनयत्व' नहीं अपितु 'शाकपाकजन्यत्व, है। परन्तु 'शाकपाकजन्यत्व'का श्यामत्व-प्रयोजकत्व रूप धर्म 'मैत्रीतनयत्व'में प्रतीत होता है। जैसे जवाकुसुमका 'लौहित्य' समीपवर्ती दर्पणमें प्रतीत होनेसे जवाकुसुमको 'उपाधि' कहा जाता है। इसी प्रकार शाकपाकजन्यश्यामत्व धर्म मैत्री-तनय-प्रयुक्त प्रतीत होनेसे शाकपाकजन्यत्वको 'उपाधि' कहा जाता है।

उपमान प्रमाणकी ईश्वर-बाधकताका खण्डन—

इस प्रकार यहाँ तक यह सिद्ध किया कि 'अनुपलब्धि' तथा 'अनुमान' प्रमाण ईश्वरकी सिद्धिमें बाधक नहीं है। अब उपमान प्रमाणका विवेचन प्रारम्भ करते हैं। जैसे दिखाई न देनेसे शशशृङ्ग आदिका अभाव है इसी प्रकार दिखाई न देनेसे ईश्वरका अभाव है। यह जो प्रसिद्ध शशशृङ्गाभावके साधर्म्यसे साध्य ईश्वराभावका साधन है यही 'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्' इस लक्षणके योगसे उपमानसे ईश्वरका अभाव साधन अथवा उपमानका ईश्वर-बाधकत्व है। इसलिए उपमान प्रमाण ईश्वरमें बाधक है। यह पूर्वपक्ष है। इस पूर्वपक्षका उत्तर पहिले (१) वैशेषिक पक्षकी ओरसे फिर (२) मीमांसककी ओरसे और अन्तमें (३) सिद्धान्त पक्ष नैयायिककी ओरसे दिया जायगा। वैशेषिक दर्शनमें प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो ही प्रमाण माने गए हैं। उपमान प्रमाण नहीं माना गया है अत एव उसकी ओरसे पूर्वपक्षका सीधा-सा उत्तर यह है कि उपमान कोई प्रमाण ही नहीं है अतः वह ईश्वरका बाधक नहीं हो सकता है।

इसपर मीमांसक वैशेषिकके विरोधमें उपमान प्रमाणकी सिद्धि करेगा।

ननूपमानमीश्वरे बाधकं स्यात्। अत्रोपमानस्यातिरिक्तप्रमाणस्यानभ्युपगमात् न बाधकमिति वैशेषिकादयः।

तत्र सादृश्यस्य पदार्थान्तरस्य ग्राहकमुपमानमिति केचित्। सादृश्यं न द्रव्यं, गुणः, कर्म वा गुणसमवेतत्वात्। न सामान्यं सप्रतियोगिकत्वात्, सामान्यादिवृत्तित्वाच्च। नाभावः सप्रतियोगिकत्वेनाप्रत्ययात्।

मीमांसकका कहना है कि सादृश्यके ग्रहणके लिए उपमान प्रमाणको अलग मानना ही चाहिए। पीछे कह चुके हैं कि मीमांसक, न्याय तथा वैशेषिकके सप्त पदार्थोंसे अतिरिक्त 'शक्ति' तथा 'सादृश्य'को भी अलग पदार्थ मानता है। इनमेंसे 'शक्ति' पदार्थकी मीमांसा प्रथम स्तबकमें कर चुके हैं। 'सादृश्य' का खण्डन यहाँ करेंगे। इसलिए पहिले मीमांसकाभिमत उपमानके स्वरूपका उपपादन करेंगे। और फिर उसका खण्डन कर स्वाभिमत उपमानके निरूपणके पश्चात् यह प्रतिपादन करेंगे कि यह उपमान प्रमाण ईश्वरमें बाधक नहीं है। इस विषयका विवेचन ८ से १२ तक पाँच कारिकाओंमें किया गया है। टीकाकारने पूर्वपक्षका उपपादन इस प्रकार किया है—

वैशेषिक द्वारा उपमानप्रमाणका खण्डन—

अच्छा तो उपमान [प्रमाण] ईश्वरमें बाधक हो [सकता है]। इस [पूर्वपक्ष] पर वैशेषिक आदि [का उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष और अनुमानसे] अतिरिक्त उपमान प्रमाणके स्वीकृत न होंनेसे [उपमान प्रमाण] बाधक नहीं हो सकता है। [यह कहते हैं]।

मीमांसक द्वारा उपमानकी स्थापना—

इसपर [इस वैशेषिक सिद्धान्तके विरोधमें उपमानवादी मीमांसकका कहना यह है कि] सादृश्य [जो कि न्याय वैशेषिकके अभिमत सात पदार्थोंसे भिन्न अष्टम पदार्थ है उस] रूप पदार्थान्तरका ग्राहक उपमान प्रमाण है यह किन्हीं [मीमांसकों] का कथन है। सादृश्य द्रव्य गुण या कर्म नहीं है क्योंकि [वह] गुणोंमें रहता है। [अन्य कोई द्रव्य अथवा गुण अथवा कर्म गुणोंमें नहीं रहता वह सब केवल द्रव्यमें रहते है। सादृश्य गुणोंमें भी रहता है इसलिए द्रव्य गुण और कर्मसे भिन्न है]। सप्रतियोगिक [अर्थात् किसीका किसी वस्तुके साथ सादृश्य होता है। यह सादृश्य जिस वस्तुमें माना जाता है 'तदनुयोगिक' और जिस वस्तुका होता है 'तत्प्रतियोगिक' कहा जाता है। साधारणतः अलंकारकी भाषामें इनको उपमान और उपमेय कहते हैं। उपमेयमें उपमाननिरूपित सादृश्य रहता है। इसीको उपमेयानुयोगिक उपमान-प्रतियोगिक सादृश्य कहते हैं। इस प्रकार सप्रतियोगिक] होनेसे और सामान्यादि-वृत्ति [यथा गोत्वं नित्यं तथा अश्वत्वमपि नित्यम्। जैसे गोत्व सामान्य नित्य है वैसे ही अश्वत्व सामान्य भी नित्य है। इस रूपमें गोत्व तथा अश्वत्व सामान्यमें नित्यत्व सादृश्य रहता है] होनेसे [सादृश्य] सामान्य [के अन्तर्गत भी] नहीं है। और सप्रतियोगिकत्वेन [यस्याभावः स तस्य प्रतियोगी। जिसका अभाव हो वह उसका प्रतियोगी कहलाता है] प्रतीत न होनेसे अभाव [रूप भी] नहीं है।

तच्च न प्रत्यक्षगम्यं, इन्द्रियपातमात्रेणाप्रतीतेः। नापि प्रतियोगिज्ञानसहकृतमिन्द्रियं ग्राहकमिति वाच्यं, गोसदृशो गवय इति ज्ञानान्तरं सा गौर्गवयसदृशीत्यसन्निकृष्टगोविशेष्यकग्रहस्याप्रत्यक्षत्वात्। नाप्यनुमानगम्यं, लिङ्गाप्रतिसन्धानेऽपि ज्ञायमानत्वात्। न शब्दगम्यं तस्यासार्वत्रिकत्वादिति।

अभावकी प्रतीतिमें उसके प्रतियोगीका भान अनिवार्य है। किसका अभाव ? घटपट आदिका। इसमें अभावके प्रतियोगी घटपट आदिकी प्रतीति अनिवार्य है। उस प्रकार सादृश्यमें नहीं। अतः अभावके भीतर भी सादृश्यका अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। इसलिए इन सबसे भिन्न अलग अष्टम पदार्थ मानना चाहिए।

इसमें विशेष पदार्थका वर्णन नहीं किया है। उसको भी समाविष्ट करके सबके लिए यदि एक ही हेतु देना हो तो 'सामान्येऽपि सत्त्वात्' यह एक ही हेतु पर्याप्त है। 'सादृश्यं न द्रव्यं, गुणः, कर्म, 'सामान्यं, विशेषः समवायः, 'अभावो वा सामान्येऽपि सत्त्वात्'। जैसा कि कहा है गोत्व तथा अश्वत्व सामान्यमें भी नित्यत्व सादृश्य रहता है परन्तु द्रव्यादि सात पदार्थोंमेंसे सामान्यमें कोई और पदार्थ नहीं रहता है इसलिए सादृश्य उन सातों पदार्थोंसे भिन्न अष्टम पदार्थ है यह बात सिद्ध हो गई। अब उसका ग्रहण प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सम्भव नहीं है इसलिए उसके ग्रहणके लिए उपमान प्रमाण अलग मानना चाहिए। यह कहते हैं—

और वह [सादृश्य] इन्द्रियपातमात्रसे प्रतीत न होने [अपितु विचारके बाद अनुभव होने] से प्रत्यक्षगम्य नहीं है। और प्रतियोगि [सम्बन्धी] ज्ञान सहकृत इन्द्रिय उसकी ग्राहक है यह भी नहीं कहा जा सकता है। [क्योंकि मीमांसकके मतमें 'यथा गौस्तथा गवयः' अर्थात्] 'गोके सदृश गवय होता है' [किसी आरण्यक पुरुष द्वारा] इस ज्ञानके [प्राप्त करनेके] बाद [वनमें जाकर गोसदृश प्राणीको देखनेपर घरमें बँधी हुई, या पूर्वदृष्ट] वह गौ इस [दृश्यमान पिण्ड] के सदृश है इस प्रकार असन्निकृष्ट [पूर्वदृष्ट] गो विशेष्यक ज्ञान के [जिसको कि मीमांसक उपमानका विषय मानता है] अप्रत्यक्ष होनेसे [प्रत्यक्षमें आवश्यक प्रतियोगि ज्ञान सहकृत इन्द्रियको सादृश्यका ग्राहक नहीं कहा जा सकता है]। अतः सादृश्य प्रत्यक्ष प्रमाणसे गृहीत नहीं हो सकता है] और लिङ्गज्ञानके बिना भी [सादृश्यका] ज्ञान होनेसे [सादृश्यको] अनुमानगम्य भी नहीं [कहा जा सकता] है। और शब्दके सार्वत्रिक न होनेसे [अर्थात् जहाँ-जहाँ सादृश्यकी प्रतीति हो वहाँ सर्वत्र शब्द प्रयोगके आवश्यक न होनेसे सादृश्यको] शब्दगम्य भी नहीं [कहा जा सकता] है। [इसलिए सादृश्यके ग्रहणके लिए अलग प्रमाण मानना चाहिए। उसीका नाम 'उपमान' है। यह मीमांसकका पक्ष हुआ]।

इसके खण्डनके लिए ८ और ९ दो कारिकाएँ लिखी गई हैं। इनमें सादृश्य पदार्थका खण्डन इस प्रकार किया गया है कि सादृश्यको जो मीमांसक अलग पदार्थ मानना चाहता है वह या तो भाव रूप होगा या अभाव रूप। इन दोके अतिरिक्त

तत्राह—

परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः ।
नैकतापि विरुद्धानामुक्तिमात्रविरोधतः ॥ ८ ॥

न प्रकारान्तरस्थितिः नोभयात्मकत्वं, हि यतः परस्परविरोधात् । नैकतापि, न भावाभावात्मकत्वमपि । विरुद्धानामिति हेतुगर्भविशेषणम् । परस्परविरोधिरूपत्वात् । विरोधमेव प्रतिपादयति 'उक्तिमात्रविरोधतः' । नाभाव इत्युक्ते च भावत्वप्रतीतिः कथमभावता, न भाव इत्युक्ते चाभावत्वप्रतीतेर्न भावत्वम् ।

अयमभिप्रायः सादृश्यं भावोऽभावो वा उभयकोट्यतिरिक्तस्याप्रसिद्धेः ।

और कोई प्रकार नहीं हो सकता है। और प्रकार, जिनकी ओर संकेत है, दो हो सकते हैं। एक भावाभावात्मकत्व अर्थात् उभयात्मकत्व, और दूसरा अनुभयात्मकत्व अर्थात् न भाव रूप और न अभाव रूप। परन्तु भाव और अभाव शब्दोंके उच्चारण मात्रसे उनका विरोध प्रतीत होता है। ऐसे विरुद्ध धर्मोंकी एकतारूप उभयात्मक पदार्थ नहीं बन सकता है। और इस विरोधके कारण ही जो भाव नहीं है तो अभाव है और अभाव नहीं तो भाव रूप है, यही मानना होगा। उन दोनों दशाओंमें सादृश्यका अन्तर्भाव स्वीकृत पदार्थोंमें ही हो जायगा। अतः सादृश्य अलग पदार्थ नहीं है। अतः उसके ग्रहण करनेकेलिए अतिरिक्त 'उपमान' प्रमाण माननेकी भी आवश्यकता नहीं है। यही कारिकाका भावार्थ है। वृत्तिकी पंक्तियोंका अर्थ इस प्रकार हुआ—सादृश्यविषयक मीमांसकमतका खण्डन—

इस [मीमांसक कथित पूर्वपक्षके होने] पर कहते हैं—

[भाव और अभावका] परस्पर विरोध होनेसे अन्य कोई [अनुभयात्मक अर्थात् भाव अभाव दोनोंसे भिन्न] प्रकारान्तर नहीं हो सकता है [अर्थात् अनुभयात्मक रूप कोई पदार्थ नहीं हो सकता है]। 'हि, यतः' क्योंकि परस्पर विरोध होनेसे। [भावका विरोधी अभाव है इसलिए जो भाव नहीं वह अवश्य अभाव है और जो अभाव नहीं वह अवश्य भाव है। अतः अनुभयात्मक कोई पदार्थ बन ही नहीं सकता है]। एकता भी [अर्थात् भावाभावात्मकत्व उभयात्मकत्व] भी नहीं हो सकता है। 'विरुद्धानां' यह हेतुगर्भ विशेषण है परस्पर विरुद्ध रूप होनेसे उनकी एकता अर्थात् उभयात्मकता नहीं हो सकती है। [कारिकाकार] विरोधका ही प्रतिपादन करते हैं—'उक्तिमात्रविरोधतः'। अर्थात् कथनमात्रसे उनका विरोध होनेसे। 'अभाव नहीं है' यह कहते ही भावत्वकी प्रतीति होनेसे अभावरूपता कैसे [होगी]? और 'भाव नहीं' यह कहते ही अभाव प्रतीति होनेसे भाव रूपत्व नहीं [हो सकता] है।

[इसका] यह अभिप्राय हुआ कि—सादृश्य [यदि कोई पदार्थ है तो वह] या तो भाव [रूप] होगा अथवा अभाव रूप। इन दोनों [भाव और अभाव] कोटिसे अतिरिक्त [कोई पदार्थ] प्रसिद्ध [ज्ञात] नहीं है। [इन दोनों कोटियोंमेंसे] अभाव

अभावत्वे सप्तमपदार्थत्वम् । भावत्वे च गुणवत्त्वे द्रव्यत्वम्, निर्गुणत्वे सामान्यवत्त्वे च गुणान्यत्वे कर्मत्वं तदन्यत्वे गुणत्वम् । निर्गुणनिःसामान्यभावत्वे, असमवेतत्वे च समवायत्वं, समवेतत्वे च अनेकाश्रितत्वे सामान्यत्वम्, एकाश्रितत्वे विशेषत्वम् । एवं शक्तिसंख्यादयोऽपि पदार्था निराकार्याः॥

रूप होनेपर [हमारे अर्थात् वैशेषिकादिके स्वीकृत] सप्तम पदार्थ रूप [होगा] भाव रूप होनेपर यदि वह गुणवान् [गुणाश्रय] है तो 'द्रव्य' [में अन्तर्भूत] है। निर्गुण और सामान्यवान होनेपर [निर्गुण और सामान्यवान् दो पदार्थ होते हैं एक 'गुण' और दूसरा 'कर्म'। इन दोनोंमें 'गुण' नहीं रहते हैं और 'सामान्य' रहता है। अत एव] 'गुण'से भिन्न होनेपर 'कर्म' और उस [कर्म] से भिन्न होनेपर 'गुण' है। [गुण तथा सामान्य दोनोंसे रहित] निर्गुण निःसामान्य भाव होनेपर यदि वह 'असमवेत' है [अर्थात् समवाय सम्बन्धसे किसी पदार्थमें नहीं रहता है] तो 'समवाय' [रूप] है। 'समवेत' होकर अनेकाश्रित [अर्थात् अनेकमें समवेत है] होनेपर 'सामान्य' और एकाश्रित [एकमें समवेत] होनेपर 'विशेष' है। [इस प्रकार किसी न किसी पदार्थमें उसका अन्तर्भाव अवश्य हो जायगा। अत एव 'सादृश्य' को अलग अष्टम पदार्थ मानने और उसके ग्रहण करने के लिए 'उपमान'को अलग प्रमाण माननेकी आवश्यकता नहीं है।] इसी प्रकार 'शक्ति' तथा 'संख्या' आदि पदार्थों [की अलग सत्ता] का भी निराकरण करना चाहिए।

वैशेषिक दर्शनमें संख्या तथा पृथक्त्वको २४ गुणोंके अन्तर्गत माना गया है। परन्तु मीमांसक 'शक्ति' तथा 'सादृश्य'के समान 'संख्या' पृथक्त्व आदिको भी गुणोंके अन्तर्गत न मानकर अलग पदार्थ मानते हैं। यहाँ जो संख्याके निराकरणकी बात टीकाकारने लिखी है उसका अभिप्राय संख्याके पदार्थान्तर माननेका निषेध करना है। संख्याका खण्डन करना नहीं है। क्योंकि वैशेषिक आदिमें भी संख्याको माना गया है ॥ ८ ॥

सादृश्यग्रहणार्थ उपमान अनावश्यक—

इसपर मीमांसककी ओरसे फिर शङ्का होती है कि अच्छा 'सादृश्य' अलग पदार्थ न सही। समानधर्मका नाम ही सादृश्य हो इसमें कोई हर्ज नहीं है। परन्तु जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है 'सादृश्य'का ग्रहण प्रत्यक्ष, अनुमान या शब्द प्रमाणमें नहीं हो सकता है, इसलिए उस 'सादृश्य'के ग्रहण करनेके लिए अलग 'उपमान' प्रमाण मानना चाहिए। इसका खण्डन करनेकेलिए यह कारिका लिखी गई है। खण्डनका आशय यह है कि यदि साधर्म्यके ग्रहणके लिए वे अलग प्रमाण मानना चाहते हैं तो फिर वैधर्म्यके ग्रहणके लिए भी अलग प्रमाण मानना चाहिए। मीमांसकका कहना यह था कि 'यथा गौस्तथा गवयः' इस बातको जानकर जङ्गलमें जानेपर गो सदृश प्राणीको देखकर 'अनेन सदृशी मदीया गौः' इस प्राणीके सदृश मेरी घरपर बँधी हुई गाय है। इस प्रकार अप्रत्यक्ष गौमें जो इस प्राणीका सादृश्य

ननु भवतु सादृश्यं समानधर्म एव, तद्ग्राहकमेवोपमानं मानान्तरं स्यादित्यत्राह

साधर्म्यमिव वैधर्म्यं मानमेवं प्रसज्यते ।
अर्थापत्तिरसौ व्यक्तमिति चेत् प्रकृतं न किम् ॥ ९ ॥

अयं गो विसदृश इति ज्ञानानन्तरं सा गौरेतद् विसदृशीति धीः प्रमाणान्तरादेवास्तु । अथैतस्य तद् वैधर्म्यं तस्मिन्नेतद् वैधर्म्यं विनाऽनुपपन्नमित्यर्थापत्तिरेवेति, गोसादृश्यं गवयस्य, गोर्गवयसादृश्यं विनाऽनुपपन्नमित्यर्थापत्तिरेवेति न मानान्तरं सादृश्यग्राहकं मन्तव्यमिति ॥ ६ ॥

प्रतीत होता है वह गौके अप्रत्यक्ष होनेसे प्रत्यक्ष नहीं है। अतः उसके ग्रहणके लिए 'उपमान' प्रमाण मानना चाहिए। खण्डनका आशय यह है कि, इस प्रकार तो यदि उष्ट्रादिका वैधर्म्य अप्रत्यक्ष गायमें प्रतीत होता है तो उसके लिए 'वैधर्म्य' प्रमाण भी मानना होगा। और यदि वैधर्म्यकेलिए अलग प्रमाण न मानकर उसका ग्रहण 'अर्थापत्ति' से मानते हो [जैसा कि मीमांसक मानते हैं] तो सादृश्यका ग्रहण भी उसी 'अर्थापत्ति'से हो सकता है। इसलिए 'उपमान'को अलग प्रमाण माननेकी आवश्यकता नहीं है। पंक्तियोंका अर्थ इस प्रकार है—

अच्छा तो सादृश्य [अलग पदार्थ न होकर] समानधर्म ही सही [परन्तु] उसीका ग्राहक 'उपमान' प्रमाण हो [ना चाहिए]। इस [शङ्काके होने] पर कहते हैं—

इस प्रकार [साधर्म्यके ग्रहणकेलिए उपमानको अलग प्रमाण माननेपर] साधर्म्य [ग्राहक प्रमाण] के समान वैधर्म्य [ग्राहक प्रमाण] भी [मानना] होगा। वह [वैधर्म्य ग्राहक प्रमाण] स्पष्ट रूपसे 'अर्थापत्ति' है यदि यह कहें तो प्रकृत [अर्थात् सादृश्य ग्राहक प्रमाण भी अर्थापत्ति ही] क्यों नहीं मानते।

'यह [उष्ट्रादि, गोविसदृश] गौसे भिन्न प्रकारका है' इस ज्ञानके बाद 'वह [अप्रत्यक्ष] गौ इससे विसदृशी है' यह ज्ञान [भी] अन्य प्रमाणसे होना चाहिए। और यदि इसका वैधर्म्य उसमें इसके वैधर्म्यके बिना नहीं बनता इसलिए [वैधर्म्य ग्राहिका] 'अर्थापत्ति' ही है तो गवयका गो सादृश्य गौके गवयसादृश्यके बिना अनुपपन्न है अतः [सादृश्य ग्राहिका भी] अर्थापत्ति ही है। अतः सादृश्य ग्राहक अलग प्रमाण नहीं मानना चाहिए ॥ ९ ॥

वैशेषिक दर्शनमें उपमानको अलग प्रमाण नहीं माना गया है। उसके विरोधमें मीमांसकने अप्रत्यक्ष गौमें गवयके सादृश्य बोधकेलिए अलग 'उपमान' प्रमाणकी स्थापना की थी। परन्तु नैयायिकने उस सादृश्य पदार्थकी कल्पनाको ही अनावश्यक बतलाकर उसके ग्रहणकेलिए उपमानको अलग प्रमाण माननेको अनुपयुक्त ठहरा दिया है। इस प्रकार मीमांसक द्वारा स्थापित 'उपमान' प्रमाणका खण्डन हो जाने पर फिर वैशेषिक सिद्धान्त आ जाता है और यह सिद्ध हो जाता है कि 'उपमान'

वैशेषिकादिभिरुपमाने दूषिते नैयायिकः प्राह—

सम्बन्धस्य परिच्छेदः संज्ञायाः संज्ञिना सह।
प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वादुपमानफलं विदुः ॥ १० ॥

फलमित्यनन्तरं इतीत्यध्याहार्यम्। संज्ञाया गवयादिसंज्ञायाः, संज्ञिना गवयत्वादिविशिष्टेन सह, सम्बन्धस्य शक्तेः, परिच्छेदः निश्चयः, उपमानस्य मानान्तरस्य, फलमुपमितिः, प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वात् इन्द्रियलिङ्गशब्दानामसामर्थ्यात् ॥ १० ॥

प्रमाण नहीं है। परन्तु नैयायिक भी प्रकारान्तरसे उपमान प्रमाण मानते हैं इसलिए इस कारिकामें सिद्धान्त रूपसे 'उपमान'की स्थापना करते हैं। वात्स्यायन भाष्यमें उपमानका प्रयोजन संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्धकी प्रतीतिको माना है। 'संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थः'। संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्धकी प्रतीति उपमान प्रमाणका प्रयोजन है। उसी सिद्धान्तके अनुसार कारिकाकार यहाँ उपमानकी स्थापना करते हैं—

नैयायिक द्वारा उपमानकी सिद्धि—

वैशेषिक आदिके द्वारा उपमानका खण्डन होने पर नैयायिक कहता है—

[गवय आदि] संज्ञाका, संज्ञी [गवय व्यक्ति] के साथ, सम्बन्ध [शक्तिग्रह अर्थात् वाच्य-वाचक भाव]का ग्रहण प्रत्यक्षादि [अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द] प्रमाणोंसे साध्य न होनेके कारण 'उपमान' [रूप चतुर्थ प्रमाण] का फल माना गया है।

[कारिकामें आए हुए] 'फलं' [इस पद] के बाद 'इति' [पद] का अध्याहार कर लेना चाहिए। संज्ञा अर्थात् गवय आदि संज्ञाका, संज्ञी अर्थात् गवयत्वादि विशिष्टके साथ, सम्बन्ध, अर्थात् शक्तिका परिच्छेद या निश्चय उपमान रूप प्रमाणान्तरका फल अर्थात् 'उपमिति' है। प्रत्यक्षादिसे असाध्य होनेसे। [प्रत्यक्षके करणभूत] इन्द्रिय [अनुमितिके करणभूत] लिङ्ग और [शाब्दबोधके कारणरूप] शब्दकी [संज्ञा संज्ञि सम्बन्धके बोधनमें] असामर्थ्य होनेसे। [उस फलकी सिद्धिकेलिए 'उपमान'को अलग प्रमाण मानना चाहिए। यह न्यायका सिद्धान्त पक्ष है] ॥ १० ॥

इस प्रकार नैयायिक सिद्धान्तमें बिलकुल भिन्न दृष्टिकोणसे उपमानकी स्थापना की गई है। इस सिद्धान्तके और अधिक स्पष्टीकरणकेलिए यह पूर्वपक्ष करते हैं—कि इस संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्धकी प्रतीति तो 'शब्द' तथा 'अनुमान' प्रमाणसे भी हो सकती है। 'गोसदृशो गवयपदवाच्यः' गो सदृश प्राणीको गवय कहते हैं इस वाक्यके द्वारा संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्धकी प्रतीति हो सकती है इसलिए 'शब्द' प्रमाणसे यह कार्य सिद्ध हो सकता है। अथवा 'गवयत्वविशिष्टो धर्मी गवयपदवाच्यः, गोसदृशत्वात्' इस अनुमानसे भी संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्धकी प्रतीति हो सकती है। इसलिए इस 'संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्धकी प्रतीति'केलिए अलग उपमान प्रमाण माननेकी आवश्यकता नहीं है। यह पूर्वपक्ष है इसका खण्डन करके उपमान प्रमाणकी सिद्धि करनेके लिए यह ११वीं कारिका लिखी गई है। उत्तर पक्षका आशय यह है कि गवय पदका

ननु गोसदृशो गवयपदवाच्य इत्यतिदेशवाक्यादेव शक्तिधीरस्तु। गवयत्व-विशिष्टो धर्मी गवयपदवाच्यो गोसदृशत्वादित्यनुमानाद् वास्तु। तत्राह—

साहश्यस्यानिमित्तत्वान्निमित्तस्याप्रतीतितः।
समयो दुर्ग्रहः पूर्वं शब्देनानुमयापि वा॥ ११॥

समयः गवयत्वादिजातिपुरस्कारेण शक्तिरूपः सम्बन्धः। स च दुर्ग्रहः, शब्दादनुमानाद् वा न सम्भवति। गवयत्वस्य तेन पुंसा अगृहीतत्वात्। न च सादृश्यमेव प्रवृत्तिनिमित्ततया गृह्यतां, तस्य गुरुत्वेनाप्रवृत्तिनिमित्तत्वात्॥११॥

ननु प्रथमतो गवयत्वस्याप्रतीतत्वेऽपि यदा गवयत्वं प्रत्यक्षं तदा गोस-

---

'प्रवृत्ति-निमित्त' गवयत्व जाति है गो सादृश्य नहीं। अन्य स्थलोंमें भी जातिको ही 'प्रवृत्ति-निमित्त' माना गया है इसलिए यहां भी गयत्व जाति ही गवय शब्दका प्रवृत्ति-निमित्त है। और जब तक कोई गवयत्वेन रूपेण गवयको नहीं जानता तब तक उसे गवयत्वका ज्ञान है, यह नहीं कहा जा सकता है। इसलिए संज्ञासंज्ञि सम्बन्धकी प्रतीतिसे पूर्व गवय शब्दके 'प्रवृत्ति-निमित्त' गवयत्वका ज्ञान न होनेसे, न शब्दसे, और न अनुमानसे ही शक्तिग्रह हो सकता है। अत एव इस शक्तिग्रह अथवा संज्ञासंज्ञि सम्बन्धके बोधकेलिए उपमान प्रमाण अवश्य मानना होगा। यह नैयायिकका पक्ष है। पंक्तियोंका अर्थ इस प्रकार है—

अच्छा तो 'गोसदृश [व्यक्ति] गवयपद-वाच्य है' इस 'अतिदेश वाक्य' [अन्यके सादृश्यआदि धर्मका अन्यत्र कथन करने वाला वाक्य 'अतिदेश' वाक्य कहलाता है जैसे 'यथा गौस्तथा गवयः' यह वाक्य अतिदेश वाक्य है] से ही शक्तिग्रह हो [सकता है]। अथवा 'गवयत्वविशिष्टो धर्मी गवयपदवाच्यो गोसदृशत्वात्' इस अनुमानसे [शक्तिग्रह] हो [सकता है]। दोनों अवस्थाओंमें संज्ञासंज्ञिसम्बन्धकी प्रतीतिकेलिए अलग प्रमाण माननेकी आवश्यकता नहीं है। इस [पूर्व पक्षके होने] पर कहते हैं—

सादृश्य [गवयनिष्ठ गोसादृश्य] के [गवय पदके प्रयोगमें] प्रवृत्तिनिमित्त न होनेसे [और जो गवयत्व जाति] प्रवृत्तिनिमित्त [है उस] की प्रतीति न होनेसे [उपमान द्वारा शक्तिग्रह होनेके] पहिले 'शब्द' अथवा 'अनुमान'से संकेतग्रह कठिन [असम्भव] है।

'समय' अर्थात् गवयत्वादि जाति द्वारा शक्ति [वाच्य-वाचक-भाव] रूप सम्बन्ध। वह 'दुर्ग्रह' है अर्थात् शब्द अथवा अनुमानसे नहीं हो सकता है। [क्योंकि] उस पुरुषको गवयत्वका ग्रहण नहीं है। [गो] सादृश्यको ही [गवय पदका] 'प्रवृत्तिनिमित्त' मान लिया जाय यह भी नहीं कहना चाहिए क्योंकि उस [सादृश्य] के [जातिकी अपेक्षा] गुरुभूत होनेसे [वह] प्रवृत्तिनिमित्त नहीं हो सकता है॥ ११॥

[इसपर पूर्वपक्षी फिर कहता है] अच्छा तो, पहिलेसे गवयत्वका ज्ञान न होने पर भी जब [जंगलमें जाकर गोसदृश प्राणीको प्रत्यक्ष देखता है] गवयत्वका प्रत्यक्ष

दृशो गवयपदवाच्य इत्यतिदेशवाक्याल्लक्षणया गवयत्वपरात् तेन रूपेण शक्तिधीरस्तु । तत्राह—

श्रुतान्वयादनाकांक्षं न वाक्यं ह्यन्यदिच्छति ।
पदार्थान्वयवैधुर्यात्तदाक्षिप्तेन सङ्गतिः ॥ १२ ॥

गोसादृश्यसामानाधिकरण्येन गवयपदवाच्यत्वविषयकज्ञानजनकतया शब्दस्य गवयत्वादिना शक्तिबोधे नाकांक्षा, अन्वयस्य पर्यवसानात् । यत्र पदार्था एवान्वयविधुराः केनापि रूपेणान्वयायोग्याः तदाक्षिप्तेन तेन लक्षणीयेनार्थेन सङ्गतिरन्वयः । यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ ।

होता है तब 'गोसदृश गवयपद-वाच्य है' इस अतिदेश वाक्य, [जो कि] लक्षणासे गवयत्व बोधक [है] से उस [गवयत्व] रूपसे शक्तिग्रह हो [सकता है]। इसपर कहते हैं—

['यथा गौस्तथा गवयः 'अथवा' गोसदृशो गवयपदवाच्यः' इत्यादि] यथाश्रुत [जैसे पद उस वाक्यमें हैं उनका ज्योंका त्यों] अन्वय हो जानेसे निराकांक्ष [अर्थात् लक्ष्यार्थकी आकांक्षा न रखनेवाला] वाक्य, अन्य [लक्ष्यार्थ आदि] को [अपने अर्थ बोधनके लिए] नहीं चाहता है। [जब यथाश्रुत] पदार्थोंके अन्वयमें बाधा होनेपर उससे आक्षिप्त [लक्ष्यार्थ] के द्वारा सङ्गति होती है।

इसका आशय यह है कि अभी जो पूर्वपक्षीने अतिदेश वाक्यको लक्षणासे गवयत्वपरक बतलाया था सो ठीक नहीं है। क्योंकि जहाँ मुख्यार्थका बाध होता है अर्थात् यथाश्रुत पदार्थोंका अन्वय नहीं बनता है वहाँ ही लक्षणाका अवसर होता है। यहाँ 'गोसदृशो गवयपदवाच्यः' इस वाक्यमें मुख्यार्थबाध नहीं है अत एव इसमें लक्षणा नहीं हो सकती है। इसलिए गवयत्वका ज्ञान न होनेसे शब्द अथवा अनुमानसे शक्तिग्रह नहीं हो सकता है। उसके लिए उपमान प्रमाण मानना आवश्यक है।

[अतिदेश वाक्यमें] गोसादृश्यके सामानाधिकरण्यसे [अर्थात् जिसमें गोसादृश्य है उसमें ही गवयपद वाच्यत्व है इस रूपमें] गवयपद-वाच्यत्व विषयक ज्ञानके जनक होनेसे [अर्थात् यथाश्रुतका अन्वय हो जाने और मुख्यार्थबाध न होनेसे वाक्यमें प्रयुक्त गोसदृशः इस] शब्दकी गवयत्व आदि रूपसे शक्तिबोधमें आकांक्षा नहीं है। क्योंकि अन्वय पूर्ण हो जाता है। जहाँ पदार्थ ही अन्वयहीन हों अर्थात् किसी प्रकार अन्वयके योग्य न हों तब उस आक्षिप्त लक्ष्यार्थसे सङ्गति अर्थात् अन्वय होता है जैसे 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि में।

'गङ्गायां घोषः' इस वाक्यमें 'घोष' पदका मुख्यार्थ 'अहीरों घोसियोंकी बस्ती है'। 'गङ्गायां'में सप्तमीका अर्थ आधारत्व है। और गङ्गापद जलप्रवाहका बोधक है। जलप्रवाहके आधारपर 'घोष' नहीं रह सकता है। इसलिए मुख्यार्थका बाध होनेसे गङ्गा पद लक्षणासे तट अर्थ का बोधक माना जाता है। परन्तु यहाँ गोसदृशो गवय

ननु 'गवयपदं सप्रवृत्तिनिमित्तकं साधुपदत्वात्' इति सामान्यतोदृष्टमनुमानं इतरप्रवृत्तिनिमित्तकत्वबाधे गवयत्वस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वमवगाहतामिति चेन्न । व्यापकतावच्छेदकरूपेणैवानुमितेर्व्यापकविषयत्वात् ।

'गवयपदं गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकम् इतराप्रवृत्तिनिमित्तकत्वे सति सप्रवृ-

---

पद वाच्यः इस वाक्यमें यथाश्रुत पदोंका अन्वय हो जाता है इसलिए मुख्यार्थ बाध न होनेसे लक्षणाका अवसर नहीं है । यह अभिप्राय है ।

यहाँ तक यह दिखलाया गया है कि शब्द प्रमाणसे संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्धका ग्रहण नहीं हो सकता है । अन्य स्थलोंपर—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषात् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥

इत्यादि वचनोंमें 'आप्त वाक्य' अर्थात् शब्द प्रमाणको भी शक्तिग्राहक माना गया है । यहाँ शब्द प्रमाणसे शक्तिग्रहके खण्डन करनेका, अभिप्राय 'यथा गौस्तथा गवयः' अथवा 'गोसदृशो गवयपदवाच्यः' इत्यादि वाक्यों द्वारा शक्तिग्रहका निषेध करना है । क्योंकि उनसे गवय शब्दके प्रवृत्तिनिमित्त अर्थात् 'गवयत्व'का अभिधा शक्तिसे ज्ञान नहीं होता है । और यथाश्रुत पदोंका अन्वय हो जानेसे लक्षणाका अवसर नहीं रहता है । इस लिए ऐसे स्थलमें शब्द प्रमाणसे शक्तिग्रह सम्भव नहीं है । यह नैयायिकका अभिप्राय है ।

अनुमानद्वारा शक्तिग्रहंका खण्डन—

इस प्रकार प्रकृत स्थल विशेषमें शब्द प्रमाण द्वारा शक्तिग्रहका खण्डन कर चुकनेके बाद अनुमान द्वारा शक्तिग्रहका खण्डन करनेकेलिए दुबारा वह पूर्वपक्ष उठाते हैं कि शब्दसे न सही अनुमान प्रमाणसे शक्तिग्रह हो जावेगा । उस दशामें भी संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्धकी प्रतीतिके लिए अलग उपमान प्रमाण माननेकी आवश्यकता नहीं होगी। इसी पक्षको उठाकर आगे उसका खण्डन करते हैं—

अच्छा तो 'गवयपद साधुपद होनेसे सप्रवृत्तिनिमित्तक है' इस सामान्यतोदृष्ट अनुमान, अन्योंके प्रवृत्तिनिमित्तत्वका बाध हो जानेसे गवयत्वके प्रवृत्तिनिमित्तत्वका बोधक हो [सकता है] । यदि यह कहना चाहें तो ठीक नहीं है । क्योंकि [अनुमानमें] व्यापकतावच्छेदक रूपसे ही व्यापक विषयक अनुमिति होती है । [यहाँ 'साधुपदत्वात्' यह हेतु अर्थात् व्याप्य है और 'सप्रवृत्तिनिमित्तम्' यह साध्य अर्थात् व्यापक है । इसलिए 'सप्रवृत्तिनिमित्तकत्व' धर्म 'व्यापकतावच्छेदक धर्म' होगा । गवयत्व व्यापकतावच्छेदक धर्म नहीं है] इसलिए व्यापकतावच्छेदक रूप अर्थात् 'सप्रवृत्तिनिमित्तकत्व' रूपसे ही अनुमिति हो सकती है 'गवयत्व' रूपसे नहीं ।

इसपर पूर्वपक्षी दूसरा अनुमान प्रस्तुत करता है ।] गवय पद गवयत्व प्रवृत्ति निमित्तक है [अर्थात् गवय पदका प्रवृत्तिनिमित्त गवयत्व है, यह साध्य है] अन्य [किसी] के प्रवृत्ति निमित्तकत्व [सम्भव] न होने और [गवय पदके] सप्रवृत्तिनिमित्त होनेसे । [इस अनुमान द्वारा गवय पदके प्रवृत्तिनिमित्त 'गवयत्व'का ज्ञान हो सकता है और अनुमानसे ही शक्तिग्रह हो जायगा । अतः 'उपमान'की आवश्यकता नहीं होगी । यह

त्तिनिमित्तकत्वात्' इति व्यतिरेकि च साध्याप्रसिद्ध्या न सम्भवति। व्यतिरेकव्याप्त्यप्रतिसन्धानेऽपि गवयत्वाश्रयो गवयपदवाच्य इति धियोऽनुभवसिद्धत्वाच्च, उपमानं प्रमाणान्तरम्।

एवं 'धिक्करभमतिदीर्घग्रीवमतिकठोरकण्टकाशिनमपसदं पशूनां' इत्यादि वाक्यार्थज्ञानानन्तरं तादृशपिण्डदर्शने करभपदवाच्यताग्रहोऽप्युपमानादेवेति।

उपमानन्तु शक्तिमात्रपरिच्छेदकतया नेश्वरे बाधकमिति भावः॥ १२॥

पूर्वपक्षका आशय है। उसका खण्डन करते हैं—] यह व्यतिरेकी [अनुमान] साध्याप्रसिद्धिसे सम्भव नहीं है। [इस अनुमानमें 'गवयत्व प्रवृत्तिनिमित्तकं' साध्य है। इस गवयत्वका ज्ञान तो अभी है ही नहीं है इसलिए साध्यके अप्रसिद्ध होनेसे अनुमान नहीं हो सकता है। इसके अतिरिक्त] व्यतिरेक व्याप्तिके बिना भी गवयत्वाश्रय गवयपद वाच्य होता है यह ज्ञान अनुभवसिद्ध होनेसे उपमान अलग प्रमाण [मानना आवश्यक] है।

इसी प्रकार 'अत्यन्त दीर्घ गर्दन वाले, अति कठोर कांटोंको खानेवाले' पशुओंमें नीच [ऊँट] को धिक्कार है।' इस वाक्यके अर्थ ज्ञानके अनन्तर उस प्रकारके [लम्बी गर्दन और कठोर बबूल आदिके कांटे खानेवाले] पिण्डको देख कर [उसमें] 'करभ' अर्थात् ऊँट पदकी वाच्यता अर्थात् यही ऊँट कहलाता है। इस प्रकार] का ग्रहण भी उपमान प्रमाणसे ही होता है।

इस प्रकार नैयायिकने अपनी दृष्टिसे उपमान प्रमाणकी सिद्ध की। उपमान प्रमाणके सिद्ध हो जानेपर फिर मूल पूर्वपक्ष सामने आ जाता है कि उपमान प्रमाण ईश्वरमें बाधक होगा। इसका समाधान नैयायिक यह करते हैं कि उपमान प्रमाणका कार्य केवल संज्ञासंज्ञि सम्बन्धकी प्रतीति कराना है। अन्य किसी वस्तुका साधन या बाधन उसका कार्य नहीं है। अत एव वह ईश्वरका बाधक नहीं हो सकता है। यही समाधान अगली एक पंक्तिमें किया है।

उपमान तो केवल शक्ति [वाच्यवाचक-भाव] मात्रका ग्राहक होनेसे ईश्वर [की सिद्धि] में बाधक नहीं [हो सकता] है। यह अभिप्राय है॥ १२॥

शब्दप्रमाणकी ईश्वरबाधकताका खण्डन—

उपमान प्रमाणके बाद अब शब्द प्रमाणको लेते हैं। शब्द प्रमाणके विषयमें भी वही स्थिति है। वैशेषिक दर्शनमें 'शब्द'को अलग प्रमाण नहीं माना गया है अपितु उसका अन्तर्भाव अनुमानमें ही कर लिया गया है। शब्दका अन्तर्भाव अनुमानमें करते हुए प्रशस्तपाद भाष्यमें एक ही हेतु दिया गया है 'समानविधित्वात्'। उसका आशय यह है कि अनुमान और शब्दकी विधि समान है इसलिए वह अनुमानसे अलग नहीं है। अनुमान और शब्दकी विधिमें समानता यह है कि अनुमानमें १ व्याप्तिग्रह, २ लिङ्ग दर्शन, ३ व्याप्ति स्मृति और उसके बाद ४ अनुमिति होती है। इसी प्रकार शब्दमें १ शक्तिग्रह, २ वाक्यश्रवण, ३ पदार्थ स्मृति और उसके बाद

शब्दस्तु नेश्वरे बाधकत्वेन शङ्कनीयः। अनुमानानतिरेकादिति वैशेषिकाः। पदश्रवणानन्तरं 'एते पदार्थाः परस्परं संसर्गवन्तः, आकांक्षायोग्यतासन्निधिमत्पदस्मारितत्वात् दण्डेन गामभ्याज इति पदस्मारितपदार्थवत्'। इत्यनुमानात् संसर्गप्रसिद्धेः।

वाक्यार्थ बोध होता है। इस प्रकार समानविधि होनेके कारण ही प्रशस्तपाद भाष्यमें शब्दको अनुमानके अन्तर्गत माना है।

यहाँ ग्रन्थकारने पूर्वपक्षमें शब्द प्रमाणका खण्डन करनेके लिए उससे भिन्न दूसरे प्रकारके युक्तिक्रमका अवलम्बन किया है। उसके अनुसार शब्द प्रमाणका जो फल पदार्थ संसर्गबोध रूप शाब्द बोध है वह अनुमान प्रमाणसे भी सिद्ध हो सकता है इसलिए शब्द प्रमाणको अलग माननेकी आवश्यकता नहीं है यह उनका युक्तिक्रम है। शब्द प्रमाणको माननेवाले, पदार्थोंके 'संसर्गबोध'को ही 'वाक्यार्थ' मानते हैं। उस संसर्गका बोध अनुमान द्वारा हो सकता है इसके दिखलानेकेलिए पूर्वपक्षीने दो अनुमान प्रस्तुत किए हैं। इनमेंसे एक अनुमानमें पदको 'पक्ष' बनाया है और दूसरेमें पदार्थको। पदार्थको पक्ष मानकर 'एते पदार्थाः परस्परं संसर्गवन्तः आकांक्षायोग्यतासत्तिमत्पदस्मारितत्वात्', इस अनुमानसे, और पदको पक्ष मानकर 'एतानि पदानि स्वस्मारित-पदार्थसंसर्गप्रमापूर्वकाणि आकांक्षादिमत्पदत्वात्' इस प्रकारके अनुमानसे संसर्गकी अनुमिति हो सकती है। इस लिए शब्दको अलग प्रमाण माननेकी आवश्यकता नहीं है। इस पूर्वपक्षको टीकाकारने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

अनुमानसे अतिरिक्त [अलग प्रमाण] न होनेके कारण शब्दको ईश्वरका बाधक नहीं समझना चाहिए ऐसा वैशेषिकों [वैशेषिक दर्शनके आचार्यों] का मत है। क्योंकि [शब्द प्रमाणका फल अर्थात् पदार्थ संसर्ग बोध] पदोंके श्रवणके अनन्तर (१) 'यह पदार्थ; आकांक्षा, योग्यता और आसत्तियुक्त पदोंसे स्मारित होनेके कारण परस्पर संसर्गवाले हैं जैसे डंडेसे गायको हटाओ इन पदोंसे स्मारित पदार्थ [परस्पर संसर्ग युक्त हैं]' इस अनुमानसे [वाक्यार्थ रूप पदार्थ] संसर्गकी सिद्धि होनेसे [शब्दको अलग प्रमाण माननेकी आवश्यकता नहीं है]। अथवा (२) 'यह पद अपने द्वारा स्मारित पदार्थोंके संसर्ग ज्ञानपूर्वक [उच्चारण किए गए] हैं, आकांक्षादि युक्त पद होनेसे इस अनुमानसे उस [संसर्ग] के सिद्ध हो जानेसे [शब्दको अलग माननेकी आवश्यकता नहीं है]। [यहाँ प्रश्न यह हो सकता है कि इस अनुमानसे तो यह सिद्ध होता है कि इन पदोंके बोलनेवालेको उनके पदार्थोंके संसर्गका यथार्थ ज्ञान रहा होगा अर्थात् यह 'संसर्ग'का नहीं अपितु 'संसर्ग ज्ञान'का ज्ञान है। अनुमानसे 'संसर्ग'की नहीं अपितु 'संसर्गज्ञान'की सिद्धि हो सकती है। इसका समाधान अगली पंक्तिमें यह किया है कि ज्ञानका जो विषय है वह उस ज्ञानके ज्ञानका भी विषय होता है। अत एव यहाँ संसर्ग-ज्ञानका विषय जो संसर्ग है वह भी संसर्ग-ज्ञानके ज्ञानका भी विषय होगा।

किंवा 'एतानि पदानि स्मारितपदार्थसंसर्गप्रमापूर्वकाणि आकांक्षादिमत्पदत्वात्' इत्यनुमात् तत्प्रसिद्धेः। ज्ञानज्ञानस्य तद्विषयविषयकत्वनियमात् इत्यत्राह–

अनैकान्तः परिच्छेदे सम्भवे च न निर्णयः।
आकांक्षा सत्तया हेतुर्योग्यासत्तिरबन्धना ॥ १३ ॥

अर्थात् अनुमानसे जो 'संसर्गज्ञान' सिद्ध होता उस संसर्ग ज्ञानका विषय 'संसर्ग' भी अनुमानसे सिद्ध होता है। इस प्रकार अनुमानसे पदार्थसंसर्ग रूप वाक्यार्थके सिद्ध हो जानेसे शब्द प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है।] ज्ञानके ज्ञानमें उसका [प्रथम ज्ञानका] विषय भी [द्वितीय ज्ञानका] विषय होता है यह नियम होनेसे। [संसर्गज्ञान विषयक अनुमानसे संसर्गकी भी सिद्धि हो जाती है। अतः शब्द प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है यह वैशेषिकादिका पूर्व पक्ष हुआ] इसके समाधानके लिए कहते हैं—

[अनुमान द्वारा संसर्गका] परिच्छेद, निश्चय करनेपर अनैकान्तिकत्व होगा और केवल सम्भावना मात्र [सिद्ध करने] से निर्णय नहीं होता। आकांक्षा स्वरूपसतरूपमें [शाब्द बोधका] हेतु होती है [अतः अनुमान नहीं हो सकता] और केवल योग्यता-सहित आसत्ति व्याप्ति शून्य है [अतः अनुमापक नहीं हो सकती है]।

इस कारिकामें जो समाधान किया गया है उसका आशय यह है कि पहिले पदार्थ पक्षक अनुमानमें 'एते पदार्थाः परस्परं संसर्गवन्तः' यह पदार्थ परस्पर संसर्ग युक्त हैं। यह जो सिद्ध किया जा रहा है वहां यदि केवल संसर्गकी सम्भावना मात्र, अर्थात् 'उनका संसर्ग हो सकता है' यह सिद्ध कर रहे हैं तब तो संसर्गका निश्चय नहीं हुआ। संसर्ग हो सकता है इतनी बात ही सिद्ध हुई, 'संसर्ग है' ही यह बात नहीं आई। इसलिए संसर्गका निर्णय नहीं हुआ। और यदि संसर्गका निश्चय इससे सूचित होता है तो 'पयसा सिञ्चति' इत्यादिमें इसका व्यभिचार होगा। पयस् शब्दके दो अर्थ होते हैं। एक जल ओर दूसरा दूध। कहीं जलसे और कहीं दूधसे, सिञ्चन भी दोनोंसे हो सकता है। इसलिए 'पयसा सिञ्चति' इन पदोंमें योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति सब है अत एव इन पदार्थोंमें परस्पर 'सम्बन्ध अवश्य है' यह सिद्ध होता है। परन्तु जहाँ 'पयसा' शब्द जलके अभिप्रायसे बोला गया है वहाँ जलका तो सिञ्चनके साथ संसर्ग वक्ता की बुद्धिमें है, दूधका नहीं। परन्तु आपके 'योग्यता-आकांक्षा-आसत्तिमत्पदस्मारितत्वात्' हेतुके अनुसार 'दूधके साथ भी उसका संसर्ग अवश्य होना चाहिए। जो कि है नहीं। इसलिए 'परिच्छेद' अर्थात् 'सम्बन्धके अवश्यंभाव' पक्षमें यह हेतु अनैकान्तिक है। और सम्बन्धके सम्भावना पक्षमें सम्बन्धका निर्णय नहीं होता है। इसलिए संसर्गकी सिद्धि अनुमानसे नहीं हो सकती है। यह कारिकाके पूर्वार्द्धका भाव है। टीकाकारने उसे इस प्रकार लिखा है—

यहाँ [पदपक्षक और पदार्थपक्षक उपर्युक्त दोनों अनुमानोंमेंसे] पदार्थपक्षक अनुमानमें [पदार्थ अवश्य] 'संसृष्ट ही हैं' इस रूपमें संसर्गवत्व सिद्ध कर रहे हैं या

अत्र पदार्थपक्षकानुमाने संसृष्टा एवैति संसर्गवत्त्वं साध्यते, सम्भावित संसर्गका इति संसर्गस्वरूपयोग्यत्वं वा। आद्ये 'पयसा सिंचति' इत्यादावनैकान्तः, द्वितीये न संसर्गनिर्णयः। अन्वयप्रयोजकरूपवत्त्वरूपयोग्यताया हेतुविशेषणीकृतत्वेन सिद्धसाधनाच्च।

द्वितीये, प्रयोगे 'आकांक्षा सत्तया' इति। आकांक्षा हि समभिव्याहृतपद-

---

सम्भावित [पदार्थों] संसर्ग हैं इस प्रकार संसर्गकी [सम्भावना या] स्वरूप योग्यता सिद्ध कर रहे हैं। पहिले [परिच्छेद या निश्चय, अर्थात् 'अवश्यं संसृष्टाः' इस] पक्षमें [वक्ताकी बुद्धिमें पय शब्दके जल और दूध दोनों अर्थोंमेंसे किसी एक ही अर्थके साथ सिञ्चतिका सम्बन्ध होने पर दूसरे अर्थके साथ सम्बन्ध न होनेके कारण] 'पयसा सिञ्चति' इत्यादिमें ['एते पदार्थाः परस्परं संसर्गवन्त एव योग्यता-आकांक्षा-आसत्तिमत्पदस्मारितत्वात्' इस अनुमानमें प्रयुक्त हेतु] अनैकान्तिक [सव्यभिचार] है। और दूसरे पक्ष [अर्थात् 'सम्भावितसंसर्गाः'] में संसर्गका निर्णय नहीं होता है। [इसलिए अनुमानसे पदार्थ संसर्ग रूप वाक्यार्थ बोध न होनेसे शब्दको अलग प्रमाण मानना ही होगा। इसके अतिरिक्त इस दूसरे अर्थात् 'सम्भावितसंसर्गाः' इस पक्षमें संसर्ग स्वरूपयोग्यत्व ही साध्य है और हेतुमें पठित 'योग्यता' शब्दका अर्थ भी यही है। अतः] 'अन्वयप्रयोजकरूपवत्व' रूप 'योग्यता'के हेतुका विशेषण होनेके कारण सिद्धसाधन होनेसे भी। [अनुमानसे संसर्गका बोध नहीं हो सकता है अतः शब्द प्रमाण मानना चाहिए]।

यह इस कारिकाके पूर्वार्द्धकी व्याख्या हुई। उसके उत्तरार्द्धकी व्याख्या आगे करते हैं। उसका सारांश निम्न प्रकार है—

दूसरे अनुमान अर्थात् पद पक्षक 'एतानि पदानि स्वस्मारितपदार्थसंसर्गप्रमापूर्वकाणि आकांक्षादिमत्पदत्वात्' इस अनुमानमें दोष यह है कि अनुमानमें लिङ्गके ज्ञानका ही उपयोग होता है क्योंकि लिङ्ग ज्ञानसे ही अनुमान होता है। इसलिए अनुमानमें हेतु रूप आकांक्षा 'ज्ञातसती' ही उपयोगिनी है। परन्तु शाब्दबोध स्थलमें आकांक्षाके ज्ञानकी नहीं केवल उसकी 'सत्ता'की आवश्यकता है। अर्थात् अनुमानमें 'ज्ञातसती' और शाब्द बोधमें 'स्वरूपसती' आकांक्षा उपयोगिनी होती है। 'ज्ञातसती' का भाव यह है कि आकांक्षाके उस समय विद्यमान न रहने पर भी केवल उसके ज्ञान मात्रसे अनुमानका काम चल सकता है। परन्तु शाब्दमें अविद्यमान आकांक्षासे काम नहीं चलेगा वहाँ आकांक्षा 'सत्तया' अर्थात् विद्यमान रूपसे हेतु होती है। इसलिए इस अनुमानके द्वारा भी संसर्गकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। अतएव शब्द प्रमाण मानना ही होगा। यही बात कारिकाके तृतीय चरणमें कही है पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार है—

दूसरे अनुमानमें [दोष यह है कि शाब्द बोधमें] आकांक्षा 'स्वरूप सती' हेतु होती है। ['ज्ञातसती' नहीं, और अनुमानके लिए आकांक्षाका ज्ञान आवश्यक है सत्ता नहीं]।

स्मारितपदार्थजिज्ञासा। घटमित्युक्ते आनय पश्येति। आनय इत्युक्ते घटं पटं वेति जिज्ञासादयः।

ननु योग्यतासहिता आसत्तिरेव हेतुरस्तु तत्राह—'योग्यासत्तिरबन्धना' इति। 'अबन्धना' व्याप्तिशून्या। 'अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' इत्यत्र निराकाङ्क्षयो राजपदपुरुषपदयोर्व्यभिचारात्॥ १३॥

प्राभाकरास्तु वेदस्यापौरुषेयतया तत्र वक्तृज्ञानानुमानासम्भवात् शब्दः प्रमाणम्। लोके तु, आप्तोक्तत्वज्ञानमपेक्षितं, तथा च 'अयं वक्ता स्वप्रयुक्त-

---

समीपस्थ पदसे स्मारित पदार्थकी जिज्ञासा रूप 'आकांक्षा' है। जैसे घट यह कहनेपर 'आनय, पश्य' लाओ या देखो आदि [क्रिया पदोंकी] की जिज्ञासा होती है अथवा 'आनय' कहनेपर 'घटं, पटं' आदि [कर्म पद] की जिज्ञासा होती है। [शाब्द बोधमें इस आकांक्षाकी सत्ता अपेक्षित है उसका ज्ञान हो या न हो। और अनुमानमें इस अकांक्षाका 'ज्ञान' हेतु है। उसकी सत्ता उस समय हो या न हो इसलिए शब्द और अनुमानमें बहुत भेद है। अतः अनुमानसे शब्दका कार्य नहीं चल सकता है।]

इसपर पूर्व पक्षी फिर कहता है कि यदि आकांक्षा हेतुके कारण यह गड़बड़ पड़ती तो उसको निकालकर केवल योग्यता और आसत्तिको हेतु बनावेंगे। इसका उत्तर कारिकाके चौथे चरण 'योग्यासत्तिरबन्धना' व्याप्तिशून्यामें दिया गया है। उसका अभिप्राय यह है कि योग्यासत्तिकी संसर्गके साथ व्याप्ति नहीं है। जहाँ जहाँ योग्यता और आसत्ति हों वहाँ वहाँ संसर्ग हो यह आवश्यक नहीं है जैसे 'अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' यह एक वाक्य है इसमें 'राज्ञः' पदका अन्वय 'पुत्र' और 'पुरुषः' दोनोंके साथ हो सकता है। उसकी 'योग्यता' और 'आसत्ति' दोनोंके साथ है। परन्तु वक्ताने उसका सम्बन्ध किसी एक हीके साथ रखकर उसको बोला है। अतएव दूसरे अर्थके साथ उसका संसर्ग नहीं है। इसलिए दूसरे अर्थके साथ 'योग्यता' और 'आसत्ति' रहनेपर भी संसर्गका अभाव होनेसे 'योग्यासत्ति'की संसर्गके साथ व्याप्ति नहीं है। अतः वह हेतु भी संसर्गका अनुमापक नहीं हो सकता है। यही बात कारिकाके चतुर्थ चरणमें कही है—

अच्छा तो योग्यता सहित आसत्ति ही हेतु हो इसपर कहते हैं—'योग्यासत्तिः' 'अबन्धना' अर्थात् व्यप्तिशून्या है। 'अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' इस वाक्यमें निराकांक्ष राज पद और पुरुष पदमें [योग्यता और आसत्ति होते हुए भी संसर्ग न होनेके कारण] व्यभिचार होनेसे ['योग्यासत्ति'को हेतु बनाकर, अनुमान द्वारा पदार्थ-संसर्गको सिद्ध नहीं किया जा सकता है]॥ १३॥

प्रभाकर मत—

[दूसरे मीमांसक आचार्य] प्रभाकरके अनुयायी [शालिकनाथ आदि] यह कहते हैं कि वेदके अपौरुषेय होनेसे उसमें वक्ताके ज्ञानका सम्भव न होनेसे [वैदिक वाक्य तो] शब्द प्रमाण हैं। परन्तु लोकमें तो [लौकिक वाक्यके प्रामाण्यके लिए] आप्तोक्तत्व

वाक्यार्थयथार्थज्ञानवान् भ्रमाद्यजन्यवाक्यार्थज्ञानजन्यवाक्यप्रयोक्तृत्वात्' इत्यनुमानाद् वक्तृज्ञानावच्छेदकतया, उत्तरकालं वा 'एते पदार्थाः परस्परं संसृष्टाः वक्तृयथार्थज्ञानविषयत्वात्' इत्यनुमानात् साक्षाद् वाक्यार्थसिद्धेः, क्लृप्तसामर्थ्यात् शब्दात् पुनरन्वयधीरित्यनुवादको लौकिकः शब्दो न प्रमाणमिति प्राहुः । तत्राह—

निर्णीतशक्तेर्वाक्याद्धि प्रागेवार्थस्य निर्णये ।
व्याप्तिस्मृतिविलम्बेन लिङ्गस्यैवानुवादिता ॥ १४ ॥

वेदेऽवधारितसामर्थ्याच्छब्दाल्लोकस्थलेऽपि प्रागर्थनिर्णये लिङ्गस्यैवानु-

---

निश्चय आवश्यक है। इसलिए 'यह वक्ता अपने प्रयुक्त किए हुए वाक्यके अर्थका यथार्थ ज्ञान रखता है, भ्रमादिरहित वाक्यार्थ ज्ञानसे जन्य वाक्यका प्रयोक्ता होनेसे' इस अनुमानसे वक्ताके ज्ञानके अवच्छेदक रूपमें, अथवा उसके बाद 'ये पदार्थ परस्पर संसर्गयुक्त हैं वक्ताके यथार्थ ज्ञानका विषय होनेसे' इस [दूसरे] अनुमानसे साक्षात् वाक्यार्थ [रूप संसर्ग] की सिद्धि [शाब्दबोधके पूर्व ही हो] हो जानेसे [अर्थ बोधनके] सामर्थ्यसे युक्त शब्द द्वारा [भी] फिर संसर्ग बोध होनेसे [दुबारा संसर्ग बोध करने वाला] शब्द [लौकिक शब्द प्रमाण] अनुवादक है प्रमाण नहीं। इस [पूर्वपक्षके होने] पर [उसका खण्डन करनेके लिए] कहते हैं—

प्राभाकरके इस पूर्वपक्षका अभिप्राय यह है कि वैदिक वाक्य तो प्रमाण है। क्योंकि वेदोंके अपौरुषेय होनेसे उनका कोई वक्ता नहीं है। परन्तु लौकिक वाक्योंके वक्ता होनेसे और वक्ताके प्रामाण्यपर ही वाक्यका प्रामाण्य निर्भर होनेसे उनमें उपयुक्त अनुमानसे पहिले संसर्ग बोध हो जाता है और पीछे शब्द विधिसे भी संसर्ग बोध होता है अतः लौकिक वाक्य अनुवादक मात्र हैं प्रमाण नहीं। इसका उत्तर इस कारिकामें यह दिया गया है कि शब्दकी शक्तिका निर्णय वैदिक वाक्योंमें ही हो चुका है कि वे संसर्गका बोध करा सकते हैं। अतः वैदिकवाक्योंमें जिनकी संसर्ग बोधकी शक्तिका निर्णय हो चुका है, उसी प्रकारके लौकिक वाक्यमें भी अनुमानकी अपेक्षा पहिले ही शाब्दबोधकी प्रक्रिया द्वारा संसर्गका निर्णय हो जानेसे अनुमानका ही अनुवादकत्व मानना चाहिए क्योंकि उससे संसर्ग बोधमें व्याप्तिस्मृतिके कारण विलम्ब होनेसे शब्दके द्वारा पहिले संसर्ग निर्णय हो जाता है। इसी बातको आगे कारिकामें कहते हैं—

वेदमें [जिसका संसर्ग बोधका सामर्थ्य निश्चित हो चुका है ऐसे] गृहीत सामर्थ्यवाले शब्द [रूप वाक्य] से लोक स्थल [लौकिक वाक्य] में भी [अनुमानके] पूर्व [ही] अर्थ [पदार्थ संसर्ग रूप वाक्यार्थ] के निर्णय होने पर [उसके बाद दुबारा संसर्ग बोध कराने वाले] अनुमानका ही 'अनुवादकत्व' [मानना उचित] है। व्याप्ति

वादकत्वम् । व्याप्तिस्मृतिविलम्बेनानुमानस्य शब्दापेक्षया विलम्बितधी-जनकत्वात् । ॥ १४ ॥

नन्वाप्तोक्तत्वस्य संशये व्यतिरेके च शाब्दज्ञानानुत्पत्त्या निर्णयो हेतुर्वाच्यः । आप्तोक्तत्वं च प्रकृतवाक्यार्थगोचर यथार्थधीजन्यत्वमिति वाक्यार्थधीः प्रथमतोऽनुमानादेव वाच्या । तत्राह—

व्यस्तपुंदूषणाशंकैः स्मारितत्वात् पदैरमी ।
अन्विता इति निर्णीते वेदस्यापि न तत्कुतः ॥१५॥

स्मृतिमें विलम्ब लगनेसे अनुमान, शब्दकी अपेक्षा विलम्बसे [संसर्ग] बोधका जनक होनेसे [शब्द को प्रमाण मानना ही उचित होगा] ॥ १४ ॥

वेदमें [अर्थात् वैदिक वाक्यस्थलमें] जिनके संसर्गबोधके सामर्थ्यबोधका निर्णय हो चुका है इस प्रकारके शब्द द्वारा लोक [अर्थात् लौकिक वाक्यस्थल] में भी [शब्दके द्वारा] पहले ही अर्थ [पदार्थसंसर्ग] का निर्णय हो जानेपर [लिङ्ग] अनुमानका ही अनुवादकत्व [उचित] है । क्योंकि व्याप्ति स्मृतिमें विलम्ब हो जानेसे शब्दकी अपेक्षा अनुमान द्वारा ज्ञान बादको होगा ।

[इसपर फिर पूर्वपक्षी 'प्राभाकर' कहते हैं कि—लौकिक वाक्यमें] आप्तोक्तत्वका संशय अथवा [व्यतिरेक] अभाव होनेपर शाब्दबोध न होनेसे [आप्तोक्तत्वके] निर्णयको [शाब्दबोधका] कारण कहना पड़ेगा। आप्तोक्तत्व [का अर्थ] प्रस्तुत वाक्यार्थ विषयक यथार्थज्ञान-जन्यत्व [ही] है । इसलिए वक्ताके ज्ञानमें अवच्छेदक रूपसे [संसर्ग रूप] वाक्यार्थका ज्ञान पहिले अनुमानसे ही मानना होगा । [शाब्दबोधकी प्रक्रियासे बादको होगा अतः लौकिक वाक्यानुवादक ही है] इस [प्रत्यक्षके प्राप्त होने] पर कहते हैं—

यदि लौकिक वाक्यमें आप्तोक्त निश्चय अपेक्षित है तो वैदिक वाक्योंमें अपौरुषेयत्व निश्चय अपेक्षित है इसलिए वैदिक वाक्योंमें भी अनुमान द्वारा संसर्गका निर्णय हो सकता है उस दशामें वैदिक वाक्यमें भी 'अनुवादकत्व' मानना होगा यही इस कारिकाका भाव है । शब्दार्थ इस प्रकार है—

[अमी] ये वैदिक पदार्थ [अपौरुषेय अत एव] पुरुष दोष [भ्रम प्रमाद विप्रलिप्सा आदि] की शङ्कासे रहित [अपौरुषेय वैदिक] पदोंसे स्मारित होनेके कारण [अन्वित] परस्पर संसर्गयुक्त हैं [इस प्रकार अनुमान द्वारा संसर्गका निर्णय प्रथम हो जानेसे उसके बाद वाक्यार्थ विधिसे संसर्गका निर्णय होनेसे वैदिक वाक्योंमें भी] वह 'अनुवादकत्व' क्यों नहीं [मानते] ?

यह तो प्रतिबन्धी उत्तर हुआ वास्तवमें तो शाब्दबोधके लिए आप्तोक्त्व निश्चयकी आवश्यकता नहीं है । उसकी उपयोगिता प्रामाण्य निश्चयमें है । अयोग्य अर्थात् अनाप्तोक्त वाक्यमें यदि शाब्दबोधमें विलम्ब होता है तो उसका कारण

आप्तोक्तत्वनिश्चयस्य हेतुत्वे मानाभावः। बाधकप्रमाविरहरूपयोग्यताज्ञानविलम्बादेव अयोग्येऽन्वयधीविलम्बसम्भवात्। अन्यथा वेदेऽपि अपौरुषेयत्वधीहेतुरस्तु।, तथा च तत्रापि 'अमी वैदिका अर्था अन्विताः परस्परं संसृष्टाः, व्यस्तपुंदूषणाशंकैः पदैः स्मारितत्वात्', इत्यनुमानात् संसर्गे निर्णीते 'तत्' अनुवादकत्वं वेदस्यापि 'न कुतः'।

बाधक ज्ञानका अभाव रूप योग्यताके ज्ञानमें होनेवाला विलम्ब है। अन्यथा वैदिक वाक्योंमें भी पूर्वोक्त प्रकारसे अनुवादकत्व मानना होगा।

[लौकिक वाक्यमें भी शाब्दबोधकेलिए] आप्तोक्तत्व निश्चयके कारणत्व [मानने] में कोई प्रमाण नहीं है। बाधक ज्ञानके अभाव स्वरूप योग्यताके ज्ञानमें विलम्ब होनेके कारण ही [अयोग्य] अनाप्तोक्त [वाक्य] के संसर्ग बोधमें बिलम्ब सम्भव होनेसे [आप्तोक्तत्व निश्चयको कारण माननेमें कोई प्रमाण नहीं है]। अन्यथा [लौकिक वाक्यमें आप्तोक्तत्व—निश्चयके समान ही वैदिक वाक्यमें अपौरुषेयत्व—निश्चयको कारण मानना होगा और उस दशामें] ये वैदिक पदार्थ [वैदिक वाक्यके अपौरुषेय होनेसे] पुरुष दोष [भ्रम प्रमाद विप्रलिप्सा आदि] की शङ्कासे रहित [वैदिक] पदोंसे स्मारित होनेके कारण अन्वित अर्थात् परस्पर संसर्ग युक्त हैं। इस अनुमानसे [वैदिक वाक्योंमें भी पहिले अनुमानके द्वारा ही] संसर्गका निर्णय हो जानेपर [बादमें वाक्य-मर्यादासे संसर्गबोध होनेके कारण] वह 'अनुवादकत्व' वेद [वैदिक वाक्य] का भी क्यों नहीं [होगा। अर्थात् विनिगमकके अभावमें लौकिक वाक्यके समान वैदिक वाक्यको भी अनुवादक ही मानना होगा। अन्यथा फिर वैदिक वाक्यको प्रमाण माननेपर लौकिक शब्दको भी प्रमाण मानना होगा। वैदिक वाक्यको शब्द 'प्रमाण' माना जाय और लौकिक वाक्यको 'अनुवादक' यह 'अर्धजरतीयन्याय' उचित नहीं है यह अभिप्राय हुआ]।

शाब्दबोधमें पदज्ञानकी करणता—

न्याय, और मीकांसकोंमें 'प्राभाकर', शाब्दबोधका करण पदज्ञानको मानते हैं परन्तु दूसरे मीमांसक आचार्य 'कुमारिल भट्ट' 'पदज्ञान' को करण न मानकर 'पदार्थोपस्थिति'को शाब्दबोधका करण मानते हैं। उन पदार्थकरणतावादी कुमारिलभट्टके मतका खण्डन करने और 'पद' की करणताको स्थापित करनेके लिए अगले प्रकरणका प्रारम्भ क्रिया गया है। इस प्रकरणमें कई अवान्तर भाग हैं इसलिए इसे समझनेके लिए विशेष ध्यानकी आवश्यकता है। इसमें सबसे पहिले (१) 'भाट्टमत' की ओरसे 'पदार्थकरणता'की स्थापना और प्राभाकर-अभिमत 'पद-करणता'का खण्डन पूर्वपक्षके रूपमें प्रस्तुत किया गया है। इस पूर्वपक्षके दो अंश हैं (१ प्र०) 'यत्तु' से लेकर 'न्यायात्' तक कुमारिलभट्टके 'पदार्थकरणता'की सिद्धि है।

यत्तु—

'पदं न करणं किन्तु पदार्थ एव, अत एव (१) पदार्थकरणकवाक्यार्थज्ञानात् कविकाव्यादिकम्। (२) द्वारमित्यत्र द्वारोपस्थितावपि पदार्थनिष्ठाकांक्षाविरहेणा-न्वयाबोधः 'शाब्दी हि आकांक्षा शब्देनैव पूर्यते' इति न्यायात्।

उसके आगे (२ प्र०) 'अत एव'से लेकर 'इति गुरुमतं'के पूर्व तक प्राभाकरके 'पद-करणतावाद'को भाट्टमतके विरुद्ध पूर्वपक्ष रूपमें प्रस्तुत किया गया है। और (२) 'इति गुरुमतमपास्तं'से लेकर 'पदमन्यथासिद्धं न करणं' तक उसका खण्डन कर भाट्टमतकी स्थापना की गई है। अन्तमें (३) 'तन्न'से भाट्टमतका खण्डन कर न्यायाभिमत सिद्धान्तपक्ष 'पदकरणतावाद'की स्थापना की गई है। पंक्तियोंका अर्थइस प्रकार है—

जो [कुमारिल भट्टके अनुयायी 'पार्थसारथि' मिश्र आदि यह कहते हैं कि इसका सम्बन्ध युगों 'इति गुरुमतमपास्तम्' के साथ]—

भट्ट मतकी स्थापना—

[शाब्दबोधमें] पद करण नहीं हैं किन्तु पदार्थ [उपस्थिति] ही [करण है] (१) इसीलिए [पदोंके बिना ही मानस व्यापार द्वारा पदार्थोपस्थिति हो जानेसे] पदार्थ द्वारा वाक्यार्थ ज्ञानसे कवि [निर्मित] काव्यादि होता है।

अर्थात् कविगण अपूर्व अर्थका अनुभव करके ही अभिनव काव्यादिका निर्माण करते हैं और उनका वह ज्ञान विषयके सन्निकृष्ट न होनेसे प्रत्यक्ष नहीं है व्याप्तिज्ञानके न होनेसे उसे अनुमान नहीं कहा जा सकता और शब्दके अभावसे शाब्दज्ञान भी नहीं है। परन्तु वहाँ अन्वयबोध होता ही है इसलिए ऐसे स्थलपर चिन्ता विशेषसे उपस्थित पदार्थ ही करण होते हैं, पद नहीं। जहाँ कहीं पदार्थोपस्थितिकेलिए पद प्रयोग होता है वहाँ भी पदार्थोपस्थितिको ही करण मानना चाहिए और पदको अन्यथासिद्ध कहना चाहिए। इसीलिए श्वेत रूपके दर्शन, हिनहिनानेके शब्द तथा खुरविक्षेप शब्दको सुनकर 'श्वेत घोड़ा दौड़ रहा है' यह ज्ञान होता है। इसी विषयमें दूसरी युक्ति यह है कि—

(२) 'द्वार' इस [वाक्य द्वारा] द्वार पदार्थकी उपस्थिति होनेपर भी ['पिधेहि' पदके अभावमें जो अन्वयबोध नहीं होता है वह] पदार्थ [द्वारा पदार्थमें रहनेवाली आकांक्षा [पिधेहि अर्थकी आकांक्षा] के न होनेके कारण अन्वय [संसर्ग] का बोध नहीं होता है [संकेत आदि प्रकारान्तरसे 'पिधेहि' या 'उद्घाटय' अर्थके उपस्थित हो जानेपर भी उसको शाब्दबोध नहीं कहते हैं क्योंकि] 'शाब्दी आकांक्षा शब्दसे ही पूर्ण होती है' इस न्यायसे [प्रकारान्तरसे 'पिधेहि आदि अर्थ उपस्थित हो जानेपर भी शब्द द्वारा उपस्थित न होनेसे उसे शाब्दबोध नहीं कहते हैं]।

यहाँ तक पदार्थको करण मानने वाले 'भाट्ट' का मत हुआ। आगे वही 'भाट्ट' 'प्राभाकर'के मतको उपस्थित करता हुआ यह कहता है कि जब पदार्थ की करणता

अत एव—

'पदानामवच्छेदकत्वं पदजन्योपस्थितिं विना पदार्थान्वयाबोधात्। तदुक्तम्—

प्राथम्यादभिधातृत्वात् तात्पर्योपगमादपि।
पदानामेव सा शक्तिर्वरमभ्युपगम्यताम्॥

'अभिधातृत्वात् पदार्थोपस्थापकत्वात्'।

इति गुरुमतमपास्तम्।

पादानामित्यत्र आप्तानामिति प्रक्षेपेणापि आप्तोक्तत्वस्यावच्छेदकत्वापातात्।

सिद्ध हो गई तो पदको करण माननेवाले 'गुरुमत' अर्थात् प्रभाकरका मत स्वयं खण्डित हो जाता है। वह मत निम्न प्रकार है—

इसीलिए [अर्थात् शाब्दबोधमें पदार्थोपस्थितिके कारण होने और पदके 'अन्यथासिद्ध' होनेके कारण ही पदको करण कहनेवाले]।

गुरुमतका अनुवाद—

पदजन्य पदार्थोपस्थितिके बिना पदार्थोंके संसर्गका बोध न होनेसे पदोंका ही [शाब्दबोधमें] अवच्छेदकत्व अर्थात् कारणत्व है। जैसा कि [प्रभाकरानुसारि श्रीशालिकनाथ मिश्रने अपने 'प्रकरणपञ्चिका' नामक ग्रन्थमें] कहा है—

[शाब्दबोध अर्थात् पदार्थसंसर्गबोधके] प्रथम [पदोपस्थिति आवश्यक] होनेसे, [पदार्थके] अभिधायक होनेसे, [पदों द्वारा ही] तात्पर्यका बोध होनेसे, वह [संसर्गबोध करानेवाली] शक्ति, पदोंको ही मानना अच्छा है।

[इस कारिकामें आए हुए] 'अभिधातृत्वात्' [शब्दका अर्थ] पदार्थोपस्थापकत्वात् अर्थात् 'पदार्थका बोधक होनेसे' है।

[इसप्रकार] इस [कारिकामें कहे हुए] 'गुरु' अर्थात् प्रभाकरके मतका खण्डन भी हो गया।' [इस गुरुमतके खण्डनमें दूसरा हेतु देते हैं। इसमें 'अपि' शब्द भिन्नक्रम है उसका अन्वय 'आप्तानामपि' इस प्रकार करना चाहिए।] 'पदानां' इसमें [अर्थात् गुरुमतोक्त श्लोकमें आए हुए 'पदानामेव सा शक्तिः' का अर्थ 'आप्तानामपि पदानां' करना चाहिए] 'आप्तानां' का प्रक्षेप करनेसे आप्तोक्तत्वकी [ही शाब्दबोध के प्रति] करणता प्राप्त होगी। [इसका आशय यह है कि यदि 'प्राथम्यात्, अभिधातृत्वात्' और तात्पर्योपगमात् इन हेतुओंसे पदोंको शाब्दबोधका करण मानना चाहते हैं तो इन्हीं हेतुओंसे 'आप्त' को शाब्दबोधका करण मानना होगा। क्योंकि पदोंका उच्चारण करनेवाला आप्त पुरुष पदोंसे भी पहिले होनेसे प्राथम्य, अर्थका वक्ता हनेसे अभिधातृत्व और आप्तवक्तृकतात्पर्यका ज्ञानके हेतु होने तात्पर्योपगम रूप तीनों हेतु उसमें घट जाते हैं। इसलिए आप्तको कारण मानना होगा। जो आप अर्थात् प्राभाकरको भी अभीष्ट नहीं है। आप्तका, पदोच्चारण और प्रामाण्य निर्णयमें हेतुत्व है पदार्थसंसर्गबोध या शाब्दबोधमें नहीं। अन्वयबोधमें उसको अन्यथा सिद्ध ही मानना होगा]।

तथा चावश्यस्वीकार्यपदार्थोपस्थितौ पदमन्यथासिद्धं न करणमिति ।

तन्न । पदार्थानामतीतादिरूपतया अकारणत्वात् । पदार्थस्मरणस्यापि निर्व्यापारतया अकारणत्वात् । कविकाव्यादिस्थले च मानसज्ञानं हेतुरिति ॥१५॥

ननु शब्दोऽतिरिच्यतां प्रमाणं, स एव बाधकोऽस्तु । तथाहि—

'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥'

इसलिए [शाब्दबोधमें] पदार्थोपस्थितिके अवश्य स्वीकार्य होनेपर पद [उसके प्रति] अन्यथा सिद्ध है करण नहीं है । [यह पदार्थकरणतावादी भाट्टका पूर्वपक्ष हुआ । आगे इसका खण्डन कर नैयायिकाभिमत पदकरणतावाद सिद्धान्तको स्थिर करते हैं ।

न्यायसिद्धान्त—

यहाँ तक पदार्थको शाब्दबोधका करण मानने वाले 'भाट्ट' ने पदको करण मानने वाले 'प्रभाकर'के मतका खण्डन किया है । किन्तु नैयायिक भी पदज्ञानको ही शाब्दबोधका करण मानते है, अतः अगली पंक्तियोंमें 'तन्न' से यह 'भाट्ट' का खण्डन प्रारम्भ करते हैं—

वह [भाट्टोक्त पदार्थकरणतावादी पूर्वपक्ष] ठीक नहीं है । [इसके दो कारण हैं । एक तो यह कि] पदार्थोंके अतीतादि [अर्थात् अतीत अनागत] रूप होनेसे [शाब्द-बोधकालमें अविद्यमान होनेके कारण उनका] कारणत्व नहीं बनता है । [इस दोषको बचानेकेलिए यदि पदार्थस्मृतिको करण मानना चाहें तो वह भी] पदार्थ स्मरणके व्यापाररहित होनेसे अकारणत्व होनेसे [उसको करण नहीं मान सकते । क्योंकि करणका लक्षण ही 'व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम्' है । अर्थात् व्यापारवान् असाधारण कारणको 'करण' कहते हैं । पदार्थ स्मृति स्वयं व्यापार रूप है । उसमें दूसरा व्यापार नहीं रह सकता है इसलिए निर्व्यापार पदार्थस्मृतिको करण नहीं कहा जा सकता है] पदज्ञानके ही करण होने और पदार्थ स्मृतिके अवान्तर व्यापार होनेसे [पदकारणता सिद्धान्त ही ठीक है] कवि काव्यस्थलमें [भी पदोंका] मानस ज्ञान कारण होता है । [अत एव पदज्ञान ही शाब्दबोधका करण हुआ । इस प्रकार शब्दको अलग प्रमाण मानना आवश्यक है यह न्याय सिद्धान्त स्थापित हुआ] ॥ १५ ॥

शब्दकी ईश्वरबाधकता का पूर्वपक्ष—

[शब्दके अतिरिक्त प्रमाण सिद्ध हो जानेपर मूल शंकाको उठाते हैं कि] अच्छा तो शब्द अतिरिक्त प्रमाण मान लिया जाय । वही [ईश्वरका] बाधक होगा । जैसाकि [निम्नलिखित गीताके श्लोकसे सिद्ध होता है] ।

"[सर्वशः कर्माणि अर्थात् सर्वाणि कर्माणि] सब कर्म 'प्रकृतिके गुणों [अर्थात् बुद्धितत्त्व] द्वारा किए जा रहे [हैं]' [किन्तु अज्ञानवश] अहंकारसे विमूढ़ आत्मा [चेतन] 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है ।"

इति गीतां पठन्ति। प्रकृतेर्बुद्धितत्त्वस्य गुणैः सत्त्वादिभिः क्रियमाणानि कर्माणि मोहादहं कर्तेति चेतनो मन्यते। तेनाभिमानिकं कर्तृत्वं न पारमार्थिकम्। न च सर्वज्ञस्याभिमानः विशेषदर्शनात्। कर्तेति तृन्, इति न षष्ठी। इत्यत्राह—

न प्रमाणमनाप्तोक्तिर्नादृष्टे क्वचिदाप्तता।
अदृश्यदृष्टौ सर्वज्ञो न च नित्यागमः क्षमः॥ १६॥

अयं हि सर्वकर्तृत्वाभावावेदकः शब्दः अनाप्तोक्तश्चेत् न प्रमाणम्। आप्तोक्तश्चेत् एतदर्थगोचरज्ञानवतो नित्यसर्वविषयकज्ञानवत्त्वं, इन्द्रियाद्यभावात्। आगमस्य च नित्यत्वं दूषितमेव प्रागिति वेदकारी नित्यः सर्वज्ञः सिद्ध्यति॥१६॥

यह गीतामें पाठ आता है। [इसमें] 'प्रकृतेः' अर्थात् बुद्धितत्त्वके गुणों अर्थात् सत्त्वादि द्वारा किए जानेवाले कर्मोंको अज्ञानवश 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा चेतन [आत्मा] मानता है। इससे [यह सिद्ध होता है कि आत्मामें केवल] आभिमानिक कर्तृत्व है पारमार्थिक नहीं और सर्वज्ञ [परमात्मा]को विशेष [प्रत्येक बातका यथार्थ] ज्ञान होनेसे सर्वज्ञ [परमात्मामें] का अभिमान नहीं बन सकता है [इसलिए उस परामात्मामें सृष्टि आदिका आभिमानिक कर्तृत्व नहीं बनता है। अतः क्षित्यादिकर्ता ईश्वर नहीं है। यह गीता-शब्द प्रमाण ईश्वरमें बाधक है। इसका उत्तर देनेके लिए अगली १६वीं कारिका है] वाक्य रूप 'कर्ता' पदके तृन् प्रत्ययान्त होनेसे षष्ठी नहीं होती है। इस [पूर्वपक्षके होनेपर उसके समाधानार्थ] कहते हैं—

शब्दकी ईश्वर बाधकता का निराकरण—

[इस प्रकारके कर्तृत्वाभाव बोधक वाक्य] अनाप्तोक्त होनेपर [तो] प्रमाण [ही] नहीं है [और यदि उनको आप्तोक्त मानें तो] अदृश्य अर्थमें कहीं आप्तता नहीं होती है [इसलिए इस वचनको कहनेवालेको आत्माके अकर्तृत्वका द्रष्टा मानना होगा। और आत्मा जैसे] अदृश्य अर्थका दर्शन होनेपर [उस आत्मादि रूप अदृश्य अर्थके द्रष्टाको] सर्वत [मानना] होगा [इस प्रकार ईश्वरका बाध इस गीता वाक्यके आधार नहीं किया जा सकता है। अत एव आगमके वक्ता अर्थात् वेदके वेदकर्ताके रूपमें ईश्वरको मानना होगा। इसके विरोधमें मीमांसकका कहना है कि वेद तो नित्य निर्दुष्ट होनेसे प्रमाण है। अतः उसके कर्ताकी आवश्यकता नहीं है। मीमांसककी इस शंकाका खण्डन करते हैं [कि वेदके शब्द रूप होने और 'उत्पन्नो गकारः' इत्यादि प्रतीतिके बलसे शब्दके अनित्य होनेसे] और न आगम अर्थात् वेद नित्य हो सकता है। [अत एव वेद कर्ता रूपमें ईश्वरकी सिद्धि होती है। यह नैयायिकका सिद्धान्त हुआ] टीकाकारने इस कारिकाकी व्याख्या इस प्रकार की है—

यह कर्तृत्वाभावबोधक शब्द, यदि अनाप्तोक्त है तो प्रमाण नहीं है। और यदि आप्तोक्त है तो इस विषयके ज्ञान वाला [वक्ता ईश्वर तो] इन्द्रियादिके न होनेसे नित्य और सर्वज्ञ [मानना] होगा। वेदका नित्यत्व [वादी मीमांसकसिद्धान्त] पहिले खण्डित किया ही जा चुका है। इसलिए वेदकर्ता-नित्य सर्वज्ञ [ईश्वर] सिद्ध होता है॥ १६॥

नन्वसत्त्वबोधकागमानां का गतिस्तत्राह—

न चासौ क्वचिदेकान्तः सत्त्वस्यापि प्रवेदनात् ।
निरञ्जनावबोधार्थो न च सन्नपि तत्परः ॥ १७ ॥

असावागमो नासत्त्वमात्र पक्ष एव, सत्त्वस्यापि बहुशः 'मत्तः सर्वं प्रवर्तते' इत्यादिभिः प्रतिपादनात् । द्वयोश्च न मुख्यार्थत्वं विरोधात् । विनिगमकचिन्तायां विशेषगुणशून्यात्मस्वरूपस्य ध्येयतत्वात्पर्यकत्वं बाधकश्रुतीनां, साधकश्रुतीनां च कार्यकारणभावादितर्कमूलकानुमानसाचिव्येन मुख्यार्थकत्वात् ॥१७॥

ननु यद्यसौ सर्वज्ञः स्यात् अनुपदिश्यापि प्रवर्तयेत् । इत्युपदेशानुपपत्ति-

---

[इसपर शंका होती है कि] अच्छा फिर अभावबोधक आगमोंकी कैसे संगति होगी ? इस [शंकाके होने] पर कहते हैं—

[ईश्वरकी] सत्ता बोधका भी प्रतिपादन [आगममें] होनेसे यह [अभावबोधक आगम] ऐकान्तिक नहीं है । [इसलिए कहीं कहीं अभावबोधक आगम] होनेपर भी [ईश्वरके] निराकार स्वरूपके बोधनार्थ होनेसे अभाव बोधनमें उसका तात्पर्य नहीं है ।

'मत्तः सर्वः प्रवर्तते' मुझसे सब उत्पन्न होता है इत्यादि [वाक्यों] द्वारा [ईश्वरकी] सत्ताका भी बहुत जगह प्रतिपादन होनेसे [यह आगम] केवल [ईश्वरके] अभाव पक्षमें ही नहीं है । [अपितु ईश्वरकी सत्ता भी आगमसे सिद्ध होती है] और [भावावेदक तथा अभावावेदक] दोनों [प्रकारके आगमों] को [उनमें परस्पर] विरोध होनेसे मुख्यार्थक नहीं [माना जा सकता है । एकको मुख्यार्थक और सरेको लाक्षणिक मानना होगा । तब किसको मुख्यार्थक और किसको लाक्षणिक मानें इस प्रकारके] विनिगमक [एकतर-पक्षनिर्णायक हेतु] का विचार करनेपर बाधक श्रुतियोंको विशेषगुणशून्यत्व रूपसे [ईश्वरके] ध्येयत्व [के प्रतिपादन] में तात्पर्य मानकर [लाक्षणिक अर्थात् गौण] और साधक श्रुतियोंको कार्य कारणभावमूलक अनुमानकी सहायतासे मुख्यार्थक माननेसे [आगमसे ईश्वरका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता है । इस प्रकार शब्द प्रमाणकी मीमांसा समाप्त हुई] ॥ १७ ॥

अर्थापत्ति प्रमाण की ईश्वरबाधकता का निराकरण—

[आगे अर्थापत्ति प्रमाण की चर्चा प्रारम्भ करते हैं ।] अच्छा तो यदि वह [ईश्वर] सर्वज्ञ हो तो [वेदादि द्वारा] उपदेश दिए बिना भी [मनुष्योंको यागादिमें] प्रवृत्त करा सकता है । [यदि वह उपदेशके बिना प्रवृत्त करनेमें असमर्थ है तभी उपदेश द्वारा प्रवृत्त करता है । इस प्रकार] उपदेशकी अनुपपत्ति ही ईश्वरमें बाधिका है । वह बिना उपदेशके स्वयं प्रवृत्त करना नहीं जानता है यह नहीं कह सकते हैं क्योंकि [उस दशामें उसका] सर्वज्ञत्व नहीं बनेगा । [उपदेशकी अनुपपत्ति होनेसे उसके उपपादकीभूत अर्थ असर्वज्ञत्वकी कल्पना अर्थापत्ति प्रमाणसे करनी पड़ती है] और

रेवास्तु ईश्वरे बाधिका। न ह्ययमनुपदिश्य स्वयं प्रवर्तयितुं न जानाति, सर्वज्ञत्वानुपपत्तेः। अर्थापत्तिश्च मानान्तरम्। इत्यत्राह—

हेत्वभावे फलाभावात् प्रमाणेऽसति न प्रमा।
तदभावात् प्रवृत्तिर्न कर्मवादेऽप्ययं विधिः॥ १८॥

'प्रमाणेऽसति न प्रमा' प्रमाणरूपहेत्वभावे फलाभावात्, प्रमाविरहात्। प्रमाविरहे च न प्रवृत्तिः कारणाभावात्। प्रमाकारणं चाग्निष्टोमेनेत्यादि विधिरेव। इति नोपदेशव्यर्थता। अन्यथा कर्मवादेऽप्ययं विधिः अदृष्टादेव प्रवृत्तेरुपपत्तेः वेदस्यानर्थक्यापत्तिः॥ १८॥

अर्थापत्ति [भी] अलग प्रमाण है। [अत एव अर्थापत्ति प्रमाण ईश्वरमें बाधक है यह पूर्व पक्ष हुआ।] इसपर कहते हैं—

कारणके बिना कार्य नहीं होता इसलिए प्रमाण [रूप वेदोपदेश] के न होनेपर [यागादिमें प्रवर्तक इष्टसाधनता-ज्ञान रूप] प्रमा नहीं हो सकती है और उस [इष्ट साधनता-ज्ञानरूप प्रमा] के अभावमें [यागादिमें] प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। अन्यथा कर्मवाद [अर्थात् केवल कर्म या अदृष्टसे जगत् उत्पन्न होता है, ईश्वर उसका कारण नहीं है यह माननेवाले मीमांसकके सिद्धान्त] में भी यही प्रकार होगा [अर्थात् कर्म या अदृष्टके द्वारा ही प्रवृत्तिका उपपादन संभव हो जानेपर उसके अभिमत प्रमाणभूत वेदका मानना व्यर्थ हो जायगा]।

प्रमाणके न होनेपर प्रमा नहीं होसकती। प्रमाणरूप हेतुके अभावमें फलका अभाव होनेसे अर्थात् प्रमाका अभाव होनेसे। और प्रमाके अभावमें कारणके अभाव होनेसे [कार्यरूप] प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। [यागादिमें इष्टसाधनता ज्ञानरूप] प्रमाका कारण 'अग्निष्टोमेन स्वर्गकामः यजेत्' इत्यादि विधि ही है। इसलिए उपदेश व्यर्थ नहीं है। अन्यथा कर्मवादमें भी यही प्रकार [प्राप्त] होगा। अर्थात् अदृष्टसे ही [जगदुत्पत्तिके समान यागादिमें भी] प्रवृत्ति हो जायगी और वेदकी व्यर्थता सिद्ध होगी [जो कि मीमांसकको अभिमत नहीं है]॥ १८॥

अर्थापत्ति प्रमाणका खण्डन—

[पूर्वपक्षमें अर्थापत्ति-प्रमाणवादी मीमांसकने अर्थापत्तिको ईश्वरका बाधक प्रमाण बतलाया था उसका खंडन कर दिया है कि उस रूपमें अर्थापत्ति ईश्वरमें बाधिका नहीं होसकती है। परन्तु वास्तवमें नैयायिक मतमें अर्थापत्ति अलग प्रमाण ही नहीं है। उसका अन्तर्भाव अनुमानमें होजाता है। इसलिए अपने सिद्धान्त पक्षको प्रस्तुत करनेकेलिए इस कारिकामें अर्थापत्तिके प्रामाण्यका खंडन करते हैं। अर्थापत्तिको प्रमाण माननेवाले उसका यह लक्षण करते हैं। 'अनुपपद्यमानार्थ दर्शनात् तदुपपादकी भूतार्थन्तरकल्पनं अर्थापत्तिः'। अर्थात् किसी अनुपपद्यमान अर्थको देखकर उसके उपपादक अर्थकी कल्पना करना अर्थापत्ति है। जैसे देवदत्त जीवित है मरा नहीं है यह हमको भली प्रकार विदित है। उसके घर जाकर हमने देखा या मालूम किया तो विदित हुआ कि

घरमें नहीं है। जीवित देवदत्तके इस गृहाभाव-ज्ञानसे हम यह परिणाम निकाल लेते हैं कि वह कहीं बाहर गया है। देवदत्तको बाहर जाते हमने प्रत्यक्ष नहीं देखा, कोई ऐसा लिंग भी नहीं जिससे उसके बहिर्भावका अनुमान किया जा सके और न किसीने शब्द प्रमाण द्वारा उसके बहिर्भावका ज्ञान कराया है। अतः उसके वहिर्भावका यह ज्ञान प्रत्यक्ष अनुमान या शब्दादि प्रमाणों द्वारा नहीं हुआ है। इसलिए इसकी सिद्धिके लिए अलग प्रमाण मानना चाहिए उसीका नाम 'अर्थापत्ति' है। यह अर्थापत्ति प्रमाणकी आवश्यकता सिद्ध करनेका एक प्रकार है।

इस विषयमें नैयायिकका कहना यह है कि इस रूपसे बहिर्भावका जो ज्ञान होता है। वह 'केवलव्यतिरेकी' अनुमान द्वारा हो सकता है। अनुमानका स्वरूप यह होगा—'देवदत्तः बहिरस्ति जीवित्वे सति गृहे अविद्यमानत्वात्। यस्तु न बहिर्भवति नासौ जीवित्वे सति गृहे अविद्यमानोऽपि भवति यथा गृहे विद्यमानो जीवी यज्ञदत्तः'। अर्थात् देवदत्त बाहर है यह प्रतिज्ञा हुई जिसको सिद्ध करना है। जीवित होनेपर भी घरमें न होनेसे यह हेतु हुआ। जो बाहर नहीं होता है वह जीवित होनेपर घर में अविद्यमान नहीं अपितु अवश्य विद्यमान होता है यह व्यतिरेक-व्याप्ति हुई जिसका ग्रहण हमको अपने शरीरमें ही होजाता है। क्योंकि जब हम बाहर नहीं होते हैं तो अवश्य अपने घरमें होते हैं और जब घरमें नहीं होते तब अवश्य बाहर होते हैं। इसलिए गृहमें विद्यमान यज्ञदत्त आदि उदाहरण बन सकते हैं। इस प्रकार अनुमानसे देवदत्तके बहिर्भावका ज्ञान हो जानेसे अर्थापत्तिको अलग प्रमाण माननेकी आवश्यकता नहीं है।

अर्थापत्तिका दूसरा स्वरूप कुछ लोग इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि 'विरुद्धयोः प्रमाणयोः विषयव्यवस्थया अविरोधापादनं अर्थापत्तेर्विषयः'। अर्थात् दो विरुद्ध प्रमाणोंके विषयकी व्यवस्था कर उनके अविरोधका आपादन करना अर्थापत्तिका काम है। जैसे 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' और 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत्' ये दोनों श्रुतियाँ हैं, अत एव दोनों ही प्रमाण हैं। परन्तु वह एक दूसरसे विरुद्ध अर्थका प्रतिपादन कर रही है। एक हिंसाका निषेध करती है और दूसरी अग्निषोमीय पशुके आलम्भनका अर्थात् बधका विधान करती है। इस प्रकार दो प्रमाणोंके बीच विरोध उपस्थित होनेपर अर्थापत्ति प्रमाण उन दोनोंके विषय की व्यवस्था करता है। 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत्' इस आलम्भनपरक श्रुतिका क्षेत्र केवल अग्निषोमीय यागप्रदेश है। उसके बाहर इस श्रुतिकी गति नहीं है। इसके विरुद्ध 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस श्रुतिका क्षेत्र अग्निषोमीय यागसे व्यतिरिक्त प्रदेश है। अग्निषोमीय यागप्रदेशमें इसकी गति नहीं है। इस प्रकार दोनोंकी विषय व्यवस्था हो जानेपर किसी एक स्थानपर दोनों की प्राप्ति नहीं होती है इसलिए उनमें परस्पर विरोध नहीं है। इस प्रकारसे विरुद्ध प्रमाणोंकी विषय-व्यवस्था द्वारा उनके अविरोधका आपादन करनेके लिए अर्थापत्ति प्रमाण आवश्यक है। यह दूसरा अर्थापत्तिवादी पूर्वपक्ष होता है।

न वार्थापत्तिर्मानान्तरम्, तदेवाह—

अनियम्यस्य नायुक्तिर्नानियन्तोपपादकः ।

इसके उत्तरमें नैयायिकका कहना यह है कि दो प्रमाणोंमें, यदि वे दोनों प्रमाण हैं तो उनमें वास्तविक विरोध नहीं हो सकता है। यदि उनमें विरोध है तो उनमेंसे एकका अवश्य अप्रामाण्य है। दो प्रमाणोंमें वास्तविक विरोध नहीं हो सकता है। हाँ यह सम्भव है कि किसीको उनमें विरोधका भ्रम हो जाय। ऐसी दशामें उस विरोधकी विषय-व्यवस्थाका ज्ञान अनुमान द्वारा ही हो सकता है। क्योंकि हम बहुत सरलतासे अनुमान कर सकते हैं कि 'अयं प्रतीयमानो विरोधो भिन्नविषयकः एकविषयतायां विरुद्धत्वे सति प्रमाणसिद्धत्वात्'। अर्थात् यह प्रतीयमान विरोध अवश्य ही भिन्न विषयक है क्योंकि एकविषयता माननेमें विरोध होने और प्रमाण सिद्ध होनेसे। इस प्रकार प्रमाणोंमें वस्तुतः विरोध नहीं होता जिसकी विषय, व्यवस्थाकेलिए 'अर्थापत्ति' प्रमाणकी आवश्यकता हो, और जहाँ भ्रमवश विरोध प्रतीत होता है वहाँ भी दोनों प्रमाणोंकी विषय-व्यवस्था पूर्वसे ही बनी हुई है। उनकी विषय-व्यवस्था करनेकी आवश्यकता नहीं है। हाँ हमको जो उस विषय व्यवस्थाका ज्ञान न होनेसे विरोध प्रतीत हो रहा है उसके निवारणकेलिए विषय-व्यवस्थाका ज्ञान ऊपर दिखलाए हुए अनुमान द्वारा हो सकता है। इसलिए इस रूपमें भी अर्थापत्तिको अलग प्रमाण माननेकी आवश्यकता नहीं है।

इसी प्रकार 'पीनो देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते'। देवदत्त दिनमें नहीं खाता है और पीन अर्थात् मोटा-ताज़ा है। ऐसा देखकर या किसीसे सुनकर उसके रात्रि-भोजनकी कल्पना भी अर्थापत्तिके उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत की जाती है। दिवा अभुञ्जानका पीनत्व अनुपपद्यमान अर्थ हुआ उसको देखकर उसके उपपादकीभूत अर्थ रात्रि-भोजन-की कल्पना की जाती है अत एव 'अनुपपद्यमानार्थ दर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तर-कल्पनंअर्थापत्तिः। इस लक्षणके अनुसार रात्रि-भोजनका ज्ञान अर्थापत्ति द्वारा ही होता है, यह अर्थापत्ति-प्रमाणवादियोंका मत है। इसके सम्बन्धमें नैयायिकका कहना यह है कि यहाँ भी रात्रि-भोजनका ज्ञान व्यतिरेकी अनुमानसे हो सकता है। उसका रूप इस प्रकार होगा। देवदत्तः रात्रौ भुङ्क्ते, दिवा अभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात् यस्तु न रात्रौ भुङ्क्ते नासो दिवा अभुञ्जानत्वे सति पीनोऽपि भवति यथा दिवा रात्रौ च अभुञ्जानो नवरात्रोपवासी अपीनो यज्ञदत्तः। इस प्रकार अनुमान द्वारा रात्रि-भोजनकी सिद्धि होजानेसे अर्थापत्तिको अलग प्रमाण माननेकी आवश्यकता नहीं है। इसी विषयका प्रतिपादन इस कारिका और उसकी व्याख्यामें इस प्रकार किया गया है।

औन न अर्थापत्ति [कोई अलग] प्रमाणान्तर है। इसीको कहते हैं।

[अनियम्य अर्थात्] अव्याप्यकी [अयुक्ति] अर्थात् अनुपपद्यमानता नहीं होती है। [अर्थात् जिसको अर्थापत्तिवादी अनुपपद्यमान अर्थ कहता है वह व्याप्य ही होता है]

न मानयोर्विरोधोऽस्ति प्रसिद्धे वाप्यसौ समः ॥ १९ ॥

जीवी देवदत्तः गेहे नास्तीति ज्ञानानन्तरं बहिरस्तीति धीरुदाहरणम्। तत्रानियम्यस्याव्याप्यस्य नायुक्तिर्नानुपपत्तिः। अनियन्ता, अव्यापको नोपपादकः। व्यापकव्यतिरेकेण व्याप्यस्यैव व्यतिरेकात्। तादृशानुपपत्तिज्ञाने व्यतिरेकव्याप्तिधीरेव।

यदपि क्वचिदस्ति गेहे नास्तीति ज्ञानानन्तरं विरोधज्ञानेऽविरोधाय गेहान्यविषयता क्वचिदस्तीत्यर्थापत्तिरिति, तदपि न। हि वास्तवो मानयोर्विरोधः। तथा सत्येकं मानं भज्येत। विरोधज्ञानस्य तु विषयभेदव्यवस्थापकत्वमनुमा-

---

और [अनियन्ता अर्थात्] अव्यापक उपपादक नहीं होता [अर्थात् जिसको अर्थापत्तिवादी उपपादकीभूत अर्थ कहता है वह व्यापक अर्थ ही होता है। इस लिए अनुपपद्यमान अर्थसे उपपादकीभूत अर्थकी कल्पनाको हम व्याप्यसे व्यापकका ज्ञान अर्थात् अनुमान ही कह सकते हैं। इसलिए इस रूपमें अर्थापत्ति प्रमाणको माननेकी आवश्यकता नहीं है।] दो प्रमाणोंमें [वास्तविक] विरोध नहीं होता [इसलिए उनकी विषय-व्यवस्थाकेलिए भी अर्थापत्तिको प्रमाण माननेकी आवश्यकता नहीं है। इसपर भी यदि आप अर्थापत्तिको प्रमाण मानते ही हैं तो फिर अनुमानको प्रमाण नहीं मानना चाहिए क्योंकि] प्रसिद्ध [अनुमान स्थलोंमें भी अनुपपद्यमान धूमसे उसके उपपादकीभूत अर्थ अग्निकी कल्पनाको अर्थापत्ति कहा जा सकता है अतः उन प्रसिद्ध उदाहरणों] में भी वह समान है [अर्थात् अर्थापत्ति ही मानना चाहिए। अनुमान नहीं। परन्तु अनुमानका मानना अधिक आवश्यक है अतः अर्थापत्तिको ही उसके अन्तर्भूत मानना चाहिए]।

'जीवी देवदत्त घरमें नहीं है' इस ज्ञानके बाद 'बाहर है' यह ज्ञान [अर्थापत्तिका] उदाहरण है। उसमें 'अनियम्य' अर्थात् अव्याप्यकी 'अयुक्ति' अर्थात् अनुपपद्यमानता नहीं होती और 'अनियन्ता' अर्थात् अव्यापक उपपादक नहीं होता। क्योंकि व्यापक [उपपादकीभूत अर्थ] के अभावमें व्याप्य [अनुपपद्यमान अर्थ] का ही अभाव होता है। [इसलिए] इस प्रकार अनुपपत्ति ज्ञानमें व्यतिरेकव्याप्ति-ज्ञान ही कारण होता है। [अतः वह अनुमानके अन्तर्गत ही है] और जो [अर्थापत्तिका जो दूसरा लक्षण और उसका उदाहरण बनाया गया है कि] 'कहीं है [परन्तु] घरमें नहीं है' इस ज्ञानके अन्तर इस विरोध-ज्ञानमें अविरोध उपपादन करनेकेलिए क्वचिदस्ति कहीं है इस वाक्यकी गेहान्यविषयता [घरसे भिन्न विषयमें क्वचिदस्ति यह लागू होता है इस प्रकारका ज्ञान] अर्थापत्ति [का विषय] है [जो यह कहा जाय] तो वह भी ठीक नहीं है। [क्योंकि] दो प्रमाणोंमें वास्तविक विरोध नहीं होता, वैसा होनेपर एकका प्रामाण्य खण्डित [अवश्य] होगा। [परन्तु भ्रमवश प्रतीयमान] विरोधज्ञानके

नविधयैव। तथाहि, विरोधो भिन्नविषयकः एकविषयतायां विरुद्धत्वे सति प्रमाणसिद्धत्वादिति। अन्यथा धूमोऽप्यनुपपद्यमानो वह्निं गमयेदित्यर्थापत्तिरिति प्रसिद्धमनुमानं न स्यात्। अर्वाग्भागावच्छेदेन वह्न्यनुपलम्भः धूमश्च वह्निसाधनमिति विरोधे परभागावच्छेदेन वह्निव्यवस्थापनमप्यर्थापत्तेरेव स्यात्। अनुमानाभावेऽपि च व्याप्तिग्राहकमानस्य वह्निसाधकत्वमर्थापत्तेरित्यनुमानविलोपः स्यादिति॥ १६॥

अनुपलब्धिश्च नेश्वरे बाधिकेति योग्यादृष्टिरित्यादिनोक्तम्। वस्तुतोऽनुपलब्धिर्मानान्तरमेव नेत्याह—

विषयभेदका व्यवस्थापकत्व अनुमान द्वारा ही हो सकता है। जैसे कि 'विरोध भिन्न विषयक है, एक विषयमें विरोध होने और प्रमाणसिद्ध होनेसे'। अन्यथा [यदि अर्थापत्तिको मानते ही हैं तो] धूम भी अनुपपद्यमान होकर वह्निका बोधक होगा अतः [वह्निज्ञान भी] अर्थापत्तिसे [गम्य] होगा इसलिए प्रसिद्ध अनुमान [भी] नहीं होगा। [अर्थात् अर्थापत्तिके प्रथम 'लक्षण अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनं अर्थापत्तिः' इसके अनुसार धूमसे वह्निका ज्ञान पूर्वोक्त प्रकारसे अर्थापत्ति द्वारा सम्भव हो सकनेसे प्रसिद्ध अनुमान प्रमाणका मानना अनावश्यक हो जायगा। इसी प्रकार अर्थापत्तिके दूसरे लक्षण अर्थात् 'विरुद्धयोः प्रमाणयोर्विषयव्यवस्थया अविरोधापादनमर्थापत्तेर्विषयः' इसके अनुसार भी धूमसे वह्निका ज्ञान अर्थापत्तिके अन्तर्गत हो सकेगा यह अगली पंक्तियोंमें दिखलाते हैं] सामनेकी ओर [अर्थात् जिस अग्निमेंसे खूब धूम उठ रहा है उस अग्निमें सामनेकी ओर] अग्नि दिखलाई नहीं देता है, और [सामने दिखलाई देनेवाला] धूम वह्निजन्य है [जब अग्नि दिखलाई नहीं देता तब अग्निसे उत्पन्न होनेवाला धूम कहाँसे आ सकता है इस प्रकार इन दोनों ज्ञानोंमें] विरोध होनेपर पिछले हिस्सेमें अग्निकी [सत्ता है इस प्रकारकी] व्यवस्था अर्थापत्ति [के दूसरे लक्षण अनुसार] से ही हो सकती है। अनुमानके न माननेपर भी व्यापत्तिग्राहक प्रमाणका वह्निसाधकत्व अर्थापत्तिसे ही हो सकनेसे अनुमानका लोप हो जायगा यह अभिप्राय है। [इस प्रकार वास्तवमें अर्थापत्तिका काम अनुमानसे ही निकल सकता है इसलिए उसको अलग प्रमाण माननेकी आवश्यकता नहीं है। और जब वह प्रमाण ही नहीं है तब उसके ईश्वरमें बाधक होनेका कोई प्रश्न ही नहीं हो सकता है। अतः अर्थापत्ति भी ईश्वरमें बाधक नहीं है]॥ १९॥

अनुपलब्धि प्रमाणका खण्डन—

[अर्थापत्तिके बाद अब 'अपनुलब्धि' प्रमाणकी चर्चा प्रारम्भ होती है।] अनुपलब्धि ईश्वरमें बाधक नहीं है यह बात [स्तबकके प्रारम्भमें] 'योग्यादृष्टिः' इत्यादि [कारिका]में कही जा चुकी है। वास्तवमें [तो] अनुपलब्धि कोई प्रमाण ही नहीं है यह [प्रतिपादन करनेकेलिए यहाँ इस विषयको दुबारा प्रारम्भ किया है] कहते हैं—

अनुपलब्धिको अलग प्रमाण मानने वाले मीमांसक और वेदान्ती घटाभावादिके ग्रहणके लिए अनुपलब्धिको अलग प्रमाण मानते हैं। परन्तु नैयायिक उसका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही मानते हैं। इसलिए अनुपलब्धि प्रमाणके खण्डन करनेकेलिए यहाँ इस विषयका प्रारम्भ किया है। स्तबकके अन्त तक २०, २१, २२ इन तीनों कारिकाओंमें इसी विषयका प्रतिपादन किया गया है।

जो लोग 'अनुपलब्धि'को अलग प्रमाण मानते हैं उनका कहना यह है कि अभावका ग्रहण प्रत्यक्षसे इसलिए नहीं हो सकता है कि प्रत्यक्ष, ज्ञान, इन्द्रिय और अर्थका सन्निकर्ष होनेपर ही होता है। 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' यह उसका लक्षण इसी बातका सूचक है। प्रत्यक्ष ज्ञानकेलिए इन्द्रिय और अर्थका सन्निकर्ष आवश्यक है। परन्तु चक्षुरादि इन्द्रियका घटाभावके साथ कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता है। क्योंकि सम्बन्ध दो ही होते हैं। एक संयोग और दूसरा समवाय। इनमेंसे संयोग सम्बन्ध दो द्रव्योंका ही हो सकता है। चक्षुः इन्द्रिय तो द्रव्य है परन्तु घटाभाव तो द्रव्य नहीं है इसलिए चक्षुका घटाभावके साथ संयोग सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता है। और समवाय सम्बन्ध अयुतसिद्धोंका ही होता है। वह अयुतसिद्ध पदार्थ भी अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति और नित्यद्रव्य तथा विशेष इस रूपमें परिगणित हैं। इनमें भी अभावकी गणना नहीं की गई है। इसलिए चक्षुका अभावके साथ समवाय सम्बन्ध भी नहीं बन सकता है इन दोनोंके अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध ही नहीं होता इसलिए इन्द्रियका अभावके साथ कोई सम्बन्ध नहीं बन सकनेके कारण इन्द्रियसे अभावका ग्रहण नहीं हो सकता है। अत एव उसके ग्रहणकेलिए अलग प्रमाण मानना चाहिए। उसीको अनुपलब्धि प्रमाण कहते हैं। यह अनुपलब्धिको प्रमाण माननेवालोंका मत है।

नैयायिक, घटाभावके ग्रहणमें इन्द्रिय और अभावका परम्पराश्रित 'इन्द्रियसम्बद्ध विशेषणता' अथवा 'इन्द्रियसम्बद्ध विशेष्यता' रूप सम्बन्ध मानते हैं। जिसे 'विशेष्य विशेणणभाव सम्बन्ध' भी कहते हैं। जहाँ 'घटाभाववद् भूतलम्' यह ज्ञान होता है वहाँ इन्द्रिय चक्षुसे सम्बद्ध भूतलमें घटाभाव विशेषण है और जहाँ 'भूतले घटाभावः' अर्थात् 'भूतलनिष्ठः घटाभावः' यह ज्ञान होता है वहाँ चक्षु सम्बद्ध भूतलमें घटाभाव विशेष्य है। इसलिए पहिले उदाहरण 'घटाभाववद्भूतलम्'में चक्षुका घटाभावके साथ 'इन्द्रिय-सम्बद्धविशेषणता' सम्बन्ध और दूसरे 'भूतलनिष्ठः घटाभावः' इस उदाहरणमें चक्षुका घटाभावके साथ 'इन्द्रियसम्बद्ध विशेष्यता सम्बन्ध है। इस प्रकार विशेष्य विशेषण भावसे इन्द्रिय द्वारा घटाभावका ग्रहण प्रत्यक्ष द्वारा ही हो जाता है अतः अनुपलब्धि प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। यह नैयायिकपक्ष हुआ।

इसपर अनुपलब्धि-प्रमाणवादियोंका कथन यह है कि विशेष्य-विशेषणभाव कोई सम्बन्ध ही नहीं है क्योंकि उसमें सम्बन्धका लक्षण नहीं घटता है। सम्बन्धका

लक्षण 'सम्बन्धो हि स सम्बन्धिभ्यां भिन्नः, उभयाश्रितः, एकश्च' यह किया गया है। अर्थात् सम्बन्धमें तीन बातें होनी चाहिए। एक तो यह कि 'वह सम्बन्धियोंसे भिन्न हो'। जैसे 'संयोग' सम्बन्ध है। उसमें यह बात पाई जाती है। घट और पटका संयोग हुआ। इस संयोगमें घट और पट ये दोनों सम्बन्धी हुए। और 'संयोग' इनका सम्बन्ध हुआ। घट और पट दोनों 'द्रव्य' हैं और संयोग 'गुण' है इसलिए संयोग सम्बन्ध अपने दोनों सम्बन्धियोंसे भिन्न है। परन्तु विशेष्य विशेषण भाव 'सम्बन्धिभ्यां भिन्नः' नहीं अपितु 'सम्बन्धि-स्वरूप' होता है। जैसे 'दण्डी पुरुषः' इस प्रतीतिमें दण्ड विशेषण है उसमें रहने वाली विशेषणता दण्डसे अलग कोई वस्तु नहीं है अपितु दण्डकी स्वरूपभूत है। इसी प्रकार विशेष्यभूत पुरुषमें रहनेवाली विशेष्यता पुरुषसे अलग नहीं अपितु उसकी स्वरूपभूत है। अर्थात् विशेष्य विशेषणभाव सम्बन्धियोंसे भिन्न नहीं अपितु सम्बन्धिस्वरूप ही होता है। यदि उसको 'सम्बन्धि-स्वरूप' न मानकर 'सम्बन्धियोंसे भिन्न' माना जाय तो, जैसे संयोगको घट पटसे अलग गुण पदार्थ मानते हैं। इसी प्रकार विशेष्य-विशेषणभाव का भी द्रव्य, गुण कर्म, सामान्य, विशेष समवाय इन पदार्थोंमें ही कहीं न कहीं अन्तर्भाव होगा। क्योंकि इनके अतिरिक्त और कोई पदार्थ नहीं है। इन द्रव्यादि छहों पदार्थोंमेंसे कोई भी पदार्थ अभावमें नहीं रहता है। यदि विशेष्य विशेषण भाव इन द्रव्यादि पदार्थोंमेंसे ही कोई पदार्थ है तो वह भी अभावमें नहीं रह सकेगा। इसका अर्थ हुआ कि अभाव विशेष्य या विशेषण नहीं बन सकेगा। परन्तु 'घटाभाववद्भूतलम्' इस प्रतीतिमें घटाभाव विशेषण है और 'भूतलनिष्ठः घटाभावः' इस प्रतीतिमें घटाभाव विशेष्य है। अर्थात् अभाव विशेष्य भी होता है और विशेषण भी। यदि इस विशेष्य विशेषण भावको सम्बन्धियोंसे अलग मानते हैं तो जैसा कि अभी दिखलाया है अभावका विशेष्य विशेषण भाव नहीं बन सकता है। इसके उपपादनका केवल एक यही मार्ग है कि विशेष्य-विशेषणभावको 'सम्बन्धि-स्वरूप' माना जाय। और उस दशामें विशेष्य-विशेषणभावमें सम्बन्ध लक्षणका प्रथम अंश 'सम्बन्धिभ्यां भिन्न' नहीं घटता है। अतः वह 'सम्बन्ध' नहीं कहा जा सकता है।

सम्बन्धके लक्षणका दूसरा अंश 'उभयाश्रितत्व' है। संयोगमें तो यह लक्षण घट जाता है क्योंकि घट और पटका जो परस्पर संयोग है वह उभयाश्रित है। एकमें नहीं दोनोंमें रहता है। और इसी लिए 'एकश्च' एक भी है। घटका जो पटके साथ संयोग है वही पटका घटके साथ संयोग है। यह दो संयोग नहीं हैं। इसलिए संयोगमें सम्बन्ध लक्षणके दूसरे और तीसरे अर्थात् 'उभयाश्रितः' और 'एकश्च' अंश भी घट जाते हैं। अतः 'संयोग' 'सम्बन्ध' कहा जा सकता है। परन्तु विशेष्य-विशेषणभावमें ये दोनों अंश भी नहीं घटते। विशेष्यभाव केवल विशेष्यमें और विशेषणभाव

केवल विशेषणमें ही रहता है। उनमेंसे कोई भी 'उभयाश्रित' नहीं है । इसी लिए एक भी नहीं हैं । विशेष्यभाव अलग है और विशेषणभाव अलग । 'विशेष्य विशेषणभाव' इस प्रयोगमें जो एक 'भाव' पद सुनाई देता है उससे इन दोनोंको एक नहीं समझना चाहिए। क्योंकि यहाँ 'विशेष्यं च विशेषणं च इति विशेष्यविशेषणे' इस प्रकार द्वन्द्व-समास करके उसके अन्तमें प्रयुक्त 'भाव' शब्द 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इस नियमके अनुसार दोनोंके साथ सम्बद्ध होता है। इस प्रकार 'विशेष्य-विशेषणभाव'में सम्बन्धके लक्षणका एक भी अंश नहीं पाया जाता है अत एव उसको 'सम्बन्ध' नहीं कह सकते हैं। इसी शैलीसे कार्यकारणभाव आदिके सम्बन्धत्वका भी खण्डन हो जायगा। इसलिए संयोग और समवायके अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः इन्द्रिय तथा अभाव के बीच इनके न होनेसे इन्द्रियसे अभावका ग्रहण नहीं हो सकता है। अत एव उसके ग्रहण करनेकेलिए अनुपलब्धि-प्रमाण अलग मानना चाहिए। यह पूर्वपक्षकी युक्ति है।

इसपर नैयायिक पक्षका कहना यह है कि इन्द्रिय संयोग या समवाय सम्बन्ध द्वारा ही अर्थको ग्रहण करती है यह नियम केवल भाव पदार्थोंकेलिए है। अर्थात् इन्द्रिय जब भाव पदार्थोंका ग्रहण करती है तब इन सम्बन्धोंसे ही करती हैं परन्तु अभावके ग्रहणमें तो विशेष्य-विशेषणभाव सम्बन्ध ही होता है। इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग ही नहीं। क्योंकि यदि आपके मतानुसार अभावके ग्रहणकेलिए एक अलग अनुपलब्धि प्रमाण मान भी लें तो यह प्रश्न तो पैदा होगा ही कि उस अनुपलब्धि प्रमाणका अभावके साथ क्या सम्बन्ध है? जैसा कि आप प्रतिपादन कर चुके हैं अभावका किसीके साथ संयोग या समवाय सम्बन्ध बन नहीं सकता है और इनके अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध है नहीं। इसका अर्थ यही हुआ कि अभावका 'अनुपलब्धि' प्रमाणके साथ भी कोई सम्बन्ध नहीं है। तब फिर विना सम्बन्धके 'अनुपलब्धि-प्रभाव' ही से अभावका ग्रहण कैसे होगा? इसलिए यह असम्बद्धार्थग्राहकत्व दोष दोनों पक्षोंमें समान है और उसका परिहार भी दोनों पक्षोंमें समान होगा।

'यत्रोभयोः समोदोषः परिहारोपि वा समः। नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे॥'

इसलिए विशेष्य-विशेषणभाव सम्बन्धसे इन्द्रिय द्वारा ही घटाभावादिका ग्रहण हो जानेसे अभावके ग्रहणकेलिए अनुपब्धिको अलग प्रमाण मनानेकी आवश्यकता नहीं है। इन्द्रियोंको ही अभाव ग्रहणका करण मानना उचित है। यह न्यायसिद्धान्त है। इसी सिद्धान्तका यहाँ प्रतिपादन किया जा रहा है। २०वीं तथा २१वीं कारिकामें अभावग्रहमें इन्द्रियोंको करण सिद्ध करनेकेलिए चार-चार हेतु दिए गए हैं। अर्थात् इन दोनों कारिकाओंके एक-एक चरणमें एक-एक हेतु प्रस्तुत किया गया है। २१वीं कारिकामें 'इन्द्रियाणि' पद आया है वह प्रतिज्ञाका एक भाग है। शेष अंशकी पूर्ति अध्याहारसे करनी होती है। उस अध्याहृत अंशको मिलाकर प्रतिज्ञाका स्वरूप यह

प्रतिपत्तेरपारोक्ष्यात् इन्द्रियस्यानुपक्षयात् ।
अज्ञातकरणत्वाच्च भावावेशाच्च चेतसः ॥ २० ॥

यत्राज्ञातानुपलब्धिः कारणं तत् प्रत्यक्षम् । ज्ञातानुपलब्धिजन्याभावज्ञानस्य अनुमानत्वात् । जन्यापरोक्षज्ञानस्य इन्द्रियजन्यत्वात् । अपरोक्षत्वं च ज्ञानकरणकान्यत्वम् ।

बनता है कि 'अभावग्रहे इन्द्रियाणि करणम्' अर्थात् अभावके ग्रहण करनेमें इन्द्रियाँ ही करण हैं । इस प्रतिज्ञाकी सिद्धिकेलिए २० तथा २९वीं कारिकाओंमें मिलाकर 'प्रतिपत्तेरपारोक्ष्यात्' आदि आठ हेतु दिए गए हैं । इनमेंसे पहिली कारिकामें चार हेतु दिए गए हैं । उस कारिकाका अर्थ निम्न प्रकार है—

प्रतिपत्ति अर्थात् अभाव प्रतीतिके अपरोक्ष होनेसे, [अधिकरणग्रहमें] इन्द्रिय [की शक्ति] के उपक्षीण न होनेसे, अज्ञात-करणक ज्ञान होनेसे, और मनके भावभूतकरण सहकृत रूप [में ही बाह्यानुभवके जनक होने] से [अभावग्रहमें इन्द्रिय ही करण है । [अनुपलब्धि नहीं । अर्थात् अभावका ग्रहण इन्द्रिय द्वारा ही होता है अनुपलब्धि द्वारा नहीं] ।

पहिला हेतु 'प्रतिपत्तेरपारोक्ष्यात्' है । अर्थात् अभावका ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान है और जन्य अपरोक्ष ज्ञान इन्द्रियजन्य ही होता है । अत एव अभाव ज्ञानमें इन्द्रिय ही करण है ।

इन्द्रियको अभावग्रहका करण माननेमें अनुपलब्धिवादीको यह आपत्ति है कि घटाभावके ज्ञानमें अधिकरणका ज्ञान भी आवश्यक है । उस अधिकरणभूत भूतलके ग्रहणमें इन्द्रियकी शक्ति क्षीण हो जाती है अत एव उससे अभावका ग्रहण नहीं हो सकता है । इसका उत्तर 'इन्द्रियस्यानुपक्षयात्' इस हेतुसे दिया है । अर्थात् अधिकरणग्रहणरूप अवान्तर व्यापारमें इन्द्रियकी शक्तिका क्षय नहीं होता । अन्यथा घटके प्रत्यक्षमें भी इन्द्रिय-संयोगादिरूप अथवा घटत्वादिग्रहणरूप अवान्तर व्यापारमें शक्तिका क्षय हो जानेपर घटादिका ग्रहण भी इन्द्रियसे नहीं होगा । वृत्ति भागकी पंक्तियोंका अर्थ इस प्रकार है—

जहाँ अज्ञात अनुपलब्धि कारण होती है वह प्रत्यक्ष होता है । ज्ञातानुपलब्धि [अर्थात् अनुपलब्धिके ज्ञान] से उत्पन्न ज्ञानके अनुमान होनेसे [ज्ञातानुपलब्धिजन्य अर्थात् अनुपलब्धि-ज्ञानसे उत्पन्न ज्ञान परोक्ष हो जायगा इसलिए जहाँ अनुपलब्धि-ज्ञान कारण नहीं है उसको अपरोक्ष प्रतीति कहेंगे] । और जन्य अपरोक्ष ज्ञानके इन्द्रियजन्यत्वका नियम होनेसे [अज्ञातानुपलब्धिजन्य अभाव-ज्ञान इन्द्रियजन्य ही है] ज्ञानकरणक ज्ञानसे भिन्न ज्ञानको अपरोक्ष कहते हैं ।

अर्थात् ज्ञानकरणक ज्ञान परोक्ष कहलाते हैं । जैसे अनुमानमें लिंग-ज्ञान करण होता है, उपमानमें सादृश्य-ज्ञान और शाब्दबोधमें पदज्ञान करण होता है ।

घटादिप्रत्यक्ष इव घटाभावाध्यक्षेऽपि इन्द्रियस्यान्यानुपक्षीणत्वात् करणत्वम्। अधिकरणप्रत्यक्षाभावेऽपि शब्दादिप्रध्वंसस्य, वायौ रूपाभावस्य च ग्रहात् अधिकरणग्रहेऽप्यनुपक्षयात्। अज्ञातकरणजन्यज्ञानत्वेन इन्द्रियजन्यत्वानुमानाच्च।

भावावेशाच्च चेतसः मनसः। अस्मदादिबाह्यानुभवस्य भावभूतकरणसचिवमनोजन्यत्वनियमात् नानुपलब्धिः करणं किन्त्विन्द्रियमेवेति ॥ २० ॥

इसलिए अनुमान, उपमान, और शब्द प्रमाणोंसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञान, ज्ञानकरणक ज्ञान हैं। वे सब परोक्ष ज्ञान कहे जाते हैं। प्रत्यक्षमें किसी वस्तुका ज्ञान, करण नहीं होता अपितु वस्तु स्वयं कारण होती है। इसलिए प्रत्यक्ष-ज्ञान, ज्ञानकरणक अनुमानादि ज्ञानोंसे भिन्न प्रकारका ज्ञान है। इसीलिए वह अपरोक्ष ज्ञान कहलाता है। अतः अपरोक्षका लक्षण 'ज्ञानकरणकान्यत्व' किया गया है। जन्य अपरोक्ष ज्ञान सदा इन्द्रिय जन्य ही होता है। घटाभावादिका ज्ञान अपरोक्ष रूप ही होता है अत एव वह इन्द्रिय जन्य है।

जैसे घटके प्रत्यक्षमें [होनेवाले अवान्तर व्यापार इन्द्रिय संयोगादि अथवा घटत्वादि जातिका ग्रहणमें] इन्द्रियकी शक्ति क्षीण नहीं होती उसी प्रकार घटाभावके प्रत्यक्षमें भी [बीचमें होनेवाले भूतल रूप अधिकरणके ग्रहण रूप अवान्तर व्यापारमें भी] इन्द्रियकी शक्ति क्षीण न होनेसे [अभाव ग्रहणमें इन्द्रिय ही करण है] [अधिकरणग्रहणमें इन्द्रियकी शक्तिका क्षय न माननेका एक कारण यह भी है कि जहाँ अधिकरणका-ग्रहण नहीं होता है और अभावका ग्रहण होता है जैसे आकाशमें शब्दके प्रध्वंसाभावका और वायुमें रूपाभावका ग्रहण होता है वहाँ यह नहीं कहा जासकता है कि अधिकरण-ग्रहण में इन्द्रियकी शक्ति क्षीण हो गई क्योंकि वहाँ इन्द्रियसे आकाश या वायु रूप अधिकरण, का ग्रहण होता ही नहीं है] अधिकरणके प्रत्यक्ष न होनेपर भी [आकाशमें] शब्दादिके प्रध्वंसाभावका और वायुमें रूपाभावका ग्रहण होनेसे [यहाँ इन्द्रियको ही अभावग्रहका करण माना जायगा। तब इसी उदाहरणसे अन्यत्र भी इन्द्रियको ही अभावग्रहका करण मानना उचित है।] अधिकरण-ग्रहमें भी शक्तिका क्षय न होनेसे [इन्द्रिय ही अभावग्रहमें करण है।] और अज्ञातकरणजन्य ज्ञान होनेसे [अभावग्रहमें] इन्द्रियजन्यत्वके अनुमानसे [अज्ञातकरणका ज्ञान अवश्य इन्द्रियजन्य ही होता है इस प्रकार अनुमानके आधारपर भी अभावग्रह इन्द्रियजन्य, इन्द्रियकरणक ही सिद्ध होता है]।

इसकेलिए चौथा हेतु देते हैं] मनके भावसहकृत [होकर ही अर्थग्राहक] होनेसे। हमारा [योगिभिन्न लौकिक पुरुषोंका] बाह्य अनुभव भावभूत करण [चक्षुरादि बाह्येन्द्रिय] सहकृत मनसे उत्पन्न होनेके नियम होनेसे अनुपलब्धि नहीं अपितु इन्दिय ही [अभावग्रहमें] करण है। यह [सिद्ध हुआ] ॥ २० ॥

अभावके ग्रहणमें इन्द्रिय ही करण होती है, अनुपलब्धि नहीं, इसकी सिद्धिके

साधकान्तरमाह—

प्रतियोगिनि सामर्थ्यात् व्यापाराव्यवधानतः।
अक्षाश्रयत्वाद्दोषाणां इन्द्रियाणि विकल्पनात्॥ २१॥

इन्द्रियाणि करणमिति साध्यम्। प्रतियोगिग्राहकत्वात्। यथानुमानं घटस्येव तदभावस्यापि ग्राहकं तद्वदिन्द्रियमपि। ननु प्रतियोगिग्राहकत्वमतन्त्रमनन्यथासिद्धत्वस्योपाधित्वात्। आश्रयग्रहेण इन्द्रियस्यान्यथासिद्धेरित्यत आह 'व्यापाराव्यवधानत' इति। व्यापारेणाधिकरणप्रत्यक्षेण इन्द्रियस्यान्यथासिद्ध्यभावात्। अन्यथा संयोगेन चक्षुरादिकमन्यथासिद्धं भावग्रहेऽपि स्यात्।

लिए श्रीउदयनाचार्यने आठ हेतु दिए हैं। उनमेंसे चार २०वीं कारिकामें और चार २१वींमें। २०वीं कारिकावाले चार हेतुओंकी व्याख्या समाप्त हो गई। अब २१वीं कारिकाकी व्याख्या प्रारम्भ करते हैं—

[अभावग्रहणमें इन्द्रियोंके करणत्वकी सिद्धिकेलिए] अन्य साधक [हेतु] कहते हैं—

५ प्रतियोगी [घटादि] के ग्रहणमें [इन्द्रियका ही] सामर्थ्य होनेसे [उसके अभाव के ग्रहणमें भी इन्द्रिय ही समर्थ है। 'येनेन्द्रियेण यद् द्रव्यं गृह्यते तेनैव तद्गता जातिः तदभावश्च गृह्यते'। जिस इन्द्रियसे जिस द्रव्यका ग्रहण होता है उसीसे उसके अभावका ग्रहण होता है यह नियम है। घटादिका ग्रहण इन्द्रियसे होता है अतः उसके अभावके ग्रहणमें भी इन्द्रियको ही करण मानना उचित है] ६ व्यापार [अर्थात् आश्रय ग्रहण रूप अवान्तर व्यापार] से व्यवधान [अर्थात् अभावग्रहमें इन्द्रियके अन्यथासिद्ध] न होनेसे, ७ [अभावभ्रमके अनेक पित्तादि] दोषोंके इन्द्रियनिष्ठ होनेसे और ८ ['घटाभाववद् भूतलम्' इस प्रतीतिके 'विकल्पनाम्' अर्थात्] विशिष्ट बुद्धि होने से [अभावग्रह में इन्द्रिय ही करण है [अनुपलब्धिकरण नहीं है। यह २१वीं कारिकाका अर्थ हुआ]। वृत्तिभागका अर्थ निम्नप्रकार है।

[अभावग्रहमें] इन्द्रिय [ही] करण है यह साध्य है। प्रतियोगी [घटादि] के ग्राहक होनेसे। जैसे अनुमान घटके समान घटाभावका भी ग्राहक होता है इसी प्रकार इन्द्रिय भी [जब घटका ग्रहण करती है तो उसके अभावका भी ग्रहण करानेमें वही करण होगी। इसपर पूर्वपक्षी शंका करता है कि] प्रतियोगिग्राहकत्व [इन्द्रियकी अभाव ग्रहणमें करणता सिद्ध करनेमें] कारण नहीं हो सकता है, अन्यथा सिद्धत्व उपाधिके होनेसे। आश्रय ग्रहण [अर्थात् भूतल आदिके प्रत्यक्षीकरण] में इन्द्रियके अन्यथा सिद्ध हो जानेसे [इन्द्रियको अभावग्रहमें करण नहीं माना जा सकता है। ऐसी शंका हो सकती है] इसलिये कहते हैं 'व्यापाराव्यवधानतः'। अधिकरण प्रत्यक्ष रूप [अवान्तर] व्यापारसे इन्द्रियके अन्यथा सिद्ध न होनेसे [इन्द्रिय ही अभाव ग्रहमें करण है]। अन्यथा [यदि अवान्तर व्यापारमें इन्द्रियको अन्यथासिद्ध मान लिया जाय तो] संयोग [रूप अवान्तर व्यापार] से चक्षु [घटादि] भाव [पदार्थ] के ग्रहणमें भी अन्यथा

किं चाभावभ्रमस्य दुष्टकरणजन्यत्वमवश्यं वाच्यम्। दोषश्चेन्द्रियादिनिष्ठ एव, अनुपलब्धेर्दोषवत्त्वाभावात्, पित्तादिना इन्द्रियस्यैव दुष्टत्वात्। तदिद-मुक्तं अक्षाश्रयत्वाद्दोषाणामिति।

सिद्ध हो जायगी [और भावोंका ग्रहण भी चक्षुसे नहीं हो सकेगा। अत एव अवान्तर व्यापारमें चक्षुरादिय इन्द्रियोंको अन्यथासिद्ध मानना उचित नहीं है]।

२० वीं कारिकामें 'इन्द्रियस्यानुपक्षयात्' हेतु दिया था, २१ वीं कारिका का यह 'व्यापाराव्यवधानतः' हेतु उससे बहुत कुछ मिलता-जुलता हेतु है। परन्तु फिर भी उन दोनोंमें अन्तर है। २० वीं कारिका वाले 'इन्द्रियस्यानुपक्षयात्' हेतुमें यह कहा था कि अधिकरणग्रहणमें इन्द्रियकी शक्तिका क्षय नहीं होता है। २१ वीं कारिका वाले इसे 'व्यापारानवधानतः' हेतुमें यह कहा गया है कि अधिकरण-ग्रहणरूप अवान्तर व्यापारमें इन्द्रिय 'अन्यथासिद्ध' नहीं होता है। बात तो एक ही है किन्तु कुछ थोड़े भेद से उसे दो तरह से कहा गया है।

एक बात और भी है कि भ्रम ज्ञानमें करणदोषके कारण होनेका नियम होनेसे जहाँ अभावका भ्रम होगा वहाँ उस अभावभ्रममें भी करण दोषको ही कारण मानना होगा। अब यदि अभाव-ग्रहणमें करण चक्षु है तो करणदोष अर्थात् चक्षुदोष और यदि करण अनुपलब्धि है तो करणदोष अर्थात् अनुपलब्धिदोष अभाव भ्रमका कारण होगा। इसमें इन्द्रिय तो पित्तादि दोषका आधार हो सकती है परन्तु अनुपलब्धि अभाव रूप होनेसे दोषका आधार नहीं हो सकती है [इसलिए भी इन्द्रियको ही करण मानना होगा। यही कहते हैं] अभाव भ्रमको दोषग्रस्त करणसे जन्य अवश्य मानना होगा और दोष इन्द्रियनिष्ठ ही हो सकता है अनुपलब्धिके दोषाश्रयत्व सम्भव न होनेसे और पित्तादिसे इन्द्रियादिके ही दूषित होनेसे। यही है बात 'अक्षाश्रयत्वाद्दोषाणां' इस सातवें हेतुसे कही है। इस 'अक्षाश्रयत्वाद्दोषाणां' हेतुसे सम्बद्ध वृत्तिभागकी पंक्तियोंका अर्थ निम्न प्रकार है।

और यह बात भी है कि अभाव भ्रमको दूषित करणसे जन्य अवश्य ही मानना होगा [क्योंकि भ्रम-स्थल में सर्वत्र करण-दोष ही कारण होता है] और [अभाव-भ्रमका जनक पित्तादि] दोष इन्द्रिय में ही रहता है, अनुपलब्धिके [अभाव रूप होनेसे] दोषाश्रय न हो सकने के कारण और [पीलिया रोग में] पित्तादिके द्वारा इन्द्रियके ही दूषित होनेसे [इन्द्रिय को ही अभावके ग्रहणमें करण मानना चाहिए]।

अन्तिम हेतु 'विकल्पनात्' है। 'विकल्पनात्'का अर्थ 'विशिष्टज्ञानात्' है। 'घटाभाव-वद् भूतलम्' यह ज्ञान विशिष्ट ज्ञान है। इसमें भूतल विशेष्य है घटाभाव विशेषण है। इन दोनोंका ग्रहण करनेवाला 'घटाभाववद् भूतलम्' यह ज्ञान विशिष्टज्ञान है। इसमेंसे विशेष्य रूप भूतलका ग्रहण आप अर्थात् अनुपलब्धिको अलग प्रमाण मानने वाले इन्द्रियसे मानते हैं और घटाभाव रूप विशेषणका ज्ञान अनुपलब्धिसे मानते हैं।

अधिकरणाभावयोर्विशिष्टधी नेन्द्रियजा अभावधीत्वात्। नानुपलब्धिकरणजा भावधीत्वादतोविशिष्टग्राहीन्द्रियं स्वीकार्यम्। तदिदमुक्तं विकल्पनात्, विशिष्टविषयकज्ञानात्॥ २१॥

यह उचित नहीं है। क्योंकि उस दशामें यह विशिष्ट ज्ञान न अनुपलब्धिजन्य होगा और न इन्द्रियजन्य। अनुपलब्धि केवल अभावको ग्रहण कर सकती है। भूतलको नहीं। इसलिए यह ज्ञान अनुपलब्धिजन्य नहीं हो सकता और इन्द्रिय आपके मतसे केवल भूतलको ग्रहण कर सकती है घटाभावको नहीं इसलिए यह विशिष्टज्ञान इन्द्रियजन्य भी नहीं हो सकेगा। इसलिए दोनों अंशोंका ग्रहण करनेवाला एक ही करण मानना अनिवार्य है और वह करण इन्द्रिय ही हो सकता है। इस प्रकार 'विकल्पनात्' अर्थात् 'विशिष्टविषयकज्ञानात्' इस आठवें हेतुसे भी अभावके ग्रहणमें इन्द्रियकी करणता सिद्ध होती है। 'विकल्पनात्' हेतुके वृत्ति-भागकी पंक्तियोंका शब्दार्थ इस प्रकार है—

अधिकरण [भूतल] और अभाव [घटाभाव] की विशिष्ट बुद्धि [घटाभाववद् भूतलम् यह ज्ञान] अभाव बुद्धि होनेसे इन्द्रियजन्य नहीं है और भाव बुद्धि होनेसे अनुपलब्धिजन्य नहीं है। इसलिए [भाव और अभाव दोनोंसे युक्त] विशिष्ट बुद्धिके ग्रहणकेलिए इन्द्रियको [ही करण] स्वीकार करना चाहिए। यह बात विकल्पनात् अर्थात् विशिष्ट विषयक ज्ञानात् इस हेतुसे कही है॥ २१॥

सिद्ध करने वाला पूर्वपक्ष—

ऊपरकी २१ वीं कारिकामें अन्तिम हेतु 'विकल्पनात्' दिया है। उसमें यह कहा गया है कि 'घटाभाववद्' भूतलम् इस ज्ञानमें भावरूप भूतल और अभाव रूप घटाभाव दोनों अंश सम्मिलित हैं। ऐसी दशामें यदि भावका ग्राहक इन्द्रियको और अभावका ग्राहक अनुपलब्धिको माना जायगा तो यह विशिष्ट ज्ञान इन्द्रिय और अनुपलब्धि किसीसे भी नहीं बनेगा। इसपर अनुपलब्धि-करणतावादी, नैयायिकके 'ज्ञानलक्षणा-प्रत्यासत्ति'के सिद्धान्तका आश्रय लेकर इस दोषका समाधान करनेका प्रयत्न करता है। नैयायिकोंने प्रत्यक्षके प्रयोजक सम्बन्धोंमें 'ज्ञानलक्षणा-प्रत्यासत्ति'को भी माना है। 'ज्ञानलक्षणा-प्रत्यासत्ति'का अभिप्राय यह है कि बुद्धिस्थ ज्ञान द्वारा भी इन्द्रियकी अर्थके साथ सम्बन्ध रूप प्रत्यासत्ति बन सकती है। इसका उदाहरण 'सुरभि चन्दनम्' है। 'सुरभि चन्दनम्' इस ज्ञानमें दो अंश हैं एक सौरभांश और दूसरा चन्दन-खंडांश। सौरभाशंका ग्रहण घ्राणेन्द्रियसे होता है और चन्दन-खंडांशका ग्रहण चक्षुसे होता है। इस प्रकार 'सुरभि चन्दनम्' यह ज्ञान दो अलग-अलग इन्द्रियोंसे होता है। परन्तु दोनों इन्द्रियोंको उसका कारण माननेमें वह ऊपर दिखलाये हुए प्रकारसे किसी भी इन्द्रियसे जन्य सिद्ध नहीं होगा। इसलिए नैयायिक इस ज्ञानको चाक्षुष प्रत्यक्ष मानता है। तब प्रश्न यह होता है कि सौरभांशमें यह

(१) नन्वनुपलब्ध्या घटाभावस्य ज्ञानं, ततश्च घटाभाववद्भूतलमिति ज्ञानं, घ्राणजसौरभोपनयनानन्तरं सुरभि चन्दनमिति चाक्षुषवत्। इत्यभावग्राहिकाऽनुपलब्धिः कारणतया वाच्या। (२) निर्विकल्पक विषयीकृत एव इन्द्रियेण सविकल्पकतया गृह्यते तथा दर्शनात्। (३) अभावेनेन्द्रियप्रत्यासत्तेरभावात् कथं वा प्रत्यक्षत्वम्। विशेषणतायाः सम्बन्धान्तरगर्भत्वात् अवश्यक्लृप्तकारणताकानुपलब्धेरेव करणत्वं नेन्द्रियस्येत्याह—

ज्ञान चाक्षुष कैसे होगा? सौरभके साथ तो चक्षुका सम्बन्ध न है और न हो सकता है। क्योंकि सौरभ तो घ्राणेन्द्रिय-ग्राह्य है चक्षुर्ग्राह्य नहीं। इस समस्याका हल करनेकेलिए नैयायिकने 'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति' मानी है। उसका आशय यह है कि यद्यपि चक्षुका सौरभके साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं है परन्तु सौरभका ज्ञान आत्मामें होता है आत्माके द्वारा उसका सम्बन्ध चक्षुसे भी हो जाता है इसप्रकार 'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति'से नैयायिक 'सुरभि चन्दनम्' इस ज्ञानको प्रत्यक्ष मानता है। उसी उदाहरणको लेकर अनुपलब्धि-प्रमाणवादी 'घटाभाववद् भूतलम्' इस विशिष्ट ज्ञान को चाक्षुष ज्ञान सिद्ध करना चाहता है। इसी पूर्वपक्षका उपपादन अलग २२वीं कारिकाके अवतरण ग्रन्थमें तीन हेतुओं द्वारा इस प्रकार किया है।

(१) अच्छा तो पहिले अनुपलब्धिसे घटाभावका ज्ञान और उसके बाद [चक्षुसे] 'घटाभाववद् भूतलम्' यह ज्ञान, घ्राणज सौरभ ज्ञानके बाद 'सुरभि चन्दनम्' इस चाक्षुष ज्ञानके समान [ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति द्वारा] हो सकता है। इसलिए अभावकी ग्राहिका अनुपलब्धिको ही करण रूपमें मानना चाहिए। (२) इसी कीं सिद्धिके लिए दूसरा हेतु देते हैं—[क्योंकि] निर्विकल्पक ज्ञानका [जो पहिले विषय हो चुका है वही] विषयीभूत अर्थ ही इन्द्रियसे सविकल्पक रूपमें ग्रहण किया जाता है। [क्योंकि] ऐसा देखा जाता है। [इसलिए अनुपलब्धि प्रमाणसे पहिले अभावका निर्विकल्पक ज्ञान हो जाता है पीछे इन्द्रिय द्वारा 'घटाभाववद् भूतलम्' यह सविकल्पक ज्ञान होता है। इसलिए भी अभावकी ग्राहिका अनुपलब्धि ही हो सकती है]। (३) इसी विषयमें तीसरा एक हेतु और देते हैं [कि] इन्द्रियके साथ अभावके [संयोग या समवाय] सम्बन्ध न होनेके कारण भी [इन्द्रिय द्वारा अभावका] प्रत्यक्ष कैसे होगा? [अभावका इन्द्रियके साथ यदि विशेष्य-विशेषणभाव सम्बन्ध कहना चाहें तो वह] विशेषणताके सम्बन्धान्तरगर्भ होनेसे [वह विशेष्य-विशेषणभाव सम्बन्ध भी नहीं बनेगा। जैसे 'घटवद् भूतलम्' यहाँ भूतलमें घट विशेषण है और उन दोनोंका संयोग सम्बन्ध है इसलिए यहाँ विशेषणता संयोग सम्बन्ध गर्भित है। इसी प्रकार 'घटवत् कपालम्' या 'पटवन्तः तन्तवः' यहाँ घटका कपालोंके साथ और पटका तन्तुओंके साथ 'समवाय' सम्बन्ध होनेसे यहाँ 'विशेषणता' समवाय सम्बन्ध गर्भित है। इस प्रकार विशेषणता संयोग या समवाय सम्बन्धगर्भा होगी। तो जब भूतलमें घटाभाव विशेषण है यह कहा जायगा तो यह

अवच्छेदग्रहध्रौव्यादध्रौव्ये सिद्धसाधनात्।
प्राप्त्यन्तरेऽनवस्थानान्न चेदन्योऽपि दुर्घटः॥ २२॥

प्रश्न स्वयं पैदा होगा कि यह अभाव भूतलमें किस सम्बन्धसे विशेषण है ? और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है अभावका किसीके साथ न संयोग बनता है और न समवाय। इसलिए अभाव भूतलमें न संयोग सम्बन्धसे विशेषण हो सकता है और न समवाय सम्बन्धसे। इसप्रकार घटाभावका विशेष्य-विशेषणभाव सम्बन्ध भी नहीं बन सकेगा]। और [अभावके निर्विकल्पक ज्ञानके लिए] अनुपलब्धिकी कारणता अवश्य माननी होगी [इसलिए घटाभावके ग्रहणमें] अनुपलब्धि ही करण है। इन्द्रिय नहीं। [यह पूर्वपक्ष हुआ]।

इस पूर्वपक्ष का खण्डन—

यह पूर्वपक्ष हुआ। इसका समाधान अगली २२वीं कारिकामें करना है। पूर्वपक्षने तीन युक्तियाँ दी थीं। इनमें से पहिली युक्ति का कोई उत्तर न देकर शेष दो बातों के उत्तर कारिकामें दिए गए हैं। कारिका का अर्थ निम्न प्रकार है—

[पूर्वपक्षमें दूसरी युक्ति यह दी थी कि अभावके निर्विकल्पक ज्ञानके लिए अनुपलब्धि ही करण हो सकती है। इसका उत्तर यह है कि अभाव ग्रहणमें] अवच्छेदग्रह अर्थात् प्रतियोगीका ग्रहण निश्चित होनेसे [वहाँ नियमतः सविकल्पक ही होता है। निर्विकल्पक नहीं] और यदि [प्रतियोगिग्रहण] निश्चित नहीं है तो [अभावका निर्विकल्पक तो होगा परन्तु वह इन्द्रियसे ही हो सकेगा इसलिए] सिद्धसाधन होगा। [इन्द्रियसे अभावके ग्रहणमें यह बाधा बताई थी कि अभावका इन्द्रियके साथ संयोग या समवाय सम्बन्ध बन नहीं सकता है और विशेष्य-विशेषण-भाव सम्बन्ध भी संयोग या समवाय रूप सम्बन्धान्तर पर आश्रित है अतः वह भी नहीं बन सकता है इसलिए अभाव भूतलमें विशेषण भी नहीं होता फिर विशेष्य-विशेषण भावसे भी उसका ग्रहण कैसे होगा ? इसका उत्तर यह है कि] अभावका अधिकरणके साथ स्वरूप सम्बन्ध है [क्योंकि] सम्बन्धान्तर [अर्थात् स्वरूप सम्बन्धके अतिरिक्त वैशिष्ट्यादि कोई] माननेमें अनवस्था होगी [इस लिए अभाव, स्वरूपसम्बन्धसे भूतलमें विशेषण है और चक्षुके साथ उसका 'इन्द्रियसम्बद्ध विशेषणता' सम्बन्ध है इसलिए इस सम्बन्धसे इन्द्रिय अभावका ग्रहण कर सकती है] यदि यह न मानें तो दूसरा पक्ष [अर्थात् अनुपलब्धिको कारण मानने वाला पक्ष, अथवा वैशिष्ट्य आदि कोई दूसरा सम्बन्ध] दुर्घट होगा। [अर्थात् अनुपलब्धिको पृथक् प्रमाण माननेपर उसका भी तो अभावके साथ कोई सम्बन्ध मानना ही होगा। नहीं तो बिना सम्बन्धके अनुपलब्धि प्रमाण भी अभावका ग्राहक कैसे होगा ? इसलिए अभावका अन्योंके साथ सम्बन्ध मानना अनिवार्य है। और 'घटाभावद्भूतलम्' इस प्रतीतिसे भूतलके साथ आपको भी घटाभावका कोई सम्बन्ध मानना ही होगा। वह सम्बन्ध स्वरूपके अतिरिक्त और कोई यदि माना

अवच्छेदग्रहस्य प्रतियोगिग्रहस्य अभावप्रत्यक्षहेतुत्वात्, नियमतः सविकल्पकज्ञानसामग्रीसत्वान्न निर्विकल्पकविषयत्वम्। घटादिग्रहे तु निर्विकल्पकमेव प्रथमतः, विशिष्टज्ञानहेतुविशेषणज्ञानाभावात्। प्रतियोग्यनुपहितस्याभावस्य भानाभ्युपगमे तु अभावस्यापि निर्विकल्पकविषयतेति सिद्धसाधनम्।

सम्बन्धान्तरेऽवस्थानात् स्वरूपमेवाभावस्याधिकरणेन सम्बन्धः। वैशिष्ट्यस्याभावसम्बन्धस्याङ्गीकृतस्यापि सम्बन्धधारायामनवस्थानात् स्वरूपसम्बन्धस्वीकारस्यावश्यंभावात्। इन्द्रियसम्बद्धविशेषणताया घटाभावादि-

---

जायगा तो अनवस्था होगी इसलिए अभावका अधिकरणके साथ स्वरूप सम्बन्ध माननेके अतिरिक्त और कोई मार्ग सम्भव नहीं है]।

यह कारिका का अर्थ हुआ। आगे वृत्तिकार इसकी व्याख्या निम्न प्रकार करते हैं—

अवच्छेदग्रह अर्थात् प्रतियोगिज्ञानके अभाव प्रत्यक्षमें हेतु होनेसे नियमतः सविकल्पक सामग्रीके होनेसे [अभावका] निर्विकल्पक [ज्ञान] नहीं होता है। घटादिके ग्रहणमें तो [घटत्व सामान्य विशिष्ट घट रूप] विशिष्टज्ञानके हेतु [घटत्वादि रूप] विशेषण ज्ञानके न होनेसे प्रथम [घटत्वादि रूप विशेषणांशका] निर्विकल्पक ज्ञान ही होता है। [परन्तु अभाव ग्रहणमें विशेषण रूप, घटादि प्रतियोगीका ज्ञान अवश्य रहता है इसलिए उसका सविकल्पक ज्ञान ही होता है] और प्रतियोगीसे अनुपहित अभावका ग्रहण यदि स्वीकार करें तब तो अभावकी भी निर्विकल्पक विषयता हो सकती है [अर्थात् अभावका भी निर्विकल्पक ज्ञान चक्षु द्वारा ही हो सकता है] इसलिए सिद्धसाधन होगा। [अर्थात् अभावके निर्विकल्पक ज्ञानकेलिए आप 'अनुपलब्धि' को पृथक् प्रमाण सिद्ध करना चाहते हैं सो वह तो, इन्द्रिय रूप करणसे ही सिद्ध है। इसलिए आपका यह प्रयत्न सिद्धसाधन मात्र फलक होगा]।

[इन्द्रिय द्वारा अभावके ग्रहणमें जो दूसरा यह दोष दिया था कि विशेष्य विशेषणभावके सम्बन्धान्तर गर्भ होनेसे अभाव भूतलमें विशेषण नहीं हो सकता है इसका उत्तर देते हैं कि–] अभावका अधिकरणके साथ अन्य [वैशिष्ट्यादि] सम्बन्ध माननेमें अनवस्था होनेसे अभावका अधिकरणके साथ स्वरूप सम्बन्ध ही है। वैशिष्ट्य [नामक अन्य] अभाव सम्बन्धके माननेपर भी [वह वैशिष्ट्य सम्बन्ध अभावके साथ किस सम्बन्धसे सम्बद्ध है इस प्रकार चलने वाली] सम्बन्ध धारा होनेपर अनवस्था आनेसे [अभावका अधिकरणके साथस्वरूप सम्बन्ध ही मानना होगा। इस स्वरूप सम्बन्धसे अभाव अधिकरणमें विशेषण सिद्ध हो सकेगा और] घटाभावादिके प्रत्यक्षमें [इन्द्रिय और अभावका] इन्द्रिय सम्बद्ध विशेषणतारूप सन्निकर्ष कल्पना करनेसे [इन्द्रिय द्वारा अभावका ग्रहण बन जायगा। अतः अनुपलब्धि प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होगी। अन्यथा यदि अभावका किसीके साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता ऐसा मानेंगे

प्रत्यक्षे सन्निकर्षतया कल्पनात्। न चेदेवं तदा अनुपलब्धिकारणतापक्षेऽपि अन्यप्रकारो दुर्घटः।

तथाहि सर्वैरेव प्रमाणैः परम्परया निर्विकल्पकस्य विषय एव गृह्यते। अनुमानादावपि वह्न्यादेः पूर्वं कदाचित् निर्विकल्पकस्वीकारात्। घटाभाववद्भूतलमित्यादिविशिष्टप्रत्ययबलात् अभावेनाधिकरणस्य प्राप्तेर्भवताऽपि स्वीकारात्॥ २२॥

स्तबकार्थसंग्राहकश्लोकमाह—

प्रत्यक्षादिभिरेभिरेवमधरो दूरे विरोधोदयः
प्रायो यन्मुखवीक्षणैकविधुरैरात्मापि नासाद्यते।
तं सर्वानुविधेयमेकमसमस्वच्छन्दलीलोत्सवं

तो] और यदि ऐसा नहीं है [अर्थात् अभावका अधिकरणके साथ स्वरूप सम्बन्ध नहीं हो तो अन्य प्रकार [अनुपलब्धि-कारणता पक्ष] भी दुर्घट है।

[अर्थात् अनुपलब्धिको प्रमाण मानकर भी उसका अभावके साथ कोई सम्बन्ध न होनेसे वह भी अभावकी ग्राहिका कैसे होगी ? रही अभावके निर्विकल्पक ज्ञानके लिए अनुपलब्धिको माननेकी बात सो] सो तो सबही प्रमाणोंसे परम्परया निर्विकल्प विषयका ही ग्रहण होता है। अनुमान आदिमें भी पहिले कभी वह्नि आदिका निर्विकल्पक माना जाता है [इसलिए अनुपलब्धिके बिना इन्द्रियसे भी अभावका निर्विकल्पक ज्ञान हो सकेगा। आपको अभावका इन्द्रियके साथ सम्बन्ध न बन सकनेकी जो शंका है वह ठीक नहीं है क्योंकि] 'घटाभाववद् भूतलम्' इस प्रतीतिके बलसे अभावके साथ अधिकरणका [कोई न कोई] सम्बन्ध आप भी मानते हैं [इसलिए उसी सम्बन्धसे अभाव भूतलमें विशेषण हो जायगा और फिर इन्द्रिय सम्बद्ध विशेषणता सम्बन्धसे इन्द्रिय द्वारा ही अभावका ही ग्रहण हो जानेपर अनुपलब्धिको अलग प्रमाण माननेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती है]॥ २२॥

स्तबकोपसंहार—

[इस] स्तबकके अर्थको [संक्षेपमें] संग्रह करनेवाला श्लोक कहते हैं—

इस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके साथ [अधरः] निराकृत किया हुआ विरोधका उदय तो दूर रहा, अपितु प्रायः जिस [ईश्वर] का सहारा लिए बिना [मुखनिरीक्षणैकविधुरैः] प्रत्यक्षादि प्रमाण स्वरूप लाभ भी नहीं कर सकते हैं, और समस्त [विश्व] जिनके वशीभूत है, अनुपम [सृष्टि निर्माणादि रूप] स्वच्छन्द लीला ही जिनको आह्लाददायक [उत्सव] है अत्यन्त श्रद्धासे आविष्ट होकर हम देवोंके भी देव [अथवा स्तुत्य] उस अद्वितीय परमात्मा [की शरण] को प्राप्त होते हैं॥

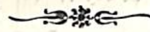
देवानामपि देवमुद्भवदतिश्रद्धाः प्रपद्यामहे ॥ २३ ॥

इति श्रीमदुदयनाचार्यविरचितायां न्यायकुसुमाञ्जलि-कारिकायां तृतीयस्तबकः समाप्तः ।



यस्येश्वरस्य मुखनिरीक्षणैकविधुरै धर्मिग्राहकमानबाधितैः प्रत्यक्षादिभिरात्मैव नासाद्यते विरोधोदयो यतो अधरः अत एव दूरे । सर्वमनुविधेयं वश्यं यस्येति । असमा स्वच्छन्दा चेतनान्तराप्रयोज्या या लीला सैवोत्सवो यस्य स तथा, दुःखाभावैकनिदानत्वात् । अत एव उद्भवदतिश्रद्धाः देवानामपि देवं स्तुत्यं प्रपद्यामहे ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्धरिदासभट्टाचार्यविरचिते कुसुमाञ्जलिकारिकाव्याख्याने तृतीयस्तबकः समाप्तः ।



आगे वृत्तिकार इस श्लोककी व्याख्या निम्न प्रकार करते हैं—

जिस ईश्वरकी मुखापेक्षाके बिना अर्थात् धर्मिग्राहक प्रमाणसे बाधित प्रत्यक्षादि प्रमाण अपना स्वरूप लाभ भी नहीं कर सकते हैं। [उन प्रत्यक्षादिका ईश्वरके साथ] विरोधका उदय क्योंकि खंडित किया जा चुका है इसलिए दूर [की बात है किसी प्रकार सम्भव नहीं] है। [सर्वानुविधेयका अर्थ] सब जिसके अनुविधेय अर्थात् वशीभूत हैं। अनुपम और स्वच्छन्द अर्थात् किसी अन्य चेतन द्वारा अप्रयोज्य जो [सृष्टि निर्माणादि रूप] लीला वही जिसका उत्सव है वह दुःखाभाव [रूप मोक्ष] के एकमात्र हेतु होनेसे वैसे [असमस्वच्छन्द लीलोत्सवम्] हैं। इसलिए अत्यन्त श्रद्धावेश युक्त [हम] देवोंके भी देव अर्थात् स्तुत्य उस परमात्माकी शरणमें प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

इति श्रीहरिदासभट्टाचार्यविरचित कुसुमाञ्जलि-परिमल-व्याख्यामें तृतीय स्तबक समाप्त हुआ ।



चतुर्थः स्तबकः

'सत्त्वेऽपि तस्याप्रमाणत्वात्' इति तुरीयविप्रतिपत्तिः। ईश्वरो न प्रमाणं तज्ज्ञानस्यागृहीतग्राहित्वाभावेन प्रमात्वाभावात्। ईश्वरस्य प्रमाकर्तृत्वं प्रमाकरणत्वं च नास्तीति अप्रमाणपुरुषस्य वचः कः श्रद्दध्यात् ? इत्यत्राह—

अप्राप्तेरधिकप्राप्तेरलक्षणमपूर्वदृक् ।
यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते ॥ १ ॥

अथ चतुर्थ स्तबक

ईश्वरीय ज्ञानमें अप्रमात्मका पूर्वपक्ष—

'सत्वेऽपि तस्याप्रमाणत्वात्' अर्थात् ईश्वरके होनेपर भी उसके प्रमाण न होनेसे, यह चतुर्थ विप्रतिपत्ति [जैन सिद्धान्तके अनुसार] है। [इन सभी विप्रतिपत्तियोंमें मूल विप्रतिपत्ति तो उस वादीके अनुसार कही जा सकती है परन्तु आगे जो उनका विवेचन किया गया है उनमें अन्य सिद्धान्तोंको भी पूर्वपक्षमें रखा गया है। इसी प्रकार इस स्तबकमें भी वेदान्त और मीमांसा आदिके सिद्धान्तकी दृष्टिसे प्रायः पूर्वपक्ष किए गए हैं। उनमें से पहिला पूर्वपक्ष यह है कि 'अगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमा' अर्थात् अनधिगत अर्थ, अज्ञात अर्थका ज्ञान 'प्रमा' कहलाता है। ईश्वरको यदि आप सर्वज्ञ मानते हैं तो उसका ज्ञान 'अगृहीतग्राहि' न होनेसे 'प्रमा' नहीं होगा। इसलिए] ईश्वर प्रमाण नहीं है, उसके ज्ञानके अगृहीतग्राही न होनेसे प्रमात्वका अभाव है। ईश्वर प्रमाका कर्ता अथवा प्रमाका करण नहीं है [अतः प्रमाण नहीं है। और] अप्रमाण पुरुषको बातपर कौन विश्वास करेगा ? [अर्थात् कोई विश्वास नहीं करेगा] इस [पूर्वपक्षके होने] पर [उसके समाधानार्थ कारिकाकार] कहते हैं—

इस पूर्वपक्षका खण्डन—

['अयं घटः अयं घटः' इस प्रकार अनेक क्षण तक होने वाले घटके धारावाहिक ज्ञानमें द्वितीयादि ज्ञानोंके गृहीतग्राही होनेसे 'अगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमा' यह लक्षण उसमें न घट सकनेसे] अव्याप्ति और [भ्रम-स्थलमें उस भ्रमके 'अगृहीतग्राही' होनेसे उसमें लक्षणकी] अतिव्याप्ति होनेसे 'अगृहीतग्राहित्व' प्रमाका लक्षण नहीं है। [तब प्रमाका क्या लक्षण है यह प्रश्न होनेपर स्वमतसे लक्षण करते हैं] अनपेक्ष अर्थात् 'ज्ञानान्तरानपेक्ष यथार्थ अनुभव को 'प्रमा' कहते हैं। [अर्थात् 'यथार्थानुभवः प्रमा' यह प्रमाका लक्षण है। आगे वृत्तिकार उसकी व्याख्या करते हैं]—

अपूर्वदृक्त्वमगृहीतग्राहित्वं न प्रमालक्षणम् । धारावहनबुद्ध्यव्याप्तेः, इदं रजतमिति भ्रमातिव्याप्तेश्च । स्वमते लक्षणमाह 'यथार्थ' इति । अनपेक्षतयेति स्मृतेर्जनकानुभवसमानविषयकतया तत्प्रामाण्याधीनप्रामाण्यकतया सापेक्षत्वात् , तत्र न प्रमाव्यवहारस्तांत्रिकाणामिति ॥ १ ॥

कारिकाकी व्याख्या अगली पंक्तियोंमें निम्न प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

'अपूर्वदृक्त्व' अर्थात् 'अगृहीतग्राहित्व' धारावाहिक बुद्धिमें अव्याप्त होनेसे और [शुक्तिमें होनेवाले] 'यह रजत है' इस भ्रम-ज्ञानमें अतिव्याप्त होनेसे 'प्रमा' का लक्षण नहीं है । [इसपर प्रश्न होता है कि यदि 'अगृहीतग्राहित्व' प्रमाका लक्षण नहीं है तब आपके मतमें प्रमाका क्या लक्षण है ? इसपर नैयायिक] अपने मतमें [प्रमाका] लक्षण कहते हैं । 'यथार्थानुभवः' इत्यादि । 'अनपेक्षतया' इस [विशेषणके द्वारा अनुभव-सापेक्ष स्मृतिके प्रमात्वका वारण किया है क्योंकि] स्मृतिके अपने उत्पन्न करनेवाले अनुभवकी अपेक्षा रखनेसे और उस [अनुभव] के प्रामाण्यके अधीन [अर्थात् यदि अनुभव प्रमाणिक है तो उस अनुभवसे जन्य संस्कार द्वारा उत्पन्न स्मृति भी प्रमाण हो सकती है अन्यथा नहीं] प्रामाण्यवाली होनेसे [उसके] सापेक्ष होनेसे उस [स्मृति] में शास्त्रकार 'प्रमा' व्यवहार नहीं करते हैं [अर्थात् स्मृतिको शास्त्रकारोंने 'प्रमा' नहीं माना है इस प्रकार नैयायिक मतमें 'यथार्थानुभवः प्रमा' यह प्रमाका लक्षण है । 'अगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमा' यह लक्षण न होनेसे, और 'यथार्थानुभवः प्रमा' इस प्रमा-लक्षणके होनेसे ईश्वरका ज्ञान प्रमा और ईश्वर प्रमाणभूत है] ॥ १ ॥

ज्ञातताके आधारपर अव्याप्तिका वारण—

पिछली कारिकामें नैयायिकने 'अगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमा' इस लक्षणका खण्डन करनेकेलिए धारावाहिक-बुद्धि-स्थलमें अव्याप्ति दोष दिखलाया था । इसपर मीमांसक स्वाभिमत 'ज्ञातता' धर्मका अवलम्बन कर उस अव्याप्तिका परिहार करनेका प्रयत्न करता है । मीमांसक विषय-नियमके उपपादन करनेकेलिए मीमांसक घटादिमें ज्ञानजन्य एक 'ज्ञातता' नामक धर्मकी उत्पत्ति मानता है । उसका कहना है कि 'अयं घटः' इस ज्ञानका विषय घट होता है पट नहीं इसका क्या कारण है ? नैयायिक आदिके पास इस प्रश्नका कोई समाधान नहीं है । नैयायिक आदि अधिक से अधिक 'तदुत्पत्ति' अथवा 'तादात्म्य' के आधारपर इस प्रश्नके समाधानका प्रयास कर सकते हैं । परन्तु वे दोनों प्रकार इस प्रश्नके समाधानकेलिए पर्याप्त नहीं हैं । 'तदुत्पत्ति' पक्षसे समाधानका अर्थ यह है कि घटज्ञानका विषय घट इसलिए है कि घटज्ञान घटसे पैदा होता है । और पटसे पैदा नहीं होता इसलिए पट उसका विषय नहीं है । यह 'तदुत्पत्ति' पक्षका समाधान है । परन्तु यदि उससे उत्पन्न होनेके आधारपर ही विषय-विषयिभाव मान लिया जाय तब तो घटज्ञान आलोकसे भी उत्पन्न होता है और इन्द्रिय भी उसकी उत्पत्तिका कारण होती है ।

इसलिए आलोक और इन्द्रियको भी 'अयं घटः' इस ज्ञानका विषय मानना चाहिए। परन्तु ऐसा तो कोई भी नहीं मानता है। इसी प्रकार यदि कार्य-कारणका 'तादात्म्य' माननेवाले सांख्य वेदान्तादि मतमें ज्ञान और विषयका 'तादात्म्य' मानकर घट-ज्ञानका घटके साथ 'तादात्म्य' होनेसे घट उसका विषय है और पटके साथ तादात्म्य न होनेसे पट उसका विषय नहीं है, यह समाधान कर सकते हैं। परन्तु यह समाधान भी इसलिए ठीक नहीं है कि घट और ज्ञानका 'तादात्म्य' मानना अनुभव तथा तर्कके विपरीत है। घट 'बाह्य' पदार्थ है और ज्ञान 'आन्तर', इसलिए उन दोनोंमें तादात्म्य नहीं हो सकता है। इस प्रकार अन्य वादियोंकी ओरसे विषय-विषयि-भावके उपपादन करनेके जो दो मार्ग प्रस्तुत किए जा सकते थे वे दोनों ही सदोष मार्ग हैं। इसलिए उनके आधारपर विषय-विषयिभावका निर्धारण नहीं हो सकता है। तब मीमांसक कहता है कि इसका समाधान हमारे 'ज्ञातता' धर्मके आधार पर हो सकता है। इस 'ज्ञातता' धर्मका आशय यह है कि 'अयं घटः' आदि ज्ञान होनेके पश्चात् इस ज्ञानसे घटमें 'ज्ञातता' नामक धर्म उत्पन्न होता है। यह 'ज्ञातता' नामक धर्म 'अयं घटः' इस ज्ञानसे पहिले नहीं था और इस ज्ञानके बाद उत्पन्न हुआ इसलिए वह 'अयं घटः' इस ज्ञानसे ही उत्पन्न हुआ है यह निश्चय होता है। 'अयं घटः' इस ज्ञानसे उत्पन्न होने वाली 'ज्ञातता' घटमें रहती है पटमें नहीं इसलिए इस 'ज्ञातता' का आश्रय होनेसे घट ही उस ज्ञानका विषय होता है पट नहीं। इस प्रकार मीमांसक विषय-नियमका उपपादन करनेकेलिए घटादिनिष्ठ 'ज्ञातता' धर्मकी कल्पना करते हैं। अर्थात् 'विषयत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति'से 'ज्ञातता'की सिद्धि होती है'। यह मीमांसकका अभिप्राय है।

यदि मीमांसकके इस 'ज्ञातता' पदार्थको मान लिया जाय तो फिर धारावाहिक बुद्धि स्थलमें आनेवाली अव्याप्तिका वारण भी सरलतासे हो जाता है। धारावाहिक बुद्धि स्थलमें अव्याप्ति दोष आनेका कारण यह था कि यदि पाँच मिनट तक बराबर धाराप्रवाह रूपसे 'घटः, घटः, घटः' इस प्रकारका ज्ञान होता रहे तो प्रथम ज्ञान तो अगृहीत घटका ग्राहक होने 'प्रमा' कहा जायगा। परन्तु द्वितीयादि ज्ञान तो गृहीत घटको ही ग्रहण करने वाले हैं, अत एव वे सब 'अगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमा' इस लक्षणके अनुसार 'प्रमा' कोटिमें नहीं आ सकेंगे। परन्तु जब 'ज्ञातता' पदार्थको मान लेते हैं तब यह अव्याप्ति दोष नहीं रहता है। क्योंकि प्रथम बार जो घटका ग्रहण हुआ वह तो अगृहीत घटका ग्रहण था ही। उसके बाद उसके ज्ञानसे उस घटमें 'ज्ञातता' नामक धर्म उत्पन्न हो गया इसलिए द्वितीयज्ञान 'ज्ञातता विशिष्ट' घटका ज्ञान होनेसे अगृहीतग्राही ज्ञान है। इसी प्रकार अगले-अगले ज्ञानोंसे उत्पन्न 'ज्ञातता' का आश्रय होनेसे वे सब ही घट अगृहीत-तुल्य हैं और उन सबका ही ज्ञान 'अगृहीतग्राही' ज्ञान है। इस प्रकार धारावाहिक बुद्धि स्थलमें आनेवाले

ननु धारावाहिके नाव्याप्तिः ज्ञानेन हि विषयनिष्ठो धर्मः कश्चिज्जननीयः। अन्यथा ज्ञानस्य विषयं प्रति नियमो न स्यात्। तथा च तमादायागृहीतग्राहित्वमेव।

किञ्च स धर्मस्तदुपादानज्ञानजन्यो न वा। आद्ये, उपादानज्ञानस्य

अव्याप्ति दोषका परिहार सम्भव होनेसे 'अगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमा' इस लक्षणको माननेमें कोई बाधा नहीं है। यह मीमांसकका अभिप्राय है।

ज्ञातताका खण्डन—

नैयायिक, इस मीमांसकके पक्षका खण्डन दो प्रकारसे करते हैं। एक तो यह कि 'ज्ञातता'के माननेपर भी प्रत्येक क्षणमें उत्पन्न नई-नई 'ज्ञातता' के आधारपर जो घटोंका भेद सिद्ध किया गया है वह भेद अनुभवमें नहीं आ सकता है। क्षण बहुत सूक्ष्म काल है। उसके भेदसे घटोंमें माने जानेवाले भेदका अनुभव नहीं हो सकता है। यदि इस सूक्ष्मकालभेदका अनुभव हो सके तो पतन स्थलमें होनेवाले चार अवान्तर व्यापारोंका अनुभव होना चाहिए। जैसे मेज़परसे पुस्तक गिरती है तब पहिले क्षणमें पुस्तकमें क्रिया उत्पन्न होती है। दूसरे क्षणमें क्रियासे विभाग, तीसरे क्षणमें विभागसे पूर्व संयोग नाश, और तब चतुर्थ क्षणमें उत्तरदेश-संयोग होता है। परन्तु इन चारोंकी अलग-अलग प्रतीति न होकर यौगपद्य-प्रतीत होती है। इसका कारण कालभेदकी परम सूक्ष्मता ही है। इसी सूक्ष्मताके कारण उत्पन्न शतपत्र भेदनमें होनेवाले क्रमका अनुभव नहीं होता है। इसीलिए 'ज्ञातता' के मानने पर भी प्रथमक्षणके ज्ञानसे जन्य ज्ञातताके आधारभूत घटको द्वितीयक्षणजन्य-ज्ञातताधार घटसे भेदपूर्वक ग्रहण करना सम्भव नहीं है। अत एव धारावाहिक-बुद्धि-स्थलमें अव्याप्ति रहेगी ही। यह 'अगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमा' इस प्रमा लक्षणके खण्डनका एक प्रकार है।

दूसरा प्रकार 'ज्ञातता' का ही खण्डन है। यह दूसरी कारिका उस ज्ञातता धर्मके खण्डनकेलिए ही लिखी गई है। इसलिए उसके पहिले, अवतरणिका रूपमें व्याख्याकारने मीमांसकके पूर्वपक्षको इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

अच्छा, [पिछली कारिकामें 'अगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमा' इस प्रमा लक्षणकी धारा-वाहिक-बुद्धिस्थलमें जो अव्याप्ति दिखाई है वह] धारावाहिक बुद्धिस्थलमें अव्याप्ति नहीं होती। क्योंकि ज्ञानको विषयनिष्ठ किसी धर्मको अवश्य उत्पन्न करना होगा अन्यथा ज्ञानका विषयके प्रति नियम नहीं बनेगा। इसलिए उस धर्म [ज्ञातता] को लेकर ही [घटोंमें भेद हो जानेसे] अगृहीतग्राहित्व ही होगा।

और वह [ज्ञातता रूप] धर्म उसके उपादानभूत [घटज्ञान] ज्ञानसे जन्य है या नहीं। प्रथम पक्षमें [अर्थात् उपादान भूत घटज्ञानसे 'ज्ञातता' धर्म उत्पन्न होता है यह मानें तो] उपादान [अर्थात् घटादि ज्ञान] के ज्ञानकी विषयता [अर्थात् घट ज्ञानका विषय

उपादानविषयतानियमार्थं धर्मान्तरस्वीकारे तत्राप्येवमित्यनवस्था। द्वितीये, कार्यत्वं हेतुः तत्रैव उपादानज्ञानजन्यत्वव्यभिचारीति नेश्वरस्य क्षित्यादि-कर्तृतया सिद्धिः।

घट होता है इसलिए उस घटमें 'ज्ञातता' धर्म मानते हैं। इसीप्रकार घट ज्ञानका भी ज्ञान होता है, उस ज्ञानका विषय 'घटज्ञान' होता है अत एव उस 'घटज्ञान' में भी 'ज्ञातता' माननी होगी। इसी प्रकार उस द्वितीय ज्ञानका भी ज्ञान होता है इसलिए उस उपादानभूत ज्ञानमें [विषयता,] के नियमके लिए दूसरे धर्म [अर्थात् दूसरी 'ज्ञातता'] के स्वीकार करनेपर 'अनवस्था' दोष होगा। [यह दोष वस्तुतः मीमांसकके 'ज्ञातता' सिद्धान्तपर आता है। और नैयायिक 'ज्ञातता' सिद्धान्तका खण्डन करनेमें यह भी एक दोष प्रस्तुत करता है परन्तु यहाँ मीमांसक यह समझकर कि नैयायिक भी विषय नियमके लिए 'ज्ञातता' का आश्रय अवश्य लेगा उसके ऊपर यह दोष दे रहा है] दूसरे पक्षमें [अर्थात् ज्ञातता धर्म उपादानके ज्ञानसे जन्य नहीं है अपितु ज्ञानकी सामग्री चक्षुरादिसे जन्य है यह माने तो] कार्यत्व हेतु उसी [ज्ञातता रूप धर्म] में उपादान ज्ञानजन्यत्वका व्यभिचारी होगा। इसलिए क्षित्यादि कर्तृतया ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

इसका आशय यह है कि नैयायिक 'उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्वं कर्तृत्वम्' इसप्रकार कर्तृत्वका लक्षण करते हैं। अर्थात् जिसको 'उपादान गोचर अपरोक्ष ज्ञान' हो जिसमें 'चिकीर्षा' अर्थात् कर्तुं इच्छा कार्य करनेकी इच्छा हो, और तदनुसार 'कृति' व्यापार हो वह 'कर्ता' कहलाता है। कर्ताके इस लक्षणमें 'उपादानगोचर ज्ञान'का भी अन्तर्भाव है। अब जब नैयायिक यह अनुमान करता है कि 'क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्' तो इसकी व्याप्ति 'यत्र यत्र कार्यत्वं तत्र तत्र सकर्तृकत्वम्' यह बनेगी। अर्थात् जहाँ जहाँ कार्यत्व है वहाँ वहाँ सकर्तृत्व है इस व्याप्तिके अनुसार 'ज्ञातता' धर्ममें कार्यत्व हेतु होनेसे सकर्तृकत्व भी होना चाहिए। सकर्तृत्वका अर्थ हुआ 'उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यत्व'। अर्थात् ज्ञातता धर्मकी उत्पत्तिमें उपादानगोचरापरोक्षज्ञान, चिकीर्षा और कृति तीनोंको हेतु होना चाहिए। परन्तु आप द्वितीय पक्ष मान रहे हैं उसके अनुसार 'ज्ञातता' धर्म उपादानज्ञानजन्य नहीं है। इसलिए 'ज्ञातता' धर्ममें कार्यत्व हेतु रहनेपर भी 'उपादानगोचरापरोक्षज्ञानजन्यत्व' न होनेसे कार्यत्व हेतु व्यभिचारी हेतु है। अत एव उसके आधारपर 'क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात घटवत्' यह अनुमान नहीं बन सकता है। इसलिए 'क्षित्यादिकर्तृतया' ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

इस पूर्वपक्षका उत्तर करनेके लिए दूसरी कारिका लिखी गई है। उसका आशय यह है कि न्याय सिद्धान्तमें विषय-नियमकी व्यवस्थाके लिए 'ज्ञातता' धर्मका मानना उचित नहीं है। ज्ञान और विषयका विषय-विषयिभाव सम्बन्ध 'स्वाभाविक' है। ज्ञातताके आधारपर नहीं। यदि ज्ञातताका आश्रय होनेसेही घटादिको विषय कहा जाय तो वर्तमान पदार्थोंमें तो कथञ्चित् बन भी सके परन्तु अतीत और अनागत पदर्थोंकी

इत्यत्राह—

स्वभावनियमाभावादुपकारो हि दुर्घटः ।
सुघटत्वेऽपि सत्यर्थेऽसति का गतिरन्यथा ॥ २ ॥

विषयता नहींबन सकेगी। क्योंकि अतीत और अनागत पदार्थ इस समय विद्यमान नहीं हैं और उनका ज्ञान इतिहास आदि तथा ज्योतिष आदिसे होता है। अत एव वे अपने ज्ञानका विषय होते ही हैं। परन्तु यदि 'ज्ञातता' का आधार होनेसे उनको विषय माना जाय तब तो धर्मी रूप अतीत अनागत पदार्थोंके अविद्यमान होनेसे उनमें 'ज्ञातता' धर्म नहीं उत्पन्न हो सकता है। इस कारण वह ज्ञानके विषय नहीं होंगे। अत एव ज्ञातताके आधारपर विषय-नियम मानना असंगत है। इस पक्षमें दूसरा दोष अनवस्था है जो अभी प्रथम पक्षके निरूपणमें दिखलाया जा चुका है। अत एव विषय-नियमके उपपादनके लिए 'ज्ञातता'का मानना ठीक नहीं है अपितु ज्ञान और विषयका स्वाभाविक 'विषय-विषयिभाव' सम्बन्ध मानना होगा। इसी बातको कारिकाकारने दूसरी कारिकामें इसप्रकार कहा है—

[विषय और ज्ञानके विषय-विषयिभावमें यदि] स्वभावको नियामक न माना जाय [अर्थात् विषय-विषयिभावको स्वाभाविक सम्बन्ध न माना जाय] तो [ज्ञातता द्वारा भी विषय-नियमका उपपादन रूप] उपकार दुर्घट है। [अर्थात् ज्ञातताके माननेपर भी, यदि यह प्रश्न किया जाय कि घटज्ञानसे उत्पन्न ज्ञातता घटमें ही क्यों रहती है पटमें क्यों नहीं रहती तो इस प्रश्नका उत्तर स्वभावके अतिरिक्त और किसी आधारपर नहीं दिया जा सकता है। यही कहना होगा कि यह ज्ञानका स्वभाव है कि वह घटमें ही ज्ञातताको उत्पन्न करता है और जब यहाँ आकर स्वभाव-नियमको मानना ही पड़ता है तब ज्ञातताके पहिले ही विषय-नियमके उपादानके लिए विषय-विषयिभावको स्वाभाविक मान लेना उचित है। उस दशा में ज्ञातताकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसप्रकार अनवस्था आदि दोषोंके साथ यह दोष भी होनेके कारण ज्ञातताका मानना असङ्गत है] और 'सति' अर्थात् विद्यमान अर्थ—वर्तमान वस्तु—में [ज्ञातताके आधारपर कथञ्चित् विषय नियम] बन जानेपर भी, [असत् अर्थात् अतीत और अनागत रूप] अविद्यमान पदार्थोमें [धर्मीके अभावमें 'ज्ञातता' रूप धर्मकी उत्पत्ति असम्भव होनेसे स्वभाव नियमके माने बिना] और क्या गति हो सकेगी ? [अर्थात् अन्य कोई मार्ग नहीं निकल सकता है। इसलिए जब अतीत अनागत पदार्थोमें विषय-विषयिभावको स्वाभाविक मानते हैं तब वर्तमान पदार्थोंमें भी विषय-विषयिभावको स्वाभाविक ही मानना उचित है। ज्ञातताके आश्रय होनेके कारण नहीं]।

स्वभावविशेष एव विषयतानियामकः। अन्यथा ज्ञातताधानेऽपि नियमानुपपत्तिरिति स्वभाव एव नियामकस्तत्रेति। किञ्च वर्तमानविषये तदुत्पत्तावपि अविद्यमाने विषये ज्ञातताया उपादानविरहादनुत्पत्तौ विषयनियमानुपपत्तिरिति स्वभाव एव तत्र नियामक इति ॥ २ ॥

ननु क्रियया कर्मणि किञ्चिज्जननीयम्, इति व्याप्तेर्ज्ञानक्रिययाऽपि विषयनिष्ठो धर्मो जननीयः। इत्यत्राह—

अनैकान्तादसिद्धेर्वा न च लिङ्गमिह क्रिया।
तद्वैशिष्ट्यप्रकाशत्वान्नाध्यक्षानुभवोऽधिके ॥ ३ ॥

आगे वृत्तिकार इसी कारिकाकी व्याख्या निम्न प्रकार करते हैं—

[घटादि विषय और उनके ज्ञानमें] स्वभाव विशेष ही विषयताका नियामक [हो सकता] है। अन्यथा [यदि स्वभाव विशेषको नियामक न माना जाय तो घटादिमें] ज्ञातताका आधान माननेपर भी विषय [विषयिभावरूप] नियम नहीं बन सकता है। [क्योंकि 'अयं घटः' इस ज्ञानसे उत्पन्न ज्ञातता घटमें ही क्यों रहती है पटमें क्यों नहीं रहती इस प्रश्नका समाधान सिवाय स्वभावका आश्रय लिए अन्य प्रकारसे असम्भव है] इसलिए स्वभाव ही उस [विषयता] में नियामक है और वर्तमान विषयमें उस [ज्ञातता] की उत्पत्ति सम्भव होनेपर भी अविद्यमान [अतीत अनागत] विषयमें उपादान [अर्थात् धर्मी रूप अतीत पदार्थोंमें] न होनेसे ज्ञातताकी उत्पत्ति न होनेपर विषयता नहीं बन सकेगी इसलिए स्वभाव ही उस [विषयता] का नियामक है ॥ २ ॥

ज्ञाततावादी मीमांसकका पुनः पूर्वपक्ष—

[इसपर ज्ञाततावादी मीमांसक फिर, पूर्वपक्ष करता है कि—] क्रियाको कर्ममें कुछ [विशेष धर्म] अवश्य उत्पन्न करना चाहिए [क्योंकि 'परसमवेतक्रियाजन्यफलाश्रयत्वं कर्मत्वं' यह 'कर्म' का लक्षण है। इसके अनुसार क्रियाजन्य फलका आश्रय होनेपरही कोई 'कर्म' हो सकता है। अतएव क्रियाको 'कर्म' में कुछ अवश्य पैदा करना चाहिए] इस व्याप्तिके कारण ज्ञान क्रियाको भी [कर्मभूत] विषयमें रहनेवाले [ज्ञातता रूप] धर्मको उत्पन्न करना चाहिये। इस [पूर्वपक्षके होने] पर [उसके खण्डनके लिए कारिकाकार] कहते हैं—

इस पूर्वपक्षका खण्डन—

अनैकान्तिकत्व अथवा स्वरूपासिद्धि होनेके कारण क्रिया 'ज्ञातता' की सिद्धिमें लिङ्ग नहीं बन सकती है। 'विशिष्ट बुद्धि' में विशेष्य, विशेषण और उनके सम्बन्धका ही भान होनेसे उससे अधिक [ज्ञातता रूप धर्मके विषय] में प्रत्यक्ष अनुभव भी नहीं हो सकता है। [अर्थात् ज्ञातताकी सिद्धि न क्रियाको लिङ्ग मानकर अनुमान द्वारा हो सकती है और न प्रत्यक्ष द्वारा। शब्द और उपमानका तो वह विषय ही नहीं है और 'अर्थापत्ति' प्रमाण नहीं है। इसलिए 'ज्ञातता' का मानना सर्वथा अप्रामाणिक है]।

क्रिया यदि धात्वर्थस्तदा 'शरेण गगनं युनक्ति' इत्यत्र संयोगेन गगननिष्ठकिञ्चिदजननात्, अनैकान्तः। यदि करणव्यापारः क्रिया तदापीन्द्रियसंयोगादिना घटादिनिष्ठकिञ्चिदजननाद् व्यभिचारः। अथ क्रिया स्पन्दस्तदा ज्ञानस्य स्पन्दनात्मकत्वादसिद्धिः।

ननु ज्ञातो घटः, साक्षात्कृतो घटः इत्यादि प्रत्यक्षमेव ज्ञाततायां मानमि-

---

इसी की व्याख्याकारने इस प्रकार व्याख्या की है—

[क्रिया शब्दके तीन अर्थ हो सकते हैं—१. धात्वर्थ, २. करण-व्यापार, ३. स्पन्द अर्थात् गति। इनमेंसे यदि पहिले दो अर्थोंमेंसे कोई लें तो, क्रिया हेतुमें अनैकान्तिकत्व दोष आवेगा और यदि अन्तिम 'स्पन्द' रूप अर्थ लें तो स्वरूपासिद्धि होगी इसको दिखलाते हैं]। क्रिया [का अर्थ] यदि १ धात्वर्थ है तो 'शरेण गगनं युनक्ति' आकाशको बाणसे युक्त करता है इसमें [युज् धात्वर्थ] संयोगके आकाश में [उसके कूटस्थ नित्य होनेसे] कुछ [भी] उत्पन्न न करनेसे [क्रिया हेतु] अनैकान्तिक है। [अर्थात् संयोगमें धात्वर्थत्व तो है परन्तु 'कर्मनिष्ठ किञ्चिज्जनकत्व' नहीं है। वह क्रिया रूप धात्वर्थ, कर्म रूप आकाशमें कुछ उत्पन्न नहीं करता इसलिए अनैकान्तिक है]। २ यदि करण [इन्द्रियादि] के व्यापारको क्रिया मानें तो भी इन्द्रिय संयोगादि [रूप करण व्यापारात्मिका क्रिया] से [कर्म रूप] घटादिनिष्ठ किसी [धर्म विशेष] के उत्पन्न न होनेसे व्यभिचार [अनैकान्तिकत्व] होगा। [इन्द्रिय संयोगादिरूप करण-व्यापारसे आत्मामें ज्ञान उत्पन्न होता है परन्तु उससे कर्मरूप घटादिमें कुछ उत्पन्न नहीं होता है इसलिए इन्द्रिय संयोगादिमें करणव्यापाररूप क्रियात्व रहनेपर भी 'कर्मनिष्ठ किञ्चिज्जनकत्व' रूप साध्यका अभाव होनेसे अनैकान्तिकत्व होता है]। और यदि क्रिया [पदसे] ३ 'स्पन्द' अर्थात् गति ['स्पदि किञ्चिचलने' धातुसे निष्पन्न 'स्पन्द' शब्द गति बोधक है] अर्थ लिया जाय तो ज्ञानके 'स्पन्द' रूप न होनेसे स्वरूपासिद्धि होगी।

यहाँ अनुमानका स्वरूप यह होगा कि 'ज्ञानं घटनिष्ठकिञ्चिज्जनकं क्रियात्वात्'। इसमें ज्ञान 'पक्ष' है, 'घटनिष्ठकिञ्चिज्जनकत्व' साध्य है और 'क्रियात्व' हेतु है। यहाँ पक्ष रूप ज्ञानमें 'स्पन्द' या गति रूप क्रियात्व नहीं रहता है। इसलिए 'यो हेतुराश्रये नावगम्यते स स्वरूपासिद्धः' जो हेतु आश्रय अर्थात् पक्षमें न रहे उसको 'स्वरूपासिद्ध' हेत्वाभास कहते हैं। इस लक्षणके अनुसार 'क्रियात्वात्' अर्थात् 'स्पन्दरूपक्रियात्वात्' यह हेतु आश्रय अर्थात् 'पक्ष' भूत ज्ञानमें न रहनेसे 'स्वरूपासिद्ध' हेत्वाभास हो जाता है। इसलिए उससे साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है। इस प्रकार क्रिया शब्दका कोई भी अर्थ करें परन्तु उसमें अनैकान्तिकत्व अथवा स्वरूपासिद्धि दोष आ जाते हैं अत एव ज्ञातताकी सिद्धिमें क्रिया हेतु या लिङ्ग नहीं हो सकती है।

प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञाततासिद्धिका पूर्वपक्ष—

अच्छा तो 'ज्ञातो घटः, साक्षात्कृतो घटः' [इत्यादि ज्ञानमें ज्ञातता विशिष्ट घटकी

त्यत्राह तद्वैशिष्ट्येति। सर्वत्र विशिष्टज्ञाने विशेषण-विशेष्ये तदुभयसम्बन्धो विषयः। स च सम्बन्धः क्वचित् संयोगादिः क्वचित्तु स्वरूपम्। तदिह घटज्ञानमित्यत्रेव घटज्ञानयोः स्वरूप एव सम्बन्धः ज्ञातो घट इत्यत्रापि भासते। अन्यथा 'इष्टो घटः' 'कृतो घटः' इत्यत्र इष्टताकृततयोरप्यापत्तेः। स्वभावसम्बन्धादुपपत्तिस्तुल्या ॥ ३ ॥

तदुच्यते—

अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम्।
क्रिययैव विशेषो हि व्यवहारेषु कर्मणाम् ॥ ४ ॥

प्रतीति होनेसे] इस प्रकारका प्रत्यक्ष ही 'ज्ञातता' [की सिद्धि] में प्रमाण है इस [शङ्काके होने] पर कहते हैं 'तद्वैशिष्ट्यप्रकाशत्वान्नाध्यक्षानुभवोऽधिके'। [दण्डी पुरुषः इत्यादि] विशिष्ट ज्ञानमें सर्वत्र विशेषण, विशेष्य और उन दोनोंका सम्बन्ध [ही] विषय होते हैं। और [विशेष्य और विशेषणको] वह सम्बन्ध कहीं संयोगादि और कहीं स्वरूप [सम्बन्ध] होता है। [प्रकृतमें ज्ञातो घटः इत्यादि प्रतीति भी विशिष्ट प्रतीति है इसलिए उसमें विशेष्य घट, विशेषण ज्ञान और इन दोनोंका सम्बन्ध रूप स्वरूप सम्बन्ध ही प्रकाशित होते हैं। उससे अधिक 'ज्ञातता' आदिकी इसमें प्रतीति नहीं होती] इसलिए यहाँ [ज्ञातो घटः इत्यादि प्रतीतिमें] 'घटज्ञान' इस [उदाहरण] के समान घट और ज्ञानका स्वरूप सम्बन्ध ही 'ज्ञातो घटः' इस प्रतीतिमें भी भासता है। [इससे अधिक ज्ञातता आदिका भान नहीं होता]। अन्यथा [यदि यहाँ 'ज्ञातो घटः' में ज्ञातता धर्म मानें तो] 'इष्टो घटः' 'कृतो घटः' इन [प्रतीतियों] में 'इष्टता' तथा 'कृतता' [धर्म] भी मानने होंगे। [यदि यह कहो कि 'इष्टो घटः आदि स्थलोंमें तो स्वभाव सम्बन्धसे काम चल जायगा अलग धर्म नहीं मानेंगे' तो] स्वभाव सम्बन्धसे उपपत्ति ['ज्ञातो घटः'में भी] तुल्य है [अत एव 'ज्ञातता' माननेकी आवश्यकता नहीं है] ॥ ३ ॥

'ज्ञातता' आदि भेदक धर्म नहीं—

इसी [बात] को [चौथी कारिकामें] कहते हैं—

ज्ञानके निराकार होनेसे [घट पट आदि] अर्थ [के सम्बन्ध] से ही [घटज्ञान पटज्ञान आदि ज्ञानोंमें एक दूसरेसे] विशेष [भेद] होता है। [इसी प्रकार कृतो घटः, इष्टो घटः, ज्ञातो घटः इत्यादि] व्यवहारोंमें [कृति इच्छा और ज्ञान रूप] क्रियासे ही कर्म [भूत घट आदि] में विशेष [भेद] होता है। [कृतता, इष्टता, ज्ञातता आदि धर्म व्यावर्तक नहीं होते हैं]।

['विशेष' शब्दका अर्थ भेदक, व्यावर्तक है। अर्थात् निराकार बुद्धियोंका परस्पर व्यावर्तक अर्थ ही होता है। 'निराकारतया' यहाँ विशेषणमें तृतीया है। उसका अ

यथा घटादिना ज्ञाने विशिष्टधीः यथा च क्रिययैव कर्मणां घटादीनां व्यवहारेषु विशिष्टबुद्ध्यादिषु विशेषस्तथा 'ज्ञातो घट' इत्यादौ ज्ञानेनैव घटादौ विशिष्टधीर्न धर्मान्तरादिति ॥ ४ ॥

ननु तथापि नेश्वरज्ञानं प्रमा, प्रमाणजन्यत्वाभावात् । एवमीश्वरो न प्रमाता, न वा प्रमाणं प्रमाकर्तृत्वकरणत्वयोरभावात् । अत्राह—

'निराकाराणां धियां' करना चाहिए। निराकार पदसे यह सूचित किया कि ज्ञानोंमें कोई अन्य व्यावर्तक धर्म नहीं रहता है। इसी प्रकार 'ज्ञातो घटः' आदिमें ज्ञातता आदि धर्मको अलग माननेकी आवश्यकता नहीं है इसके प्रतिपादनके लिए यह उदाहरण दिया है। जैसे 'घटज्ञानं' इस प्रयोगमें ज्ञान विशेष्य है और घट, 'विषयी-स्वरूप' स्वरूप सम्बन्धसे विशेषण है यह बात आप भी मानते हैं। इसी प्रकार 'ज्ञातो घटः' इस प्रतीतिमें घट, विशेष्य और ज्ञान विषयत्व रूप स्वरूप सम्बन्धसे विशेषण है। उसमें 'ज्ञातता' नामक कोई अतिरिक्त धर्म माननेकी आवश्यकता नहीं है। 'घटज्ञानम्' और 'ज्ञातो घटः' इन दोनों प्रतीतियोंमें अन्तर केवल इतना है कि पहिलीमें ज्ञान विशेष्य और घट विशेषण है और दूसरीमें ज्ञान विशेषण और घट विशेष्य है।

इसमें कृति और इच्छा पद उदाहरणार्थ दिए गए हैं। जैसे 'कृतो घटः' 'इष्टो घटः' में विषयता सम्बन्धसे कृति और इच्छा घटमें विशेषण है इसी प्रकार 'ज्ञातो घटः' में भी ज्ञान विषयता सम्बन्धसे विशेषण है। इसके अतिरिक्त कृतता, इष्टता या ज्ञातता आदि धर्म नहीं रहते हैं यह नैयायिक का अभिप्राय है]।

जैसे घटादि [विशेषणके सम्बन्ध] से [घटज्ञानम् इस] ज्ञानमें विशिष्ट बुद्धि [होती है] और जैसे [इष्टो घटः, कृतो घटः इत्यादि] विशिष्ट बुद्धि रूप व्यवहारों में [इच्छा कृति आदि रूप] क्रियासे ही विशेष [व्यावृत्ति, भेद] होता है इसी प्रकार 'ज्ञातो घटः' इत्यादि [विशिष्ट बुद्धिमें भी] में ज्ञान [रूप विशेषणके सम्बन्ध] से ही घटादिमें [ज्ञातो घटः इत्यादि रूप] विशिष्ट बुद्धि होती है अन्य [ज्ञातता रूप] धर्मसे नहीं ॥ ४ ॥

ईश्वरज्ञानके अप्रमात्वका एक और पूर्वपक्ष—

[इस पर मूल, विप्रतिपत्तिवादी फिर शङ्का करता है कि] अच्छा तो फिर भी ईश्वरका ज्ञान [आप, नैयायिक नित्य मानते हैं इसलिए] प्रमाणजन्य न होनेसे प्रमा नहीं है। [क्योंकि प्रमाणजन्य ज्ञान ही 'प्रमा' कहा जा सकता है। ईश्वरका ज्ञान अजन्य होनेसे प्रमाणजन्य नहीं है अतः 'प्रमा' नहीं कहा जा सकता। इसलिए] प्रमाके कर्ता अथवा करण न होनेसे ईश्वर न प्रमाता है न प्रमाण ही है। इस [पूर्वपक्षके होने] पर [उसके खण्डनके लिए कारिकाकार] कहते हैं—

मितिः सम्यक् परिच्छित्तिस्तद्वत्ता च प्रमातृता।
तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते ॥ ९ ॥

यथार्थानुभवत्वमेव प्रमात्वमजन्यत्वेऽपीश्वरज्ञानस्याविरुद्धम्। प्रमातृत्वं प्रमासमवायित्वं; तच्च अकारणत्वेऽपि प्रमाया ईश्वरस्याविरुद्धम्।

एवं प्रमया सहायोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धितयेश्वरस्य प्रमाणत्वं, न तु कारणत्वमपि तत्र नियामकमिति। 'मंत्रायुर्वेदवत् तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्' इति सूत्रे [न्यायसूत्र २, ६८] ईश्वरस्य प्रामाण्यमुक्तम्।

इस पूर्वपक्षका खण्डन—

सम्यक् परिच्छित्ति अर्थात् यथार्थ अनुभवको 'प्रमा' [मितिः] कहते हैं [अर्थात् 'प्रमाणजन्यं ज्ञानं प्रमा' यह 'प्रमा' का लक्षण नहीं है अपितु 'यथार्थानुभवः प्रमा' यह प्रमाका लक्षण है। यह लक्षण ईश्वरके नित्य ज्ञानमें भी घट सकता है अतः ईश्वर का ज्ञान 'प्रमा' है]। और 'तद्वत्ता' अर्थात् प्रमाश्रयत्व ही प्रमातृता है [अर्थात् 'प्रमा' जिसमें समवाय सम्बन्धसे रहे उसको 'प्रमाता' कहते हैं। इसलिए यथार्थानुभव रूप प्रमाका आश्रय होनेसे ईश्वर प्रमाता भी है] और उसके अयोग [सम्बन्धाभाव] का व्यवच्छेद [अर्थात् कालविशेषावच्छेदेन अथवा विषयविशेषावच्छेदेन जो प्रमाका अभाव उसका व्यवच्छेद अर्थात् प्रमासमवायित्व रूप] ही गौतमके मतमें प्रामाण्य माना जाता है। [इसलिए सदा सर्वविषयकप्रमावत्त्व रूप प्रामाण्य ईश्वरमें है]।

आगे वृत्तिकार इस कारिकाकी व्याख्या निम्न प्रकार करते हैं—

[न्यायसिद्धान्तके अनुसार यथार्थानुभवत्व ही प्रमात्व [का लक्षण] है। वह ईश्वर ज्ञानके अजन्य [नित्य] होने पर भी उसमें अविरुद्ध है [अर्थात् ईश्वरका नित्य ज्ञान भी यथार्थानुभव रूप होनेसे प्रमा है]। और प्रमातृत्व, प्रमासमवायित्व [रूप] है वह [ईश्वरके] प्रमाका कारण न होनेपर भी ईश्वरमें विरुद्ध नहीं है [अर्थात् ईश्वरीय ज्ञानके नित्य होनेसे ईश्वर प्रमाका 'कारण' नहीं है फिर भी वह 'प्रमा-समवायी' है अर्थात् प्रमा उसमें समवाय सम्बन्धसे रहती है इसलिए ईश्वर प्रमाता कहा जाता है]।

इसी प्रकार प्रमाके साथ अयोग [सम्बन्धाभाव] का व्यवच्छेद [अभाव] रूप सम्बन्धसे सम्बद्ध होनेसे ईश्वरका प्रमाणत्व है। न कि [प्रमाका] करणत्व भी उस [ईश्वरके प्रमाणत्व] में नियामक है। इसीलिए 'मन्त्रायुर्वेदवच्च तत्प्रामाण्यं आप्त प्रामाण्यात्' अर्थात् मन्त्र और आयुर्वेदके समान उस [वेद] का प्रामाण्य है आप्त- [अर्थात् उसके वक्ता ईश्वर] का प्रामाण्य होनेसे। इस न्यायसूत्रमें ईश्वरका प्रामाण्य कहा गया है।

न चेश्वरस्य पञ्चप्रमाणत्वापत्त्या विभागव्याघातः। प्रमाकरणाभिप्रायेण विभागसम्भवात्।

न चेश्वरज्ञानस्य भ्रमविषयावगाहित्वेन भ्रमत्वापत्तिरिति वाच्यम्। व्यधिकरणप्रकारकत्वाभावेन अप्रमात्वाभावात्। भ्रमनिष्ठं शुक्तिविशेष्यकत्वं रजतत्वप्रकारकत्वं च सदेव तदवगाहितया ईश्वरज्ञानस्य प्रमात्वापतेः॥ ५॥

[इसपर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि नैयायिकने प्रत्यक्षादि चार प्रमाण माने हैं, अब ईश्वर भी प्रमाण है तो] ईश्वरके पञ्चम प्रमाण हो जानेसे प्रमाणोंका [पूर्वकृत] विभाग खण्डित होगा। यह [शङ्का] नहीं [करनी चाहिए।] प्रमाके करण [रूप प्रमाण चार ही होते हैं इस] के अभिप्रायसे [वह चार प्रमाणोंका] विभाग सम्भव होनेसे [विभागका व्याघात नहीं होगा]।

[इसपर पूर्वपक्षी फिर शङ्का करता है कि ईश्वरका ज्ञान सर्वविषयक होनेसे भ्रमविषयक भी होगा इसलिए] ईश्वर ज्ञानके भ्रमविषयक होनेपर भ्रम विषयका ग्राहक होनेसे भ्रमत्व प्राप्त होगा [अर्थात् ईश्वरका ज्ञान भ्रम ज्ञान रूप होगा]। यह [भी] नहीं कहना चाहिए। [क्योंकि 'तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानं भ्रमः' यह भ्रमका लक्षण है। इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ जिसका अभाव हो उसमें उस प्रकारका ज्ञान 'भ्रम' कहलाता है। जैसे शुक्तिमें रजतत्वका अभाव है। रजतत्व रजतमें रहता है शुक्तिमें नहीं। यह शुक्तिमें न रहनेवाला और रजतमें रहनेवाला व्यधिकरण रजतत्व, जब शुक्तिमें भासता है तब उस 'रजतत्वाभाववती शुक्ति'में होनेवाला रजतत्वप्रकारक ज्ञान 'भ्रम' कहा जाता है। 'प्रकार' शब्दका अर्थ 'विशेषण' है। 'रजतत्वप्रकारक' अर्थात् 'रजतत्व' जिसमें विशेषण है इस प्रकारका ज्ञान। 'व्यधिकरणप्रकारक'का अर्थ है कि प्रकारभूत अर्थात् विशेषणभूत धर्म जहाँ प्रतीत हो रहा है उससे भिन्न अधिकरणमें रहता हो। जैसे शुक्तिमें होनेवाला 'इदं रजतम्' यह ज्ञान 'व्यधिकरणप्रकारक' ज्ञान है। क्योंकि वस्तुतः रजतमें रहनेवाला—रजतका विशेषण या 'प्रकार' भूत रजतत्व उससे भिन्न अधिकरण—शुक्ति—में 'प्रकार' या विशेषण रूपसे प्रतीत है। अतः 'व्यधिकरणप्रकारक ज्ञान' होनेसे शुक्तिमें होनेवाला 'इदं रजतम्' ज्ञान 'भ्रम' कहलाता है। परन्तु ईश्वरका ज्ञान 'व्यधिकरणप्रकारक' नहीं है। जिस व्यक्तिको भ्रम ज्ञान है उसका ज्ञान 'शुक्तिविशेष्यक' और 'रजतत्वप्रकारक' होनेसे 'भ्रम' है। ईश्वर उसके इस ज्ञानको जानता है अर्थात् इस व्यक्तिका ज्ञान 'शुक्तिविशेष्यक रजतत्वप्रकारक' है इसको जानता है और उसका यह ज्ञान यथार्थ ही है। इसलिए] व्यधिकरण प्रकारकत्वाभावके कारण [ईश्वर ज्ञानमें] अप्रमात्व नहीं है। [ईश्वरको उस] भ्रमज्ञाननिष्ठ शुक्तिविशेष्यकत्व और रजतत्व प्रकारकत्व [जो प्रतीत होता है वह] सत् [ठीक] ही है, तद्विषयक होनेसे ईश्वरज्ञानके प्रमात्वकी क्षति नहीं होती। [इसलिये ईश्वरका ज्ञान प्रमा रूप और ईश्वर प्रमाण रूप है। इसमें कोई बाधा नहीं है]।

स्तबकार्थसंग्राहकश्लोकमाह—

साक्षात्कारिणि नित्ययोगिनि परद्वारानपेक्षस्थितौ,
भूतार्थानुभवे निविष्टनिखिलप्रस्ताविवस्तुक्रमः ।
लेशादृष्टिनिमित्तदुष्टिविगमप्रभ्रष्टशङ्कातुषः,
शङ्कोन्मेषकलङ्किभिः किमपरैस्तन्मे प्रमाणं शिवः ॥ ६ ॥

इति श्रीमदुदयनाचार्यविरचितायां न्यायकुसुमाञ्जलि-
कारिकायां चतुर्थस्तबकः समाप्तः ।



भूतार्थानुभवे यथार्थानुभवे साक्षात्कारिणि प्रत्यक्षे । निविष्टो विषयीभूतो निखिलप्रस्ताविवस्तूनां नानापदार्थानां क्रमो यस्य स तथा, अनुभवविषय-सकलविश्वक इत्यर्थः । नित्ययोगिनि सदातनत्वयुक्ते । अत एव इन्द्रियाणां द्वाराणामनपेक्षा स्थितिर्यस्य । लेशतोऽपि अंशतोऽपि अदृष्टिर्विशेषादर्शनम् । तन्निमित्तिका या दुष्टी रागद्वेषमोहात्मिका तद्विगमेन प्रभ्रष्टः शङ्कातुषो वेदा-

---

[इस] स्तबकके अर्थको संग्रह करनेवाले श्लोकको कहते हैं—

[जिनके] साक्षात्कारात्मक, नित्ययोगयुक्त, दूसरे [प्रमाणादि] की अपेक्षा न करनेवाले यथार्थ अनुभवमें समस्त उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंका क्रम सन्निहित है और तनिकसे भी अज्ञानरूप निमित्तदोषके अभावके कारण शङ्काके लेशसे भी रहित, वह भगवान् ही जब हमारे लिये परम प्रमाण है तब शङ्काके स्पर्शसे कलङ्कित अन्य प्रमाणोंसे हमें क्या प्रयोजन है ? [अन्य प्रमाणोंसे हमें कोई प्रयोजन नहीं, हमारे लिए नित्य और साक्षात्कारात्मक ज्ञानसे युक्त परमात्मा ही परम प्रमाण है] ।

'भूतार्थानुभवे' [का अर्थ] 'यथार्थानुभवे' अर्थात् यथार्थज्ञान है । 'साक्षात्कारिणि' अर्थात् 'प्रत्यक्षे' प्रत्यक्षात्मक [ज्ञानमें] 'निविष्टः' अर्थात् विषयीभूत है 'निखिलप्रस्तावि' वस्तुओं अर्थात् नाना पदार्थोंका क्रम जिससे वह 'निविष्टनिखिलप्रस्ताविवस्तुक्रमः' हुआ । अर्थात् सकल विश्वका अनुभवकर्ता—ज्ञाता । 'नित्ययोगिनि' अर्थात् सदातनत्व युक्त [नित्य ज्ञानमें] इसीलिए इन्द्रियादि द्वाराकी अपेक्षा रहित जिसकी स्थिति है [इस प्रकारके नित्य ज्ञानमें] 'लेशतः' अर्थात् अंशतः भी जो अदर्शन अर्थात् विशेष रूपका अज्ञान उसके

प्रामाण्यशङ्कालेशो यस्मादित्यर्थः । प्रमाणं शिवः । एवंभूते तत्राप्रामाण्यशङ्का-रूपकलङ्कवद्भिः पाखण्डैः किं कर्तव्यमिति भावः ॥ ६ ॥

इति श्रीमद्धरिदासभट्टाचार्यविरचिते कुसुमाञ्जलिकारिका-
व्याख्याने चतुर्थस्तबकः समाप्तः ।



कारण होनेवाले जो राग, द्वेषादि रूप दोष, उसके न होनेसे नष्ट हो गया है शङ्का—तुष अर्थात् वेदाप्रामाण्य रूप शङ्कालेश जिससे, ऐसे परमात्मा [ही] प्रमाण है । ऐसा होने पर उनके विषयमें अप्रामाण्यशङ्कारूप कलङ्कयुक्त अन्य पाखण्डोंका क्या प्रयोजन ? क्या करना है ॥ ६ ॥

इति श्रीहरिदासभट्टाचार्यविरचित न्यायकुसुमाञ्जलि की कारिकाओं के
व्याख्यान में चतुर्थ स्तबक समाप्त हुआ ।



पञ्चमः स्तबकः

तत्साधकप्रमाणाभावात् इति पञ्चमविप्रतिपत्तिः। नन्वीश्वरे साधकप्रमाणमेव नास्तीत्यत्राह—

कार्यायोजन-धृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ॥ १ ॥

अथ पञ्चम स्तबक

स्तबक सङ्गति—

प्रथम स्तबकमें ईश्वरके विषयमें पाँच प्रकारकी विप्रतिपत्तियाँ दिखलाई गई हैं। गत स्तबकोंमें उनमें से चार विप्रतिपत्तियोंका निराकरण किया जा चुका है। अब पञ्चम विप्रतिपत्तिके निराकरणके लिए इस पञ्चम स्तबकका प्रारम्भ करते हैं। इसका तृतीय स्तबकके साथ कुछ विशेष सम्बन्ध है। तृतीय स्तबकमें ईश्वरके अभावावेदक प्रमाणोंको पूर्वपक्षके रूपमें प्रस्तुतकर उनका निवारण किया गया है। इस पञ्चम स्तबकमें ईश्वरके साधक प्रमाणोंकी चर्चा की गई है। इस प्रकार बाधक प्रमाणोंका अभाव तथा साधक प्रमाणोंका सद्भाव दिखलाकर ईश्वरसिद्धिका प्रयत्न किया गया है।

ईश्वर साधक आठ हेतु—

'तत्साधकप्रमाणाभावात्' अर्थात् ईश्वरके साधक प्रमाण न होनेसे [ईश्वरका अभाव है] यह पाँचवीं विप्रतिपत्ति [सांख्यके ईश्वरासिद्धेः १, ९२ सूत्रके अनुसार] है। ईश्वरका साधक [कोई] प्रमाण ही नहीं है। इस [पूर्वपक्षके होने] पर [कारिकाकार] कहते हैं—

[इस प्रथम कारिकामें कहे गए] (१) 'कार्यात्' (२) 'आयोजनात्' (३) 'धृति' अर्थात् धारण, आदि [आदि शब्दसे नाशका ग्रहण होता है] (४) 'पद' अर्थात् व्यवहार, (५) 'प्रत्यय' अर्थात् प्रामाण्य (६) 'श्रुति' (७) वाक्य तथा [सर्गाद्यकालीन द्व्यणुकारम्भ परमाणुद्वयमें रहनेवाली द्वित्वरूपमें] (८) 'संख्या विशेष'। [इन ८ हेतुओं] से नित्य सर्वज्ञ [विश्ववित् अव्यय] साध्य है।

इन आठ हेतुओंके आधारपर अनुमान द्वारा ईश्वरकी सिद्धि होती है यह कारिकाका अभिप्राय है। तदनुसार बननेवाले ईश्वरसाधक अनुमानोंके स्वरूप व्याख्याकारने दिखलाए हैं।

(१) 'क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्'। सकर्तृकत्वं च उपादान-गोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यत्वम्।

(२) 'आयोजनं' कर्म, एवं च 'सर्गाद्यकालीनद्व्यणुकारम्भकपरमाणुद्वय-संयोगजनकं कर्म चेतनप्रयत्नपूर्वकं कर्मत्वात् अस्मदादि शरीरक्रियावत्'।

(३ अ) 'धृतीति' 'ब्रह्माण्डादि पतनप्रतिबन्धकीभूतप्रयत्नवदधिष्ठितं धृति-मत्त्वात्, वियति विहङ्गमधृतकाष्ठवत्'। धृतिश्च गुरुत्ववतां पतनाभावः।

---

(१) 'क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्' पृथिवी आदि, कार्य होनेसे, सकर्तृक हैं, घटके समान ['कार्यत्वात्' हेतुके आधारपर यह अनुमान बनता है]। सकर्तृकत्व [का अर्थ] उपादानगोचर [कारण विषयक] अपरोक्षज्ञान [साक्षात्का-रात्मक ज्ञान] चिकीर्षा [करनेकी इच्छा] और कृति [कार्यानुकूल व्यापार] से युक्त ['उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमान् कर्ता' यह कर्ताका लक्षण है] उससे जन्य [वस्तु सकर्तृक] है। [इस कार्यत्वहेतुक अनुमानसे क्षित्यादिके कर्ता रूपमें ईश्वरकी सिद्धि होती है। वह प्रथम ईश्वरसाधक प्रमाण है]।

(२) [ईश्वरकी सिद्धिमें दूसरा हेतु 'आयोजनात्' दिया है। इसका अभिप्राय सृष्टिके आदिमें परमाणुद्वयके संयोगजनक कर्मसे है। उसके आधारपर अनुमान इस प्रकार बनता है] सर्गके आदि कालमें द्वयणुकको उत्पन्न करनेवाला परमाणुद्वयका संयोगजनक कर्म हमारी शरीर क्रियाओंके समान कर्म होनेसे चेतनप्रयत्नपूर्वक है। [उस समय सृष्टिके आदिमें दो परमाणुओंके संयोग द्वारा द्वयणुकको उत्पन्न करनेवाला जो कर्म होता है उसका कर्ता कोई मनुष्यादि नहीं हो सकता है अत एव उस प्रयत्नका कर्ता जो चेतन है वही ईश्वर है। इस प्रकार इस दूसरे अनुमानसे ईश्वरकी सिद्धि होती है। यह ईश्वर साधक दूसरा प्रमाण है]।

(३ अ) [तीसरा ईश्वरसाधक हेतु 'धृति' अर्थात् धारण है। इसके आधारपर अनुमान इस प्रकार बनता है] ब्रह्माण्डादि धृतिमत् [किसीके द्वारा धारण किए हुए] होनेसे पतनके प्रतिबन्धक [रोकनेवाला] जो प्रयत्न [चेतन व्यापार] उससे [किसी चेतनसे] अधिष्ठित है, आकाशमें पक्षी द्वारा धारण की हुई लकड़ीके समान [पक्षी घोंसला बनानेकेलिए जिस तिनके या लकड़ीको ले जाता है। वह तिनका इसलिए नहीं गिरता है कि उसे चेतन पक्षीका प्रयत्न धारण किए हुए है। इसी प्रकार ग्रहोपग्रहादि रूप यह सारा ब्रह्माण्ड धारण किया हुआ है गिर कर नष्ट नहीं हो जाता है अत एव उसको धारण करनेवाला कोई होना चाहिए जिसके प्रयत्नसे यह धारण किया हुआ है। जो इस ब्रह्माण्डका धारण करनेवाला है वही परमात्मा है। इस प्रकार इस तीसरे–अनुमानसे भी ईश्वरकी सिद्धि होती है। अर्थात् यह ईश्वरसाधक तीसरा प्रमाण है।] धृति [का अर्थ] गुरुत्व युक्त [पदार्थों] के पतनका अभाव है।

(३ ब) 'धृत्यादेः' इत्यादिपदात् नाशपरिग्रहः। 'ब्रह्माण्डादि प्रयत्नवद्विनाश्यं विनाशित्वात् पाट्यमानपटवत्'।

(४) 'पदात्' पद्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या 'पदं' व्यवहारः। 'पटादिसम्प्रदाय-व्यवहारः स्वतंत्रपुरुषप्रयोज्यः व्यवहारत्वात् आधुनिकलिप्यादिव्यवहारवत्'।

(५) 'प्रत्ययतः' प्रामाण्यात्। 'वेदजन्यज्ञानं कारणगुणजन्यं प्रमात्वात् प्रत्यक्षादिप्रमावत्'।

(६) 'श्रुतेः' वेदात्, 'वेदः पौरुषेयो वेदत्वात् आयुर्वेदवत्'।

(३ ब) 'धृत्यादेः' [इस हेतुमें 'आदि' पद आया है] इस 'आदि' पदसे 'नाश'का ग्रहण होता है। [उसके आधारपर अनुमान इस प्रकार बनता है] ब्रह्माण्डादि विनाशी होनेसे, फाड़े जानेवाले पटके समान, प्रयत्नवान् [किसी चेतन] से विनाश्य है। [जिस प्रकार फाड़े जानेवाला पट स्वयं नहीं फट जाता है उसका फाड़नेवाला कोई चेतन होता है इसी प्रकार प्रलयकालमें इस ब्रह्माण्डका नाश स्वयं नहीं हो जाता है अपितु उसका नाश करनेवाला कोई प्रयत्नवान् चेतन होना चाहिए। वह चेतन ईश्वर ही हो सकता है। इस प्रकार यह ईश्वर साधक चौथा प्रमाण है]।

(४) [चौथा हेतु] 'पदात्' [है] जिसका [अर्थ] 'पद्यते ज्ञायते अनेन इति पदं' इस व्युत्पत्तिसे 'व्यवहार' [है] उसके आधारपर अनुमान इस प्रकार बनेगा। घटादि सम्प्रदाय [घटादि निर्माणकला] स्वतंत्र पुरुषसे प्रयोज्य है आधुनिक लिपि [शिक्षा] आदिके समान, व्यवहार रूप होनेसे। [सृष्टिके आदिमें उस घटादि सम्प्रदाय अर्थात् नाना प्रकारके पदार्थोंके निर्माणकी शिक्षा देनेवाला कोई मनुष्य नहीं था अत एव उस व्यवहारका प्रवर्तक ईश्वर ही हो सकता है। यह पांचवाँ ईश्वरसाधक प्रमाण है]।

(५) [पांचवा हेतु] 'प्रत्ययतः' [है जिसका अर्थ] 'प्रामाण्यात्' [है। उसके आधार पर अनुमान, इस प्रकार बनेगा] 'वेद ज्ञान प्रमा होनेसे प्रत्यक्षादि प्रमाके समान कारण गुण जन्य है'। [न्याय सिद्धान्तके अनुसार ज्ञानका प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों परतः है, 'पीतः शंखः' आदि ज्ञान इन्द्रिय रूप करणमें पित्त आदि दोषके कारण अप्रमाण हो जाते हैं। और इसी प्रकार करणके गुणसे ज्ञानमें प्रामाण्य आता है। इसलिए वेदके ज्ञानमें जो प्रामाण्य है, वह भी उसके वक्ता रूप करणके गुणसे जन्य है। इसलिए वेदका वक्ता सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट ईश्वर सिद्ध होता है। यह छठा ईश्वर साधक प्रमाण है]।

(६) [छठा हेतु] 'श्रुतेः' [अर्थात्] 'वेदात्' [है उसके आधारपर अनुमान वाक्य इस प्रकार बनता है]

'वेद पौरुषेय है आयुर्वेदके समान वेद होनेसे'।

(७ अ) किञ्च 'वेदः पौरुषेयो वाक्यत्वात् भारतादिवत्'।

(७ ब) 'वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात् अस्मदादिवाक्यवत्'।

(८) 'संख्याविशेषात्' द्व्यणुकपरिमाणं संख्याजन्यं परिमाणप्रचयाजन्यत्वे सति जन्यपरिमाणत्वात्। तुल्यपरिमाणककपालद्वयारब्धघटपरिमाणात् प्रकृष्टतादृशकपालत्रयारब्धघटपरिमाणवत्।

---

(७) [सातवाँ ईश्वरसाधक हेतु] 'वाक्यत्वात्' है। उसके आधारपर दो अनुमान वाक्य निम्न प्रकार बनते हैं—(अ) वेद पौरुषेय है महाभारत आदिके समान वाक्य होनेसे। अथवा (ब) वेदवाक्य पौरुषेय हैं वाक्य होनेसे हमारे वाक्योंके समान। [इन दोनों अनुमानोंसे वेदका पौरुषेयत्व सिद्ध होता वेदका निर्माता वह पुरुष सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट ईश्वर ही है जिसे योगदर्शनमें 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' कहा है। इस प्रकार यह सातवाँ ईश्वर साधक प्रमाण हुआ]।

(८) [आठवाँ हेतु] 'संख्याविशेषात्' है। इसके अनुसार अनुमान इस प्रकार बनेगा। द्व्यणुकका परिमाण संख्याजन्य है परिमाण और प्रचयसे जन्य न होने पर भी जन्य परिमाण होने से। बराबर परिमाणके दो कपालोंसे बने घटके परिमाणसे उससे प्रकृष्ट उस प्रकरके कपालत्रयसे बने घटके परिमाणके समान।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि तुल्य परिमाणके दो कपालोंसे एक घड़ा बनाया गया। दूसरा घड़ा उसी प्रकारके तीन कपालोंसे बनाया गया। इस दूसरे घड़ेका परिमाण पहिले घड़ेके परिमाणसे प्रकृष्ट–बड़ा–अवश्य होगा। इसमें जो प्रकर्ष परिमाणमें पाया जाता है उसका कारण कपालगत तीन संख्या है। अन्यथा परिमाणमें तो पहिले घट और दूसरे घट दोनोंके कपाल बराबर-बाराबर थे। फिर भी दूसरे घटमें तीन कपाल होनेसे दो कपालवाले घटसे उसका परिमाण बड़ा है। अतः उसे संख्याजन्य कहना चाहिए। इसी प्रकार द्व्यणुकका परिमाण संख्याजन्य है।

वैशेषिक दर्शनमें परिमाण तीन प्रकारका माना गया है एक 'संख्यायोनि' दूसरा 'परिमाणयोनि' परिमाण और तीसरा 'प्रचययोनि' परिमाण। इसमें प्रयुक्त 'योनि' शब्दका अर्थ कारण है। अर्थात् परिमाणके तीन कारण होते हैं। संख्या, परिमाण और प्रचय। इनमेंसे 'परिमाणयोनि' परिमाण सामान्यतः प्रसिद्ध है। कपालके परिमाणसे घटका परिमाण पैदा होता है। तन्तुके परिमाणसे पटका परिमाण उत्पन्न होता है। ये सब 'परिमाणयोनि' परिमाणके उदाहरण हैं। दूसरा 'प्रचययोनि' परिमाण रूईके पिण्डोंमें माना जाता है। 'प्रचय' का अर्थ 'शिथिलावयवसंयोग' है। समान तोल और समान आकारके रूईके दो पिण्डों को लिया जाय और उनमेंसे एकको धुनकर या तोड़कर उसके अवयवोंके संयोग को शिथिल कर दिया जाय तो उसका परिमाण दूसरे पिण्डसे कहीं अधिक बड़ा हो जायगा। इस परिमाणका कारण न संख्या है और न परिमाण, अपितु

'शिथिलावयवसंयोग' रूप 'प्रचय' ही है। अतः यह 'प्रचययोनि' परिमाणका उदाहरण हुआ। इन दोनोंसे भिन्न एक 'संख्यायोनि' परिमाण भी माना गया है। वह 'संख्यायोनि' परिमाण मुख्यतः द्व्यणुक और त्र्यणुकमें माना जाता है। क्योंकि उनमें 'परिमाणयोनि' अथवा 'प्रचययोनि' परिमाण नहीं बनता है। इसका कारण यह है कि द्व्यणुकका निर्माण दो परमाणुओंसे और त्र्यणुकका निर्माण तीन द्व्यणुकोंसे होता है। परमाणु और द्व्यणुक दोनोंका परिमाण 'अणु' परिमाण माना गया है। और परिमाणके विषयमें यह नियम है कि 'परिमाण स्वसमानजातीय उत्कृष्ट परिमाण का जनक' होता है। जैसे कपालका परिमाण 'महत्' है उससे जो घटका परिमाण होता है वह उससे अधिक उत्कृष्ट अर्थात् 'महत्तर' होता है। इसी प्रकार यदि परमाणुके परिमाणसे द्व्यणुकका परिमाण अथवा द्व्यणुकके परिमाणसे त्र्यणुकका परिमाण उत्पन्न हो तो वह 'स्वसमानजातीय उत्कृष्ट परिमाण' को ही उत्पन्न करेगा। परमाणु और द्व्यणुक दोनोंका परिमाण 'अणु' परिमाण है। इसलिए उससे 'स्वसमानजातीय' अर्थात् 'अणुजातीय' उत्कृष्ट अर्थात् 'अणुतर' परिमाण ही उत्पन्न होगा। जो कि सम्भव नहीं है। क्योंकि 'अणु' परिमाण नाम ही उसका है जिससे और अधिक 'अणुतर' परिमाण न हों। ऐसी दशामें 'अणुतर' परिमाणका उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। इसलिए द्व्यणुकका अणु परिमाण और उसके कारणभूत दोनों परमाणुओंमें रहनेवाली 'द्वित्व' संख्यासे उत्पन्न होता है। इसलिए 'संख्यायोनि' परिमाण है। इसी प्रकार त्र्यणुकका 'महत्' परिमाण उसके कारणभूत तीन द्व्यणुकोंमें रहनेवाली 'त्रित्व' या बहुत्व संख्यासे उत्पन्न होनेके कारण 'संख्यायोनि' परिमाण हैं। ये दोनों परिमाण क्रमशः अपने कारणोंमें रहनेवाली 'द्वित्व' तथा 'त्रित्व' अथवा बहुत्व संख्यासे उत्पन्न होते हैं।

इसी प्रकार संख्याके विषयमें वैशेषिक दर्शनमें नित्य और अनित्य दो प्रकारकी संख्या मानी गई है। एकत्व संख्या नित्य पदार्थ आकाशादिमें रहनेपर नित्य और अनित्य घटादि पदार्थमें रहनेपर अनित्य होती है। शेष द्वित्वसे लेकर परार्ध पर्यन्त सारी संख्याएँ अनित्य ही होती हैं। उन अनित्य संख्याओंकी उत्पत्ति 'अपेक्षाबुद्धि' से होती है। 'अयमेकः अयमेकः' इस ज्ञानको 'अपेक्षाबुद्धि' कहते हैं। इस 'अपेक्षा-बुद्धि' से उन दोनों एकत्वाश्रयोंमें द्वित्वादिकी उत्पत्ति होती है। बिना 'अपेक्षाबुद्धि' के द्वित्वकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। यह वैशेषिक सिद्धान्त है।

अभी ऊपर यह प्रतिपादन किया था कि सृष्टिके आदिकालमें सबसे पहिले दो परमाणुओंके संयोगसे द्व्यणुककी उत्पत्ति होती है। उस द्व्यणुकका अणु परिमाण 'परिमाणयोनि' अथवा 'प्रचययोनि' परिमाण नहीं हो सकता है अत एव वह परिमाण 'संख्यायोनि' परिमाण है। और द्व्यणुकके कारणभूत दोनों परमाणुओंमें रहनेवाली द्वित्व संख्यासे उसकी उत्पत्ति होती है। परन्तु अब प्रश्न यह पैदा होता है कि परमाणुओंमें रहनेवाली 'द्वित्व' संख्या भी तो अनित्य है अतः उसकी उत्पत्ति 'अपेक्षा-बुद्धि' से होनी चाहिए। यह 'अपेक्षाबुद्धि' किसी चेतनमें ही रह सकती है और

अणुपरिमाणञ्च न परिमाणजनकं नित्यपरिमाणत्वात् अणुपरिमाणत्वाद्वा। एवञ्च सर्गादौ द्व्यणुकपरिमाणहेतुपरमाणुनिष्ठद्वित्वसंख्या नास्मदाद्यपेक्षा-बुद्धिजन्या अतस्तदानीन्तनापेक्षाबुद्धिरीश्वरस्यैवेति। 'विश्वविदव्यय' इति विशिष्टस्याव्ययत्वं, तेन नित्यसर्वविषयकज्ञानसिद्धिः॥ १॥

सृष्टिके आदिमें अस्मदादि सदृश कोई चेतन जीवधारी नहीं था। तब किसकी 'अपेक्षा-बुद्धि' से परमाणुओंमें द्वित्व संख्या उत्पन्न हुई? इस प्रश्नका उत्तर नित्य ईश्वरकी 'अपेक्षाबुद्धि' के सहारे ही किया जासकता है। अर्थात् ईश्वरकी 'अपेक्षाबुद्धि' से दो परमाणुओंमें 'द्वित्व' संख्या उत्पन्न होती है और उस 'द्वित्व' संख्यासे द्व्यणुकगत 'अणु' परिमाणकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार 'संख्याविशेषात्' का अर्थ इस 'द्व्यणुक-परिमाणजनक द्वित्व संख्या'से है। इस 'संख्याविशेषात्' हेतुसे भी ईश्वरकी सिद्धि होती है। यह ईश्वर साधक आठवाँ प्रमाण है। वृत्तिप्रासकी प्रकृत पंक्तियोंका अर्थ इस प्रकार है—

'अणु परिमाण' [द्वचणुकके] परिमाणका जनक नहीं होता है, नित्य परिमाण होने अथवा अणु परिमाण होनेसे। [अणु परिमाणको परिमाणजनक माननेमें परिमाणका स्वसमानजातीयोत्कृष्ट परिमाणारम्भकत्व नियम ही बाधक है] इस प्रकार सृष्टिके आदिमें द्वचणुकके परिमाणका हेतुभूत परमाणु [द्वय] में रहनेवाली द्वित्व संख्या अस्मदादिकी 'अपेक्षाबुद्धि' जन्य नहीं है इसलिए उस समयकी 'अपेक्षाबुद्धि' ईश्वरकी माननी होगी। 'विश्वविदव्ययः' यहाँ [सर्वज्ञता] विशिष्टका नित्यत्व [अव्ययत्व] साध्य है इसलिए नित्यसर्वविषयकज्ञानकी सिद्धि होती है॥ १॥

'कार्यत्व' हेतुक विशेष विवेचना—

प्रथम कारिकामें ईश्वर साधक आठ अनुमान प्रस्तुत किए गए थे। आगे उनमेंसे प्रत्येक हेतुको लेकर अलग-अलग विस्तारपूर्वक अनुमान किया गया है। उसी प्रसङ्गमें प्रथम 'कार्यत्व' हेतुकी विशेष विवेचना इस दूसरी कारिकामें की जा रही है। पूर्वपक्षी 'कार्यत्व' हेतुमें पाँच दोष प्रदर्शित कर सकते हैं इस कारिकामें उनका समाधान किया गया है।

प्रथम 'कार्यत्व' हेतुके विषयमें पूर्वपक्ष पांच दोष—

प्रथम कारिकामें ईश्वरसिद्धिकेलिए सबसे पहिले 'कार्यत्वात्' हेतु दिया गया था। इसका खण्डन करने के लिए पूर्वपक्षी 'कार्यत्व' हेतुको 'हेत्वाभास' सिद्ध करना चाहता है। हेत्वाभास पाँच प्रकारके होते हैं। १ असिद्ध, २ विरुद्ध, ३ अनैकान्तिक [या सव्यभिचार], ४ सत्प्रतिपक्ष [या प्रकरण सम] और ५ बाधितविषय [बाध]। पूर्वपक्षका कहना है कि 'कार्यत्वात्' हेतुमें इन पाँचों प्रकारके हेत्वाभासोंकी सम्भावना है। इसलिए उसने अगली पंक्तियोंमें 'कार्यत्वात्' हेतुमें पाँच प्रकारके दोष दिखलाए हैं। जो निम्न प्रकार है—

(१) ननु शरीरविशिष्टस्य कर्तृतया विशेषणबाधात्मको विशिष्टबाधः, इति।
(२) कर्तृजन्यत्वव्यापकशरीरजन्यत्वाभावात् कर्तृजन्यत्वाभाव इति सत्प्रतिपक्षता ।
(३) यद्वा कर्ता शरीर्येव इति व्याप्तिर्विरोधिनी ।

---

(१) अच्छा तो [कार्यत्व हेतुमें निम्न पाँच दोष आते हैं] शरीर विशिष्टके [ही] कर्ता होनेसे [ईश्वरके शरीररहित होनेसे उसमें] विशेषण [रूप शरीर अंश] के बाध होनेसे [कर्तृत्व असम्भव होनेके कारण 'सकर्तृकं' इस साध्यमें कर्तृत्व रूप विशेषण अंशके बाध होनेसे] विशिष्ट [अर्थात् सकर्तृकत्व] का बाध होगा । [बाधका लक्षण 'प्रमाणान्तरावधृतसाध्याभावो हेतुर्बाधितविषयः' है। यहाँ 'कार्यत्व' हेतुका साध्य, 'सकर्तृकत्व' है । उसमें 'कर्तृत्व' विशेषण है । ईश्वरके शरीर न होनेसे उसमें 'कर्तृत्व' का अभाव है । इस लिए साध्य 'सकर्तृत्व' के विशेषणांश कर्तृकत्वके बाधित होनेसे विशेषणाभाव प्रयुक्त विशिष्ट 'सकर्तृकत्व' का अभाव क्षित्यादिमें प्रत्यक्षादिसे निश्चित होनेसे 'कार्यत्व' हेतु बाधित विषय है । अतः हेत्वाभास है । यह प्रथम दोष हुआ] ।

(२) [दूसरा दोष 'सत्प्रतिपक्षता' है । नैयायिकने 'क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्' यह ईश्वर साधक अनुमान दिया है । इसके विपरीत 'क्षित्यादिकं अकर्तृकं शरीराजन्यत्वात् आकाशादिवत्' । यह अनुमान प्रस्तुत किया जा सकता है जो कि पूर्व अनुमान के तुल्य बल होनेसे 'प्रतिपक्ष' कहा जा सकता है] कर्तृजन्यत्वके व्यापक शरीरजन्यत्वके अभाव होनेसे कर्तृजन्यत्वका ['व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यस्यापि निवृत्तिः' इस न्यायके अनुसार] अभाव होनेसे 'सत्प्रतिपक्षता' होगी ।

इस प्रकार 'कार्यत्वात' हेतुमें 'बाध' और दूसरी सत्प्रतिपक्षता रूप दो प्रकार की हेत्वाभासता यहाँ तक दिखलाई गई है, अब आगे 'विरोध' रूप तीसरे प्रकार की हेत्वाभासता दिखलाते हैं । 'साध्यविपर्ययव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः' यह 'विरुद्ध' हेत्वाभास का लक्षण है । अर्थात् जिस हेतुकी व्याप्ति साध्यके साथ न होकर साध्याभावके साथ हो वह 'विरुद्ध' हेत्वाभास होता है । इसलिए ईश्वरके कर्तृत्वका खण्डन करनेके लिए 'कर्ता शरीरी एव' इस व्याप्तिका विरोध दिखला कर पूर्वपक्षी 'कार्यत्व' हेतुको 'विरुद्ध' हेत्वाभास सिद्ध करनेका यत्न करता है ।

(३) अथवा कर्ता शरीरी ही होता है [ईश्वर शरीरी नहीं है इसलिए वह क्षित्यादिका कर्ता भी नहीं हो सकता है इस प्रकार] यह व्याप्ति [क्षित्यादि कर्ताकी सिद्धिमें] विरोधिनी है ।

इस प्रकार १ बाधा, २ सत्प्रतिपक्षता तथा ३ विरोध रूप तीन प्रकारकी हेत्वाभासता दिखलानेके बाद 'कार्यत्व' हेतुमें चौथे प्रकारकी 'असिद्धि' रूप हेत्वाभासता दिखलानेके लिए अगली पंक्तिमें 'साध्याप्रसिद्धि' दोष दिखलाते हैं । यह 'साध्याप्रसिद्धि' दोष 'आश्रयासिद्ध' हेत्वाभासके अन्तर्गत होता है ।

(४) यद्वा व्याप्त्या यथादर्शनप्रवृत्तया शरीरी कर्ता उपनेयः, पक्षधर्मतया च क्षित्यादावशरीरीति विशिष्टसाध्यप्रसिद्धिः विशेषणविशेष्यविरोधश्च।

(५) यद्वा शरीरजन्यत्वाद्युपाधिना व्याप्यत्वासिद्धिः।

इति कार्यत्वहेतौ पञ्च दोषाः। तत्राह—

न बाधोऽस्योपजीव्यत्वात् प्रतिबन्धो न दुर्बलैः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्विरोधो न नासिद्धिरनिबन्धना ॥ २ ॥

---

(४) अथवा [घटादिके कर्तामें] देखी हुई व्याप्तिके अनुसार शरीरी कर्ता सिद्ध होता है और पक्षधर्मतया [अर्थात् पक्षभूत] क्षित्यादि [के कर्ता रूपमें] अशरीरी कर्ता [सिद्ध होता है] इसलिए [शरीरी और अशरीरी दोनों धर्मसे युक्त क्षित्यादिका कर्ता मानना होगा उस दशामें] साध्याप्रसिद्धि [दोष होगा क्योंकि इस प्रकारका कोई कर्ता प्रसिद्ध नहीं है जो शरीरी और अशरीरी दोनों प्रकारका हो। और न यह सम्भव है] क्योंकि विशेष [अर्थात् शरीरित्व और अशरीरित्व] का विरोध है। ['विशेष विरोधश्च'में प्रयुक्त 'च' शब्द हेत्वर्थक है। 'च' माने 'यतः'। क्योंकि विशेष धर्मोंका विरोध है इसलिए शरीरी और अशरीरी उभयरूप कर्ता नहीं होसकता है। अतः साध्या-प्रसिद्धि रूप चौथा दोष हुआ यह 'आश्रयासिद्ध' हेत्वाभासके अन्तर्गत होता है।]

(५) अथवा 'शरीरजन्यत्व' आदि उपाधिके कारण 'व्याप्यत्वासिद्धि' होगी ['क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्' इस अनुमानमें 'कार्यत्वात्' हेतु सकर्तृकत्वं साध्य है। उस हेतुमें शरीरजन्यत्व 'उपाधि' है। 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वं उपाधिः' यह 'उपाधि' का लक्षण है। 'यत्र यत्र सकर्तृकत्वं तत्र तत्र शरीरजन्यत्वं' जो जो पदार्थ सकर्तृक होते हैं शरीरजन्य होते हैं जैसे घटादि। यह 'साध्यव्यापकत्व' हुआ। और 'यत्र यत्र कार्यत्वं तत्र तत्र शरीरजन्यत्वमिति न' जो जो कार्य हो वह अवश्य शरीरजन्य हो यह नहीं है क्योंकि क्षित्यादिको कार्य मानते हैं परन्तु शरीरजन्य नहीं है। यह 'साधनाव्यापकत्व' हुआ। इसलिए शरीरजन्यत्वमें 'उपाधि' का लक्षण घट जानेसे 'कार्यत्वात्' हेतु सोपाधिक हेतु है। और सोपाधिक हेतु ही 'उपाधिसद्भावात् व्याप्यत्वा-सिद्ध' माना जाता है। अत एव 'व्याप्यत्वासिद्धि' पाँचवाँ दोष हुआ।]

इन पाँच दोषोंका निराकरण—

इस प्रकार 'कार्यत्व' हेतुमें पाँच दोष आते हैं। इस [पूर्वपक्षके होने] पर [उसके समाधानार्थ कारिकामें] कहते हैं—

इस [ईश्वर साधक अनुमान] के उपजीव्य [आश्रय या पक्ष रूप ईश्वरके साधक होनेसे अभाव साधक अनुमानकी आश्रयासिद्धिको बचानेकेलिए अवश्यापेक्षणीय] होने से (१) 'बाध' [यह प्रथम दोष] नहीं होसकता है। (२) दुर्बल [दूसरे और तीसरे] हेतुओंसे 'प्रतिबन्ध' [भी] नहीं होसकता है। (३) यदि [शरीरित्वाशरीरित्व रूप

(१ अ) ईश्वरे धर्मिणि शरीरबाधात् कर्तृत्वबाधो न। अधिकरणज्ञानं विना अभावज्ञानासम्भवात्।

(ब) अस्य कार्यत्वस्य धर्मिसाधकस्य अधिकरणज्ञानजनकतया अवश्यापेक्षणीयत्वेन बलवत्त्वात्। एवं च न विशेषणबाधात्मको विशिष्टबाधः प्रत्यक्षात्मक इति।

(स) ईश्वरो न कर्ता अशरीरत्वात् इत्यनुमानबाधोऽपि नेत्यर्थः।

(२) क्षित्यादिकं न सकर्तृकं शरीराजन्यत्वात् इति प्रतिबन्धकं, सत्प्रतिपक्षहेतोः शरीरांशवैयर्थ्यात् व्याप्यत्वासिद्ध्या दुर्बलत्वात्।

उभय धर्मविशिष्ट कर्ता प्रमाणोंसे] सिद्ध है या (४) असिद्ध है, दोनों पक्षोंमें विरोध नहीं है। (५) और [तर्कसे उपाधिका निराकरण होजानेसे] बिना कारण 'व्याप्यत्वासिद्धि' नहीं है।

यह कारिकाका अर्थ हुआ। आगे वृत्तिकार उसकी व्याख्या निम्न प्रकार करते हैं—

(१ अ) ईश्वर रूप धर्मीमें शरीरके बाध होनेसे कर्तृत्वका बाध [होगा यह जो प्रथम दोष दिया था वह] नहीं हो सकता है। [क्योंकि ईश्वरमें शरीराभावके ज्ञानका अधिकरण ईश्वर है। उसकी सिद्धि इस अनुमानसे ही होती है। जब अनुमानमें दोष है तब उसका ज्ञान न होनेसे अथवा] अधिकरणके ज्ञानके बिना अभावज्ञानके असम्भव होनेसे।

(ब) और [ईश्वर रूप] धर्मीके साधक इस कार्यत्वहेतुके अधिकरण ज्ञानका जनक होनेसे [ईश्वराभाव साधक हेतुमें] अवश्यापेक्षणीय [उपजीव्य] होनेसे बलवान् होनेके कारण [ईश्वराभाव साधक दुर्बल अनुमानके द्वारा बाध नहीं हो सकता है]। और इस प्रकार प्रत्यक्षात्मक विशेषण बाध रूप विशिष्ट बाध नहीं है। [यह सिद्ध हुआ]।

(स) 'ईश्वरो न कर्ता अशरीरित्वात्' इस अनुमान से [में भी आश्रय या पक्ष रूप ईश्वरकी सिद्धिके बिना हेतुके 'आश्रयासिद्ध' हो जानेके कारण] भी बाध नहीं है यह अभिप्राय है।

इस प्रकार पूर्वपक्षी द्वारा 'कार्यत्व' हेतुमें दिखलाए गए प्रथम 'बाध' दोषका निराकरण सिद्ध पक्षकी ओरसे (अ), (ब), (स), तीन प्रकारसे किया गया है। अब आगे पूर्वपक्षी द्वारा दिखलाए गए 'सत्प्रतिपक्षता' दोषका निराकरण करते हैं—

(२) शरीराजन्य होनेसे क्षित्यादि सकर्तृक नहीं है। [इस प्रकारका अनुमान प्रस्तुतकर प्रतिपक्षीने जो 'सत्प्रतिपक्ष' दोष दिया था] यह [भी] प्रतिबन्धक नहीं है [क्योंकि] सत्प्रतिपक्ष [प्रयोजक शरीराजन्यत्वात् इस] हेतुमें शरीरांशके व्यर्थ होनेसे

(३) तृतीयेऽपि कार्यत्वव्याप्तेः पक्षधर्मत्वसहकारात् विपक्षबाधकतर्कावतारात्च बलवत्त्वम् । उपन्यस्तायाः कर्ता शरीर्येवेति व्याप्तेर्दुर्बलतया न प्रतिबन्धः ।

(४) चतुर्थे च यदि पक्षधर्मतया अशरीरी उपस्थितस्तदा न विरोधः, कर्तृत्वस्याशरीरित्वसमानाधिकरणस्योपलम्भात् । तदनुपस्थाने तु न विरोधः, विरोधाश्रयस्यासिद्धेः ।

'व्याप्यत्वासिद्धि'के कारण दुर्बल होनेसे । [वह भी ईश्वरसाधक प्रबल अनुमानका बाधक नहीं हो सकता है]

इसका आशय है कि जो विरोधी अनुमान 'क्षित्यादिकम् अकर्तृकं शरीराजन्यत्वात्' प्रस्तुत किया गया है इसमें 'अकर्तृकत्व' की सिद्धिकेलिए केवल 'अजन्यत्वात्' इतना हेतु ही पर्याप्त है । 'शरीर' यह अंश हेतुमें बिल्कुल व्यर्थ है । इसलिए यह 'व्यर्थ-विशेषणता' या 'असमर्थ विशेषणता' दोषयुक्त होनेसे हेत्वाभास है । अत एव वह साध्यका साधक नहीं हो सकता है । यद्यपि यह कहा जा सकता है कि यहाँ 'शरीर-जन्यत्व' रूप अखण्डको हेतु बनाया गया है परन्तु फिर भी उससे विशेषणकी सार्थकता तो सिद्ध नहीं होती । अकर्तृकत्वकी सिद्धिके लिए 'अजन्यत्व' हेतु ही पर्याप्त है उसके साथ 'शरीर' पदके जोड़ देनेसे उसमें कोई विशेषता नहीं होती है । इसलिए यह 'असमर्थ विशेषण' होनेसे 'भागासिद्ध'के भेदमें आजाता है । 'भागासिद्ध स्वरूपासिद्ध' का भेद है । यहाँ ग्रन्थकारने उसे 'व्याप्यत्वासिद्ध'के अन्तर्गत किया है, जो चिन्त्य प्रतीत होता है ।

आगे तृतीय दोष का निराकरण करते हैं—

(३) तीसरे [दोषमें जो व्याप्ति विरोध दिखलाया था उस] में भी पक्षधर्मताके बलसे और विपक्ष बाधक तर्कके आ जानेसे [कार्यत्व व्याप्तिकी] प्रबलता है [और उसके विरोधमें] उपस्थित की गई 'कर्ता शरीरी ही होता है' इस व्याप्तिके दुर्बल होनेसे प्रतिबन्ध नहीं होता है। [यहाँ 'पक्षधर्मता सहकार'का अर्थ क्षित्यादिमें इतर कर्ताके सम्भव न होनेसे इतरबाध सहकारी है और विपक्ष बाधक तर्कका रूप 'कार्यत्वं यदि सकर्तृकत्व-व्यभिचारि स्यात् कर्तृजन्यतावच्छेदकं न स्यात्' । कार्यत्व यदि सकर्तृकत्वका व्यभिचारी हो तो कर्तृजन्यताका नियामक न हो इस प्रकारका है । इस तर्कके सहकारसे कार्यत्व व्याप्तिके प्रबल होनेसे प्रतिबन्ध अर्थात् प्रकृत साध्यके ज्ञानमें बाधक नहीं हो सकता है]।

पूर्व पक्षने 'कार्यत्व' हेतुमें 'साध्याप्रसिद्धि' रूपको चौथा दोष दिखलाया था उसका निराकरण अगली पंक्तियोंमें निम्न प्रकार करते हैं—

(४) और चौथे [साध्याप्रसिद्धि रूप दोष] में यदि पक्षतया [अर्थात् पक्षरूप क्षित्यादिमें अन्य किसी शरीरीके कर्ता सम्भव न होनेसे] अशरीरी कर्ता सिद्ध होता है तो [उस अशरीरी कर्ताके प्रमाण सिद्ध होनेसे] विरोध नहीं हो सकता है [उस दशामें शरीरी और अशरीरी दोनों प्रकारके कर्ता कार्यभेदसे माने जावेंगे । घटादिका कर्ता

(५) पञ्चमे च विपक्षबाधकतर्कसत्त्वात् तदभावनिबन्धना अज्ञानरूपा-सिद्धिर्व्याप्यत्वासिद्धिर्वा न शरीरजन्यत्वोपाधेरपि विपक्षबाधकाभावेनापास्तत्वात् ॥ २ ॥

ननु, यदीश्वरः कर्ता स्यात् शरीरी स्यादिति प्रतिकूलतर्कावतारोऽनकूल-तर्काभावश्च । तत्राह—

तर्काभासतयान्येषां तर्काशुद्धिरदूषणम् ।
अनुकूलस्तु तर्कोऽत्र कार्यलोपो विभूषणम् ॥ ३ ॥

शरीरी ही होता और क्षित्यादिका कर्ता अशरीरी ही होता है। इसलिए उभयविशिष्ट कर्ता न माननेसे 'साध्याप्रसिद्धि' दोष नहीं होगा]। कर्तृत्वके अशरीरित्वके समान अधिकरणमें उपलब्ध होनेसे [अशरीरी कर्ता माननेमें भी कोई विरोध नहीं है] और उस [अशरीरी कर्ता रूप ईश्वर] के सिद्ध न होनेपर विरोधके आश्रयके सिद्ध न होनेसे विरोध नहीं होता है।

(५) पाँचवें [व्याप्यत्वासिद्धि दोष] में विपक्षबाधक तर्कके होनेसे [अर्थात् 'यद् यद् सकर्तृकं तत् तत् शरीरजन्यम्' 'इस व्याप्ति-व्यभिचार-संशयके निराकरणमें समर्थ तर्कके न होनेसे उसका अभाव ही हमारे पक्षमें विपक्षबाधक तर्क बन जाता है] उस [उपाधि] के अभाव होने से [जो उपाधिको व्याप्तिज्ञान विरोधी मानते हैं उनके मतसे व्याप्तिकी] अज्ञान रूप असिद्धि [और अन्य मतमें 'उपाधिसद्भावात्'] व्याप्यत्वासिद्धि नहीं होती है। विपक्षबाधक [पूर्वोक्त] तर्कसे शरीरजन्यत्व उपाधिका खण्डन हो जानेसे [उपाधिके अभाव मूलक होनेसे भी व्याप्यत्वासिद्धि नहीं होती है ॥ २ ॥

ईश्वरबाधक तर्कका निराकरण—

अच्छा तो यदि ईश्वर कर्ता हो तो शरीरी होगा यह प्रतिकूल तर्क आ उपस्थित होता है और अनुकूल तर्कका अभाव है [अतः कार्यत्व हेतुसे क्षिति-कर्ताकी सिद्धि नहीं हो सकती है] इस [पूर्वपक्षके होने] पर कारिकाकार कहते हैं—

अन्य [अर्थात् 'ईश्वरः यदि कर्ता स्यात् शरीरी स्यात्' अथवा 'ईश्वरो यदि कर्ता स्यात् प्रयोजनवान् स्यात्' अथवा 'दुःखी स्यात्' इत्यादि प्रतिकूल तर्कोंके। 'अन्येषां' इस बहुवचनके प्रयोगसे अनेक प्रतिकूल तर्क दिखलाए हैं] अर्थात् प्रतिकूल तर्कोंके [ईश्वर रूप आश्रयके न होनेसे] तर्काभास होनेसे उस प्रतिकूल तर्ककी अशुद्धि होनेसे [वह ईश्वर सिद्धि में] 'अदूषणम्' अर्थात् दोष नहीं हो सकता है। और 'अत्र' अर्थात् हमारे ईश्वर साधक पक्षमें कार्यलोप [अर्थात् यदि ईश्वर कर्ता न हो तो क्षित्यादि कार्य भी न हो सकें इस प्रकारका] अनुकूल [ईश्वर साधक] तर्क विभूषण [अर्थात् अनुमानका उप-कारक समर्थक] है।

प्रतिकूलतर्कास्तावदीश्वरासिद्ध्या आश्रयासिद्धा इत्याभासाः। कर्तारं विना कार्यं न स्यादिति तर्कस्तु विभूषणम् उपकारकः। 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' (गीता) इत्यागमश्च।

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ (मनु० अ० १८)।

इति तर्कानुगृहीतस्यागमस्य बलवत्त्वम् ॥ ३ ॥

ननु कार्यत्वं प्रयत्नजन्यत्वेऽप्रयोजकम्। अत्राह—

इसी बात की व्याख्या वृत्तिकार निम्न प्रकार करते हैं—

['यदि ईश्वरः कर्ता स्यात् शरीरी स्यात्' इत्यादि] प्रतिकूल तर्क ईश्वर [रूप आश्रय] की असिद्धि होनेके कारण 'आश्रयासिद्ध' और इसलिए आभास [तर्काभास] रूप है। [इसलिए वह ईश्वरकी सिद्धिमें बाधक नहीं हो सकता है]। बिना कर्ताके कार्य नहीं होसकता है यह [ईश्वर सिद्धिमें अनुकूल] तर्क तो विभूषण अर्थात् [ईश्वर साधक अनुमानका] उपकारक है। [और उस तर्कसे समर्थित, अनुगृहीत गीता आदि शास्त्रों के ईश्वरसाधक वचन रूप] मैं [ईश्वर] 'सबका कारण हूँ, सब [सृष्टि] मुझसे [ही] उत्पन्न होती है' यह आगम भी [ईश्वरका साधक] है।

इसपर यह शङ्का हो सकती है कि ईश्वरके कर्तृत्वाभावसाधक 'प्रकृतेः क्रियमाणानि' आदि वचन भी गीतादिमें मिलते हैं फिर इसको कैसे प्रमाण मानें इसका उत्तर यह है कि ईश्वरसाधक आगमके तर्क सहकृत होनेसे वह ईश्वराभाव-बोधक आगमकी अपेक्षा प्रबल है अत एव उसको मुख्यार्थपरक मानना होगा। इसी प्रबलताको दिखलानेकेलिए वृत्तिकार मनुस्मृतिका वचन उद्धृत करते हैं—

'और जो ऋषियों द्वारा किए गए [आर्ष] धर्मोपदेशको वेद और शास्त्रके अविरोधी तर्कसे अनुसन्धान करता है वह ही धर्मके तत्त्व को समझता है अन्य नहीं।'

इस [मनुस्मृतिके वचनके अनुसार] तर्कसे अनुगृहीत आगमकी प्रबलता [स्वयं सिद्ध] है। [अर्थात् कर्ताके बिना कार्य नहीं हो सकता है इस तर्कसे अनुगृहीत 'मत्तः सर्वं प्रवर्तते' इत्यादि आगमके बलवान् होनेसे ईश्वरकी सिद्धि होती है] ॥ ३ ॥

ईश्वरसाधक दूसरे हेतु 'आयोजन' की विशेष विवेचना—

प्रथम कारिकामें ईश्वरसाधक हेतुओंमें दूसरा हेतु 'आयोजनम्' दिया था। 'आयोजन'का अर्थ कर्म है। सर्गादिमें परमाणुद्वयके संयोगका जनक कर्म, कार्यरूप होनेसे चेतन प्रयत्न पूर्वक है। इस प्रकार 'आयोजन' हेतुसे ईश्वरकी सिद्धि की थी। उसके ऊपर पूर्वपक्षी शङ्का करता है—

'आयोजन' हेतुके विषयमें पूर्व पक्ष—

अच्छा तो कार्यत्व हेतु [यहाँ कार्यत्व का अर्थ कर्मत्वं करना चाहिए] प्रयत्न-जन्यत्व में प्रयोजक नहीं है। [अर्थात् जो कर्म हो वह प्रयत्न-जन्य हो यह आवश्यक

स्वातन्त्र्ये जडताहानिः नादृष्टं दृष्टघातकम् ।
हेत्वभावे फलाभावः विशेषस्तु विशेषवान् ॥ ४ ॥

न हि कर्तारं हेतुं विना कार्यम् । परमाणोरेव यत्नवत्त्वे अचैतन्यानुपपत्तिः, अचेतनस्य चेतनप्रेरितस्यैव जनकत्वात् । अदृष्टमपि दृष्टकारणसहकारेणैव फलजनकम् । न च चेष्टायामेव भोक्तृप्रयत्नो हेतुः, न तु क्रियासामान्ये इति ।

नहीं है । बिना प्रयत्नके अदृष्टवश भी परमाणुमें स्वयं कर्म और संयोग हो सकता है इसलिए उस संयोगका जनक कर्मके हेतुभूत प्रयत्न और उसके द्वारा ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकती है । यह पूर्वपक्षका अभिप्राय है ।] इसका उत्तर, कारिकामें इस प्रकार दिया है—

इस पूर्व पक्ष का खण्डन—

[यदि परमाणुके प्रयत्नको] स्वतंत्र माननेपर, परमाणुमें जड़ता [अचैतन्य] नहीं रहेगी [अर्थात् परमाणुको चेतन मानना होगा । क्योंकि प्रयत्न चेतनका ही धर्म है । इसलिए अचेतन परमाणुमें स्वतंत्र रूपसे कर्म उत्पन्न नहीं हो सकता है । दूसरा दोष यह दिया जा सकता है कि यदि कर्म स्वतंत्र रूपसे नहीं हो सकता है तो भी चेतन प्रयत्नके बिना अदृष्टसे ही कर्म उत्पन्न हो जायगा । इसका उत्तर करते हैं] अदृष्ट [भी] दृष्ट कारणका बाधक नहीं है [अदृष्ट भी दृष्ट कारण प्रयत्नादिके बिना कार्य-जननमें समर्थ नहीं है । अन्यथा सर्वत्र अदृष्टसे ही कार्योत्पत्ति हो जानेपर कारणमात्रका लोप हो जावेगा । यदि यह कहें कि अन्य सब कारणोंका लोप हो जाय तो हो जाने दो उसमें कोई हानि नहीं है इसका अत्तर करते हैं] हेतुके बिना फलकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है [इसलिए अन्वय-व्यतिरेकसिद्ध कारणोंका निषेध नहीं किया जा सकता है । यदि यह कहें कि 'चेतन-प्रयत्न केवल चेष्टा अर्थात् चेतनमें रहनेवाली हितके प्राप्ति और अहितके परिहारार्थ होनेवाली क्रियाका हेतु है सामान्यतः क्रियामात्रके प्रति नहीं' तो इसका उत्तर करते हैं कि जिन विशेषोंमें कार्यकारण भाव होता है उनके सामान्यमें भी कार्यकारणभाव होता है । अत एव प्रयत्न विशेष जब चेष्टा रूप कर्म विशेषके प्रति कारण है तो क्रिया सामान्यके प्रति प्रयत्न सामान्य भी कारण मानना ही होगा] विशेष [कार्य] विशेष [कारण] से युक्त होता है [तो सामान्यका भी कार्य-कारण भाव होता है इसलिए किसी सामान्यके प्रति प्रयत्नसामान्य को भी कारण मानना ही होगा] ।

यह कारिकाका अर्थ हुआ । इसीकी व्याख्या वृत्तिकार निम्न प्रकार करते हैं—

कर्ताके बिना कार्य नहीं होता है [अतः सृष्टिके आरम्भमें परमाणुद्वयका संयोग करानेवाला कोई होना ही चाहिए वही परमात्मा है] परमाणुको ही प्रयत्नवान् माननेपर [वह परमाणु] अचेतन नहीं बनेगा । क्योंकि अचेतन चेतनसे प्रेरित होनेपर ही कार्यका जनक होता है । अदृष्ट भी दृष्ट कारणके सहकारसे ही फलजनक होता है । 'केवल चेष्टामें

चेष्टायां विशेषप्रयत्नस्य हेतुत्वेऽपि क्रियासामान्ये प्रयत्नसामान्यस्य कारणत्वानपायात्। अन्यथा बीजविशेषस्यांकुरविशेषे जनकत्वेनाङ्कुरसामान्यं प्रति बीजत्वेन हेतुताया अपि विलोपापत्तेः ॥ ४ ॥

ननु धृत्यादीनां प्रयत्नजन्यत्वे किं मानमित्यत्राह—

कार्यत्वान्निरुपाधित्वमेवं धृतिविनाशयोः ।
विच्छेदेन पदस्यापि प्रत्ययादेश्च पूर्ववत् ॥ ५ ॥

धृतिविनाशयोः प्रयत्नजन्यत्वान्निरुपाधित्वम् । विच्छेदेनान्तराप्रलयेन आदर्शाद्यभावात् अर्वाग्दर्शी नाद्यव्यवहारमूलम् व्यवहारानभिज्ञत्वादिति सर्गाद्यकालीनघटादिव्यवहारप्रवर्तकः पुरुषः सिद्ध्यति । एवं प्रत्ययादेर्वेदजन्यधीप्रामाण्यादेरपि निरुपाधित्वम् ।

ही भोक्ताका प्रयत्न हेतु होता है क्रिया सामान्यमें नहीं यह भी नहीं' कहना चाहिए। क्योंकि चेष्टामें विशेष प्रयत्नके हेतु होनेपर भी क्रिया सामान्यके प्रति प्रयत्न सामान्यका कारणत्व खण्डित नहीं होता है। अन्यथा बीज विशेषके अंकुर विशेषके प्रति जनकत्वसे अंकुर सामान्यके प्रति बीजत्व सामान्यसे हेतुताका लोप हो जायगा ॥ ४ ॥

तीसरे ईश्वरसाधक हेतु 'धृत्यादेः' पर पूर्व पक्ष—

[प्रथम कारिकामें तीसरा ईश्वर-साधक हेतु 'धृत्यादेः' दिया था। उसपर शङ्का करते हैं] अच्छा तो 'धृति' आदिके प्रयत्नजन्य होनेमें क्या प्रमाण है? इस [पूर्व पक्षके होने] पर [कारिकाकार] कहते हैं—

शेष हेतुओंके सम्बन्धमें पूर्वपक्षका निराकरण—

इस प्रकार [पूर्वोक्त प्रकारसे क्रिया सामान्यके प्रति प्रयत्न सामान्यके कारणत्वके होनेसे धृति और विनाशके प्रति भी प्रयत्न सामान्यका कारणत्व सिद्ध हो जानेसे] धृति और विनाश [हेतुओं] का [भी] निरुपाधित्व [अर्थात् अव्यभिचारित्व] है। [विच्छेदन अर्थात्] प्रलय हो जानेके कारण [अगली सृष्टिके प्रारम्भमें 'पदस्य' अर्थात्] घटादि सम्प्रदाय व्यवहारका भी [कार्यत्व हेतुसे निरुपाधित्व है इसी प्रकार प्रत्ययादि अर्थात्] वेदप्रामाण्यादिका भी पूर्ववत् निरुपाधित्व [अर्थात् अव्यभिचारित्व] है।

यह कारिकाका अर्थ हुआ। आगे वृत्तिकार उसकी व्याख्या निम्न प्रकार करते हैं—

धृति और विनाशका प्रयत्न जन्य होनेसे अव्यभिचारित्व है। विच्छेद अर्थात् मध्यवर्ती प्रलयके कारण आदर्श आदिके न होनेसे अर्वाग्दर्शी [नवीन पुरुष], आदि-व्यवहारका मूल नहीं हो सकता है। व्यवहारसे अनभिज्ञ होनेके कारण। इसलिए सर्गके आदि-कालमें घटादि-व्यवहारका प्रवर्तक, पुरुष सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'प्रत्ययादेः' अर्थात् वेदप्रामाण्य आदिका भी निरुपाधित्व सिद्ध होता है ॥

मीमांसकके समाधानार्थ आठ हेतुओंकी दूसरी व्याख्या—

'तत्साधकप्रमाणाभावात्' यह पञ्चमी विप्रतिपत्ति मुख्यतः सांख्यके 'ईश्वरासिद्धेः'

अथवा कार्यत्वादिकमन्यथा व्याख्यायते । कार्यं तात्पर्यम् । तात्पर्यविषय एव शब्दप्रामाण्यमिति तात्पर्यं हि यस्य वेदे स एवेश्वरः । आयोजनं व्याख्यानम् । वेदास्तदर्थविद् व्याख्याता महाजनपरिगृहीतवाक्यत्वात् । अव्याख्यातत्वे पदार्थानवगमेऽननुष्ठानापतेः । एकदेशदर्शिनश्च व्याख्यायां नाश्वासः । एवं धृतिर्धारणं, धृत्यादेरिति आदिग्रहणात् अनुष्ठानसंग्रहः एवमीश्वरादिपदार्थतया ईश्वरसिद्धिः । तदुक्तम्—

सूत्रके आधारपर उठाई गई थी । इसलिए यहाँतक उसीके समाधानकेलिए वृत्तिकारने ईश्वरसाधक आठ हेतुओंकी व्याख्या की है। किन्तु सांख्यके समान मीमांसक भी ईश्वरको नहीं मानता है। उसकी दृष्टिमें भी ईश्वरसाधक कोई प्रमाण नहीं है। इसलिए आगे वृत्तिकार ईश्वरसाधक इन्हीं आठ हेतुओंकी दूसरी व्याख्या प्रस्तुतकर मीमांसकका भी समाधान करनेका हल करते हैं। यह दूसरी व्याख्या अगले छठी कारिकासे प्रारम्भ होकर आगेकी कारिका तक चलेगी । जैसा कि सांख्यपक्षमें किया था कि पहिले ईश्वरसाधक आठों हेतुओंकी सामान्य व्याख्या करके फिर एक-एक हेतुकी विशेष विवेचना की थी, इसी प्रकार इस मीमांसक पक्षमें भी करेंगे। इसलिए पहिले मीमांसककी दृष्टिसे आगे हेतुओंकी सामान्य व्याख्या करते हैं—

अथवा [वेदके प्रामाण्यको स्वीकार करनेवाले मीमांसकके प्रति ईश्वरकी सिद्धि करनेके अभिप्रायसे इस स्तबककी प्रारम्भिक कारिका] 'कार्यायोजन' इत्यादि [कारिका] की दूसरी प्रकारसे व्याख्या करते हैं—

'कार्य' [का अर्थ मीमांसक पक्षमें कार्यत्व, अर्थात् उद्देश्यत्व, अर्थात् अभिप्रायी विषयत्व है] अर्थात् तात्पर्य । विषयमें ही शब्दका प्रमाण्य होता है [इसलिए अर्थवाद वाक्योंमें, प्रशंसा परक वाक्य प्रवृत्तिके उद्देश्यसे और निन्दा वाक्य निवृत्तिके उद्देश्यसे प्रवृत्त होनेके कारण प्रवृत्ति और निवृत्ति ही उनका अर्थ माना जाता है] इसलिए वेदमें जिसका तात्पर्य है। [अर्थात् वैदिक वाक्योंमें जिस वक्ताका तात्पर्य निहित है] वही ईश्वर है । [यह 'कार्यत्व' इस प्रथम हेतुका अभिप्राय हुआ] 'आयोजन' [का अर्थ मीमांसक पक्षमें] 'व्याख्यान' [है] । वेद, उसके अर्थको जाननेवाले [ईश्वर] द्वारा व्यख्यात हुए हैं। महाजनोंसे परिगृहीत होनेके कारण। सर्वथा अव्याख्यात होनेपर [वैदिक यागादि] पदार्थोंका ज्ञान न होनेसे उनका अनुष्ठान नहीं हो सकेगा । और एकदेशदेशी [असर्वज्ञ] की व्याख्यामें विश्वास नहीं होगा। इस प्रकार 'धृति' [शब्दका अर्थ मीमांसक पक्षमें] धारण [अर्थात् वेदधारण, अर्थात् वेदाध्ययन और] 'धृत्यादेः' इस 'आदि' पदके ग्रहणसे 'अनुष्ठान' का संग्रह [समझना चाहिए]। इसी प्रकार ['पदात्' अर्थात्] ईश्वरादि पद [के सार्थक होने] से ईश्वरकी सिद्धि होती है। जैसा कि [कारिकाकार श्री उदयनाचार्यने] कहा है—

उद्देश एव तात्पर्यं व्याख्या विश्वदृशः सती ।
ईश्वरादिपदं सार्थं लोकवृत्तानुसारतः ॥

उद्देश इच्छाविशेष एव, 'अहं सर्वस्य प्रभवः' इत्यादावहं पदं स्वतन्त्रोच्चारयितृपरं लोकस्थले सतात्पर्यकशब्दस्यैव प्रमाणत्वात् 'य एव लौकिकास्त एव वैदिकाः' इति लौकिकाहमादिपदवदलौकिकेऽपीयमेव व्यवस्था ।

'प्रत्ययतः' विधिप्रत्ययात् । आप्ताभिप्रायो विध्यर्थः । यस्याभिप्रायः स एवेश्वरः ॥ ५ ॥

उद्देश [अर्थात् इच्छा विशेष । सर्वज्ञ ईश्वरकी इच्छा विशेष] ही [वेदमें] तात्पर्य है [अतः उस इच्छावान ईश्वरकी सिद्धि होती है]। सर्वज्ञकी व्याख्या ही ठीक हो सकती है [अन्यकी नहीं] लौकिक व्यवहारके समान ईश्वरादि पदसार्थक है ।

उद्देश [शब्दका अर्थ] इच्छाविशेष है । इस प्रकार 'अहं सर्वस्य प्रभवः' इत्यादि में 'अहं' पद स्वतन्त्र उच्चारयिताका बोधक है । लौकिक स्थलमें सतात्पर्यक शब्दका ही प्रामाण्य मानने से । जो [जिस प्रकार के] लौकिक शब्द है वही [उसी प्रकारके] वैदिक शब्द है, इस न्यायसे लौकिक 'अहम्' आदि पदके समान अलौकिक पदमें भी यही व्यवस्था है। [अर्थात् अलौकिक-वैदिक-अहम् पदका भी स्वतन्त्र उच्चारयिता-ईश्वर-का बोधक है] ।

'कार्यायोजन-धृत्यादेः' इत्यादि इस स्तबकको प्रथम कारिकाकी दूसरी व्याख्या मुख्यतः मीमांसकके सामने ईश्वरसिद्धिके अभिप्रायसे प्रारम्भ की है । इसमें कार्यत्व 'आयोजन धृत्यादेः' और पदात् इन चार हेतुओंकी दूसरी प्रकारकी व्याख्या दिखलाई जा चुकी है । 'प्रत्ययतः' की दूसरी व्याख्या 'विधि प्रत्ययात्' की है। और 'आप्ताभिप्राय' के 'विध्यर्थ' होनेसे जिसका अभिप्राय विधिवाक्योंमें विध्यर्थ है वही ईश्वर है । इसप्रकार 'विधि-प्रत्यय' से ईश्वरकी सिद्धि करते हैं ।

प्रत्ययतः अर्थात् विधि प्रत्ययसे । आप्तका अभिप्राय विध्यर्थ है। जिसका अभिप्राय [विध्यर्थ है] वही ईश्वर है ॥ ५ ॥

आप्ताभिप्रायको अभी 'विध्यर्थ' बतलाया है । आगे १४वीं कारिका तक इस-विध्यर्थकी विस्तारपूर्वक विवेचना की गई है । उसमें ७, ८, ९ और १० इन चार कारिकाओंमें कर्तामें रहनेवाले किसी भी धर्मको विध्यर्थ नहीं माना जासकता है इसका प्रतिपादन किया है । ११वीं कारिकाके कर्म-निष्ठ धर्मकी और १२, १३वीं कारिकामें करण-निष्ठ धर्मकी विध्यर्थताका खण्डन कर अन्तमें १४वीं कारिकामें फिर आप्ताभिप्रायको 'विध्यर्थ' सिद्ध किया है । इस प्रकार ६ से लेकर १४ तक नौ कारिकाओंमें विस्तारपूर्वक 'विध्यर्थ' की मीमांसा की गई है । और उसके फलस्वरूप 'आप्ताभिप्राय' को 'विध्यर्थ' सिद्ध किया गया है । उससे ही परम-आप्त ईश्वर

प्रवृत्तिः कृतिरेवात्र सा चेच्छातो यतश्च सा।
तज्ज्ञानं, विषयस्तस्य विधिः, तज्ज्ञापकोऽथवा ॥ ६ ॥

विधिजन्यज्ञानात् प्रवृत्तिर्दृश्यते। सा च इच्छातश्चिकीर्षातः। चिकीर्षा च कृतिसाध्यत्वेष्टसाधनताज्ञानात्। तज्ज्ञानस्य विषयः कार्यत्वं इष्टसाधनत्वं च विधिरिति प्राचीनमतम्। स्वमतमाह तज्ज्ञापकोऽथवेति। इष्टसाधनत्वानुमापक आप्ताभिप्रायो विधिप्रत्ययार्थः ॥ ६ ॥

प्रवृत्तिप्रयोजकेच्छाहेतुज्ञानविषयं परिशेषयति—

इष्टहानेरनिष्टाप्ते-रप्रवृत्ते-र्विरोधतः।
असत्त्वात् प्रत्ययत्यागात् कर्तृधर्मो न सङ्करात् ॥ ७ ॥

की सिद्धि होती है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। यही बात इस कारिकामें भी कहते हैं—

[यद्यपि 'आद्या प्रवृत्तिरिच्छैव' इस नियमके अनुसार इच्छा ही आदि प्रवृत्ति है परन्तु अत्र अर्थात्] यहाँ [इस विधि प्रकरणमें] कृतिका नाम ही प्रवृत्ति है। [विधि जन्य ज्ञानसे प्रवृत्ति होती है यह प्रवृत्ति कृति रूप ही है] और कृति इच्छा [चिकीर्षा कर्तुः इच्छा से होती है। और जिससे वह [इच्छा] होती है वह [कारण] ज्ञान है। ['इदं मदिष्ट-साधनम्' 'इदं मत्कृति-साध्यम्' यह मेरा इष्टसाधन है और मेरी कृतिसे साध्य है इस प्रकारका ज्ञान चिकीर्षाको उत्पन्न करता है] उसका विषय [इष्टसाधनत्व और कृतिसाध्यत्व] ही विध्यर्थ है। अथवा उस [इष्टसाधनता] का अनुमापक [आप्ता-भिप्राय] ही विध्यर्थ है।

विधिजन्य ज्ञानसे प्रवृत्ति देखी जाती है। और वह [प्रवृत्ति] इच्छासे अर्थात् चिकीर्षा [करनेकी इच्छा] से होती है। चिकीर्षा [करनेकी इच्छा] कृतिसाध्यता और इष्टसाधनता ज्ञानसे होती है। उस ज्ञानका विषय कार्यत्व [कृतिसाध्यत्व] और इष्टसाधनत्व [ही] विध्यर्थ है यह प्राचीनोंका मत है। अपना मत कहते हैं, 'तज्ज्ञापकोऽथवा' इति। [उसका ज्ञापक अर्थात्] इष्टसाधनताका अनुमापक आप्ताभि-प्राय विधि प्रत्ययका अर्थ है ॥ ६ ॥

['स्वर्गकामः यजेत्' इत्यादि विधि वाक्योंके श्रवणके बाद होनेवाली] प्रवृत्तिकी प्रयोजिका जो इच्छा [चिकीर्षा] उसका हेतुभूत जो कृति-साध्यत्व और इष्ट-साधनत्व] ज्ञान उसका विषय ['आप्ताभिप्राय' ही है इस बातको कर्ता, कर्म, करण आदिके धर्म विध्यर्थ नहीं हो सकते हैं, इसका खण्डन करके] 'परिशेषानुमान' से सिद्ध करते हैं—

[स्पन्द अर्थात् गति रूप, कर्ताके धर्मको विध्यर्थ माननेमें] इष्ट हानि और अनिष्ट प्राप्ति [रूप दो दोष] होनेसे, [यत्न रूप' कर्तृधर्मको विध्यर्थमें] अप्रवृत्ति [रूप दोष और इच्छा रूपके कर्तृधर्मको विध्यर्थ माननेमें] विरोध [विध्यर्थ ज्ञानकालमें] असत्ता,

स्पन्दस्य कर्तृधर्मस्य प्रवृत्तिप्रयोजकत्वे 'आत्मानं विजानीयात्' इत्यत्राप्रवृत्तिप्रसङ्गात् 'ग्रामं गच्छति' इत्यतः प्रवृत्त्यापत्तेश्च ।

यत्नस्य विधित्वे दोषमाह 'अप्रवृत्तेः'। आख्यातान्तरेण यत्ने बोधितेऽपि इष्टसाधनत्वाप्रतिसन्धाने अनिष्टसाधनत्वज्ञाने वा अप्रवृत्तेः । इच्छाया विधित्वे दोषमाह 'विरोधतः' इति । इच्छया विधित्वे इच्छयैव तज्ज्ञानं जननीयं, इच्छाया ज्ञानेन चेच्छा जननीया इत्यन्योन्याश्रयः । तदिदमुक्तं 'विरोधत' इति ।

प्रसिद्ध कारणका परित्याग और सङ्कर [आदि सात दोष] होनेसे [स्पन्द, यत्न या इच्छादि] कर्तृधर्म [विध्यर्थ] नहीं [माने जासकते] हैं ।

कर्ताके स्पन्द [गति] रूप धर्मको [विध्यर्थ मानकर] प्रवृत्तिका प्रयोजक मानने पर 'आत्मानं विजानीयात्' इसमें [जहाँ कि प्रवृत्ति इष्ट है, ज्ञानके 'स्पन्दात्मक' अथवा गतिरूप न होनेसे] प्रवृत्ति नहीं होगी [क्योंकि विजानीयातसे स्पन्द का बोध नहीं होता है । इसलिए यहाँ इष्ट, प्रवृत्तिकी हानि होनेसे इष्ट-हानि दोष होगा]। और 'ग्रामं गच्छति' इससे ['गच्छति' पदसे गति या स्पन्दका ज्ञान होनेसे] प्रवृत्ति होने लगेगी । [यद्यपि यहाँ लिङ्, लोट्, तव्यत् आदि कोई विधिप्रत्यय न होनेसे प्रवृत्ति इष्ट नहीं है परन्तु फिर भी 'गम' धातुसे गत्यर्थकी प्रतीति होनेसे और उसीको प्रवृत्तिका प्रयोजक माननेसे अनिष्ट, प्रवृत्ति होने लगेगी । इस प्रकार 'स्पन्द' को विध्यर्थ माननेपर इष्टहानि और अनिष्टप्राप्ति दो दोष होते हैं इसलिए स्पन्द रूप कर्तृधर्मको विध्यर्थ नहीं माना जासकता है]।

'यत्न' [रूप कर्तृधर्म] के विधि [प्रत्ययके अर्थ] होनेपर दोष कहते हैं 'अप्रवृत्तेः' अर्थात् प्रवृत्ति न होनेसे [यत्नको विध्यर्थ नहीं मान सकते हैं । क्योंकि] अन्य आख्यातों [विधिप्रत्ययसे भिन्न लट् लिट् आदि अन्य तिङन्तों] से यत्नका बोध होनेपर भी ['भावनैव हि यत्नात्मा सर्वाख्यातस्य गोचरः । तया विवरणध्रौव्यादाक्षेपानुपपत्तितः ॥' इस नियमके अनुसार सभी आख्यात यत्नवाचक होते हैं इसलिए लिङादि विधि-प्रत्ययसे भिन्न अन्य लकारोंसे भी यत्नका बोध होजाता है परन्तु फिर भी] इष्ट साधनत्वके निश्चय के बिना अथवा अनिष्ट साधनत्वका ज्ञान होनेपर [उस कार्यमें] प्रवृत्ति नहीं होती है [इसलिए 'यत्न' को विध्यर्थ नहीं माना जासकता है]। 'इच्छा' [रूप कर्तृधर्म] के विधि [प्रत्ययका अर्थ] माननेमें दोष कहते हैं—'विरोधतः' इति । इच्छाके विध्यर्थ होनेपर [विध्यर्थका ज्ञान इच्छाको उत्पन्न करता है इसलिए इच्छा-ज्ञानको इच्छाका उत्पादक मानना होगा, और इच्छा-ज्ञानका विषय इच्छा है । विषय अपने ज्ञानके प्रति कारण होता है इसलिए 'इच्छा-ज्ञान' की उत्पत्ति इच्छासे होगी इस प्रकार] इच्छासे ही उसका ज्ञान उत्पन्न होगा और [विध्यर्थ रूप] इच्छाके ज्ञानसे [प्रवृत्तिकी हेतुभूत] इच्छा उत्पन्न होगी इसलिए अन्योन्याश्रय होगा इसीका 'विरोधतः' इस पदसे सूचित किया है ।

नन्विच्छाज्ञानं लिङा जननीयमित्यत्राह 'असत्त्वात्' इति। इच्छाज्ञाने जाते प्रवृत्तिहेतुस्वरूपसदिच्छाभावात् प्रवृत्तिर्न स्यात्। इच्छायाः स्वरूपसत्या एव प्रवृत्तिहेतुत्वात्। न च लिङ्श्रवणकाले इच्छा स्वरूपसतीत्यर्थः।

ननु लिङ्गेव इच्छाजनिका इत्यत्राह 'प्रत्ययत्यागात्' इति। इच्छाकारणत्वेन गृहीतस्य प्रत्ययस्य ज्ञानस्य कारणस्य त्यागापत्तेः, व्यभिचारादित्यर्थः।

इस प्रकार इच्छाको विध्यर्थ माननेमें अन्योन्याश्रय दोष दिखाया है। परन्तु उसके विषयमें पूर्वपक्षकी ओरसे यह कहा जा सकता है कि यहाँ इच्छा-ज्ञानके प्रति जो विषयभूत इच्छाको कारण बताया है सो ठीक नहीं है क्योंकि घटादि विषय, ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण होते हैं यह नियम केवल लौकिक प्रत्यक्ष स्थलके लिए है। अलौकिक योगि-प्रत्यक्षमें विषयकी कारणता नहीं होती। इसी प्रकार शाब्द-ज्ञानकी उत्पत्तिमें भी विषय कारण नहीं होता है क्योंकि उसमें अतीत अनागत पदार्थोंका भी शब्द प्रमाणसे भान होता है। यदि विषयको ज्ञानके प्रति सर्वत्र कारण माना जाय तो अतीत अनागत आदि पदार्थोंके अभावमें जैसे लौकिक प्रत्यक्ष नहीं होता इसी प्रकार शब्द प्रमाणसे भी उनका ज्ञान न होगा। परन्तु होता है, इसलिए शाब्द-बोध स्थलमें ज्ञानके प्रति इच्छारूप विषय कारण नहीं है। अपितु लिङ्के श्रवणके बाद इच्छाका ज्ञान होता है तो लिङ्को ही इच्छाका जनक मान लेनेसे अन्योन्याश्रय दोषका वारण हो सकता है। इसलिए विध्यर्थ रूप इच्छाका ज्ञान तो लिङ्से हो जायगा और उससे प्रवृत्तिकी हेतुभूत इच्छा उत्पन्न हो सकेगी। इस प्रकार अन्योन्या-श्रयका कोई प्रश्न नहीं आता। अतः 'इच्छा' को ही 'विध्यर्थ' मानना चाहिए। यह पूर्वपक्षकी ओरसे शङ्का की जा सकती है। उसके समाधानके लिए अगला हेतु 'असत्त्वात्' दिया है।

अच्छा तो इच्छाका ज्ञान लिङ्से उत्पन्न होना चाहिए। इस [शङ्काके होने] पर कहते हैं असत्त्वादिति। [इच्छाके ज्ञानके लिए यदि विषयभूत इच्छाकी आवश्यकता नहीं है और उसके अभावमें भी लिङ्से] इच्छाका ज्ञान हो जानेपर, प्रवृत्तिकी हेतुभूत स्वरूप-सती इच्छाके अभावसे प्रवृत्ति नहीं होगी। [क्योंकि] स्वरूप-सती [अर्थात् प्रवृत्तिके पूर्व स्वरूपतः विद्यमान] इच्छा ही प्रवृत्तिके प्रति हेतु होती है और लिङ्के ज्ञानकालमें इच्छा स्वरूप-सती नहीं है। [इसलिए इच्छाका ज्ञान हो जाने पर भी प्रवृत्ति नहीं होगी। 'असत्त्वात्' हेतुका] यह अभिप्राय है।

[इसपर फिर पूर्वपक्षी शङ्का करता है] अच्छा तो लिङ्को ही इच्छाका [भी] जनक मान लो इस [शङ्काके होने] पर कहते हैं—'प्रत्ययत्यागात्'। इच्छाका कारण [सर्वत्र प्रत्यय अर्थात्] ज्ञान [गृहीत] माना गया है उसको छोड़कर [आप यहाँ लिङ्को इच्छाका कारण मानना चाहते हैं इससे] क्लृप्त कारणका त्याग अर्थात् व्यभिचार प्राप्त होनेसे [लिङ्को इच्छाजनक नहीं माना जा सकता है। फलेच्छाका

लिङ्श्रुतिकाले सुखत्वादिप्रकारकधीजन्येच्छा लिङर्थ इत्यत्राह 'सङ्करात्' इति। इष्टसाधनताज्ञानस्य उपायेच्छाहेतोरवश्यं स्वीकारात् तत्र च कारणान्तराभावात् लिङ्पदमेव कारणम्। अतः फलेच्छाज्ञानं न प्रवृत्तिहेतुः। तद्विनापि प्रवृत्तिसम्भवात्। तथा च सङ्करादिष्टसाधनत्वज्ञानरूपसाधनसहचारत्वात्। इच्छाज्ञानस्य इच्छाजनकत्वे मानाभावेन तस्य लिङ्पदजन्यत्वे मानाभावाच्चेति ॥ ७ ॥

ननु यत्नज्ञानमेव प्रवर्तकमस्तु आख्यातान्तरञ्च न यत्नवाचकम्। अनुकूलव्यापारमात्र एव आख्यातशक्तेः 'रथो गच्छति' इत्यादौ तथा कल्पनात्। तत्राह—

ज्ञान उपायेच्छाके प्रति हेतु होता है इस भ्रमसे पूर्वपक्षी फिर शङ्का करता है कि—] लिङ् आदि [विधिप्रत्ययके श्रवणकालमें सुखादि रूप [फलकी] इच्छा ही लिङर्थ है [इसलिए लिङ्से फलेच्छा ज्ञान होता है और उससे चिकीर्षा रूप उपायेच्छा उत्पन्न होती है] इस विषयमें कहते हैं—'सङ्करात्'। उपायेच्छाके हेतु रूप इष्टसाधनता ज्ञानको अवश्य मानना होगा और उसका अन्य कोई कारण सम्भव न होनेसे लिङ्पद ही कारण होगा [अतः लिङ्पदमें इष्टसाधनता और फलेच्छा दो अर्थोंका सङ्कर होने लगेगा] इसलिए फलेच्छा-ज्ञान प्रवृत्तिका हेतु [मानने की आवश्यकता] नहीं है। उसके बिना भी प्रवृत्ति सम्भव होनेसे। इसलिए सङ्करात् [का अर्थ है] इष्टसाधनत्व ज्ञानरूप [प्रवृत्तिके अनिवार्य] साधनके साथ [फलेच्छाका] सहचार होनेसे। और इच्छाज्ञानके इच्छा जनकत्वमें कोई प्रमाण न होनेसे उस [इच्छाज्ञान] के लिङ्पदजन्य होनेमें भी प्रमाण न होनेसे [इच्छा भी विध्यर्थ नहीं है] ॥ ७ ॥

पिछली कारिकामें 'यत्न' [रूप कर्तृ धर्म] को 'विध्यर्थ' माननेमें यह दोष दिया था कि अन्य आख्यातोंसे भी 'यत्न' का बोध हो सकता है। अतः विधिप्रत्ययके अभावमें अन्य आख्यातोंसे भी यत्नकी प्रतीति होनेपर प्रवृत्ति होनी चाहिए जो नहीं होती है। इसलिए यत्न विध्यर्थ नहीं है। इसपर पूर्वपक्षी फिर शङ्का करता है कि—

अच्छा तो यत्न-ज्ञानको ही प्रवर्तक मानो अन्य कोई आख्यात यत्नका वाचक नहीं होता है। 'रथो गच्छति' इत्यादि में अनुकूल व्यापार भावमें ही आख्यात शक्तिकी कल्पना करनेसे [यत्न आख्यातार्थ नहीं है अतः यत्नको विध्यर्थ माना जा सकता है।]

'रथो गच्छति' उदाहरण देनेका आशय यह है कि नैयायिकके मतमें प्रथमान्तार्थ-मुख्य-विशेष्यक शाब्दबोध माना गया है। 'देवदत्तः पचति' का 'पाकानुकूलकृत्याश्रयो देवदत्तः' इस प्रकारका बोध होता है। जब आख्यातार्थ यत्न या कृतिको मानते हैं तब, 'पाकानुकूल-कृत्याश्रयो देवदत्तः' यह बोध होता है। इसी प्रकार 'रथो गच्छति' में 'गमनानुकूलकृत्याश्रयो रथः' इस प्रकारका बोध होना चाहिए। परन्तु रथ अचेतन है। कृति या यत्न चेतनके धर्म हैं, वह अचेतन रथमें नहीं रह सकते हैं।

कृताकृतविभागेन कर्तृरूपव्यवस्थया ।
यत्न एव कृतिः पूर्वा परस्मिन् सैव भावना ॥ ८ ॥

'घटः कृतो' 'अङ्कुरो न कृतः' इति व्यवहारात् कुलालादिः कर्ता न कारकान्तरमिति कृञ्धात्वर्थः कृतिः । ननु यत्नपदपर्यायता स्यादत आह पूर्वेति ।

इसलिए गमनानुकूल 'यत्न' अथवा 'कृति' का आश्रय रथ नहीं हो सकता है। इसलिए 'कृति' अथवा 'यत्न' के स्थान पर यदि 'व्यापार' मात्रको जो चेतन अचेतन दोनोंमें रह सकता है आख्यातार्थ माना जाय तो 'रथो गच्छति' में 'गमनानुकूलव्यापाराश्रयो रथः' यह शाब्द बोध होगा। और वह सुसङ्गत है। इसलिए 'रथो गच्छति' इत्यादि में अनुकूल 'व्यापार' को ही आख्यातार्थ माना जाता है 'यत्न' को नहीं। अतएव 'यत्न' को विध्यर्थ माना जा सकता है। यह पूर्वपक्ष है।

इस [पूर्वपक्षके होने] पर कहते हैं—

[कृति युक्त चेतन कुलालसे जन्य घटके विषयमें 'कुलालः घटं करोति' इस प्रकारका व्यवहार होने और कृति रहित अचेतन बीजादि जन्य अंकुरादि के विषयमें 'अंकुरं करोति' इस प्रकारका व्यवहार न होनेसे] कृत और अकृतके विभागसे कर्त्ताके रूप [अर्थात् कर्त्ता पद के व्यवहार] की व्यवस्था होनेसे यत्न ही कृति [अर्थात् कृञ् धातुका अर्थ] है। और उत्तरकाल वर्ती फलके उत्पादनमें [मीमांसक-मतमें] वह [कृति] ही [पूर्वा] कारणीभूत 'भावना' [पद से] कही जाती है।

घट [के विषयमें] कृतः = [करोति] यह व्यवहार होने और अंकुरके विषयमें कृतः = करोति यह व्यवहार न होनेसे [इस प्रकारका व्यवहार भेद देखे जानेसे] यत्नवान् कुलाल आदि ही कर्ता होता है अन्य कारक कर्ता नहीं। इसलिए यत्न ही कृति है कृञ् धात्वर्थ है और वही उत्तरकालवर्ती फलके प्रति साधनीभूत भावना है।

इसपर शङ्का यह होती है कि इस प्रकार तो यत्न कृञ् धात्वर्थ प्रतीत होता है फिर उसे आख्यातार्थ कैसे माना जायगा। इस शङ्काका समाधान यह है कि 'कृति' का शक्यतावच्छेदक धर्म 'यत्नत्व' है परन्तु आख्यातार्थमें शक्यतावच्छेदक धर्म फलानुकूलतापन्न यत्नत्व है। इसलिए शक्यतावच्छेदक धर्मके भिन्न होनेसे। इसी बातको कारिकाके 'पूर्वापरस्मिन् सैव भावना' शब्द से बोधित किया है। परस्मिन् अर्थात् उत्तरकालवर्ती फलमें पूर्वा अर्थात् साधनीभूता भावना है। पंक्तियोंका अर्थ इस प्रकार है—

'कुलालः घटं करोति' या 'कुलालेन घटः कृतः' इस प्रकारका व्यवहार होने [और 'बीजेनांकुरः कृतः' इस प्रकारका व्यवहार न होने] से कुलालादि [चेतन] ही कर्ता होता है अन्य [अचेतन] कारक नहीं इसलिए [चेतनमें रहनेवाली] कृति ही 'कृञ्' धातुका अर्थ है। [और वही आख्यातार्थ है]। अच्छा तो इस प्रकार [तो आख्यातार्थ कृति और कृञ्धत्वार्थ भी कृति होनेसे दोनों ही समानार्थक और] यत्नपद के पर्यायवाचक होंगे।

परस्मिन् उत्तरकालवर्तिनि फले विद्यमाने सैव कृतिरेव पूर्वा साधनीभूता भावना । फलानुकूलतापन्नयत्न एवाख्यातार्थः । यद्वा फलानुकूलव्यापार-धात्वर्थप्रचयजनिका पूर्वापरस्मिन् पूर्वापरीभूतत्वे सति कृतिराख्यातार्थः । तथा च प्रयत्नवत्त्वमनुकूलत्वं पूर्वापरीभूतत्वमिति त्रयमर्थः ॥ ८ ॥

इसलिए कहा है 'पूर्वा परस्मिन्' । अर्थात् उत्तरकालवर्ती फल [के उत्पादन] में पूर्वा अर्थात् साधनीभूत ['मीमांसकाभिमत' भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः भावना' अर्थात् उत्तरकालवर्ती फलके भवितुः कार्य रूप फलके उत्पत्त्यनुकूल । भावयितुः अर्थात् कारणका व्यापार विशेष रूप] भावना भी वही है। [अर्थात् 'यत्न' का शक्यतावच्छेदक केवल 'यत्नत्व' है और 'कृति' का शक्यतावच्छेदक 'फलानुकूलतापन्न यत्नत्व' है। इसलिए] फलानुकूलतापन्न यत्न ही आख्यातार्थ है। [मीमांसक भी इसी 'फलानुकूलतापन्न यत्न' को आख्यातार्थ मानता है और उसे 'भावना' शब्द से व्यवहृत करता है]। अथवा [वैयाकरण अभिमत] फलानुकूल व्यापार रूप धात्वर्थ प्रचयकी जनक पूर्वापरीभूत व्यापार कलापरूप कृति आख्यातार्थ है । इस प्रकार प्रयत्नवत्त्व, फलानुकूलत्व और पूर्वापरीभूतत्व यह तीन आख्यातार्थ [के अन्तर्गत] हैं ॥ ८ ॥

शाब्दबोधके विषयमें मुख्यतः वैयाकरण मीमांसक और नैयायिक इन तीनोंने विशेष विचार किया है । और उनके शाब्दबोधके प्रकारोंमें भेद पाया जाता है । वैयाकरण 'धात्वर्थ मुख्य विशेष्यक' शाब्दबोध मानते हैं । अर्थात् उनके यहाँ धात्वर्थ ही शाब्दबोधमें मुख्य विशेष्य होता है । और वह व्यापारको धात्वर्थ मानते हैं। 'फलव्यापारयोर्धातुः' अर्थात् फल और व्यापार धातुके अर्थ हैं। धात्वर्थ मुख्य विशेष्यक का अर्थ यह हुआ कि व्यापार ही मुख्य विशेष्य बनता है अन्य सब साक्षात् या परम्परया उस व्यापाररूप धात्वर्थमें विशेषण होते हैं। जैसे 'देवदत्तः पचति' इस वाक्यसे 'देवदत्ताभिन्नैककर्तृकः वर्तमानकालिकः पाकानुकूलो व्यापारः' इस प्रकारका शाब्दबोध वैयाकरण मानता है । इसमें 'व्यापारः' यह मुख्य विशेष्य है। अन्य सब उसके विशेषण हैं । इस प्रकार वैयाकरणका यह शाब्दबोध 'धात्वर्थ मुख्य विशेष्यक' है ।

मीमांसक मतमें 'भावना मुख्य विशेष्यक' शाब्दबोध होता है। भावनाका 'भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषो भावना' यह लक्षण किया गया है। अर्थात् उत्पन्न होने वाले कार्यके उत्पत्त्यनुकूल उत्पादक अर्थात कारणका जो व्यापार विशेष है उसे 'भावना' कहते हैं । मीमांसकके शाब्दबोधमें इस भावनारूप व्यापारका प्राधान्य होता है। उसके अनुसार 'देवदत्तः पचति'का शाब्दबोध 'देवदत्ताभिन्नैककर्तृका वर्तमानकालिका पाकानुकूला भावना' इस प्रकार होगा। यों साधारणतः यह भी वैयाकरणके समान भावना अर्थात् व्यापार मुख्य विशेष्यक बोध है । परन्तु इनमें अन्तर यह है कि वैयाकरणका व्यापार धातुसे बोधित होता है और मीमांसककी भावना

आख्यातार्थ है। इसलिए मीमांसकका शाब्दबोध वैयाकरणोंके अनुसार धात्वर्थ मुख्य विशेष्यकबोध नहीं है।

मीमांसामें इस 'भावना' के भी दो रूप माने गये हैं एक 'शाब्दी भावना' और दूसरी 'आर्थी भावना'। 'आर्थी भावना' आख्यातांशसे बोधित होती है और 'शाब्दी-भावना' केवल लिङंशसे बोधित होती है। 'आर्थी-भावना' का लक्षण 'प्रयोजनेच्छाजनित-क्रियाविषयो व्यापार आर्थीभावना' यह है। इसका अभिप्राय यह है कि फलकी इच्छासे जो कर्ताका क्रियामें फलविषयक व्यापार है उसको 'आर्थी भावना' कहते हैं और वह आख्यातार्थ होती है। परन्तु जहाँ कर्ता स्वयं प्रवृत्त नहीं होता अपितु किसी अन्यकी प्रेरणासे प्रवृत्त होता है वहाँ दो व्यापार होते हैं। पहिले प्रेरणा करनेवाले प्रयोजक कर्ताका व्यापार जो उस प्रयोज्य कर्ताको प्रवृत्त करता है। इस व्यापारको 'पुरुषप्रवृत्त्यनुकूल व्यापार' कहते हैं। यह 'पुरुष प्रवृत्त्यनुकूल व्यापार' लौकिक वाक्यों में 'प्रयोजक-कर्ता' में अर्थात् प्रेरणा करने वालेमें रहता है। परन्तु मीमांसक मतमें वेद का वक्ता कोई पुरुष जिसमें ईश्वर भी सम्मिलित है, नहीं हैं। क्योंकि वह वेद को 'अपौरुषेय' मानते हैं। इसलिए जहाँ 'स्वर्गकामः यजेत' आदि वैदिक वाक्योंको सुनकर यागादि में प्रवृत्ति होती है वहाँ प्रयोजकत्व-व्यापार किसी पुरुषमें नहीं रहता अपितु वह वेद के शब्दों में ही रहता है। इसलिए उसको 'शाब्दी-भावना' कहते हैं। और वह लिङंशसे बोधित होती है। लिङ्के सुनने पर नियमतः 'अयं मां प्रवर्तयति' यह बोध होता है। इसलिए यह 'पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो व्यापारविशेषः' शाब्दी-भावनाका लक्षण है। इस प्रकार मीमांसककी द्विविध भावनाओंमें से 'शाब्दी-भावना' का फल या साध्य 'आर्थी-भावना' होती है। और वह आख्यातार्थ है।

नैयायिकके मतमें भी 'यत्न' ही आख्यातार्थ है। परन्तु उसका शाब्द, बोध प्रकार मीमांसकके समान यत्न अथवा 'भावनामुख्यविशेष्यक' नहीं अपितु 'प्रथमान्तार्थ-मुख्यविशेष्यक' होता है। अर्थात् वाक्यमें जो प्रथमान्त पद होता है वही शाब्दबोधमें मुख्य-विशेष्य बनता है। यह नैयायिक मत है। उसके अनुसार 'देवदत्तः पचति' का शाब्दबोध 'वर्तमानकालिकपाकानुकूलव्यापाराश्रयो देवदत्तः' इस प्रकार होगा। जिसमें प्रथमान्त देवदत्त पदका अर्थ ही मुख्य-विशेष्य होता है। यह शाब्दबोध के विषयमें तीनोंके अलग-अलग मत हुए।

अब प्रकृत आख्यातार्थके विषयमें विचार करें तो मीमांसक और नैयायिक तो क्रमशः 'भावना' और 'यत्न' को आख्यातार्थ मानते हैं। जो लगभग समानार्थक हैं। परन्तु वैयाकरणोंका मत इससे भिन्न है। वह व्यापारको आख्यातार्थ नहीं अपितु धात्वर्थ मानते हैं। और उसके स्थानपर 'कर्ता' और 'कर्म' को आख्यातार्थ मानते हैं। 'फलव्यापारयोर्धातुः, आश्रये तु तिङः स्मृताः'। अर्थात् फल और व्यापार धात्वर्थ हैं और उनके आश्रय अर्थात् फलाश्रय कर्म तथा व्यापाराश्रय कर्ता यह तिङ् अर्थात् आख्यातके अर्थ हैं। पाणिनिके 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' अष्टा० ३,

४, ६९ सूत्रमें 'लकाराः सकर्मकेभ्यो धातुभ्यः कर्मणि कर्तरि अकर्मकेभ्यो भावे कर्तरि च स्युः'। अर्थात् लकार सकर्मक धातुओंसे कर्म और कर्तामें तथा अकर्मक धातुओंसे भाव और कर्तामें होते हैं। इस प्रकार कर्म, कर्ता आदिको ही लकारार्थ अर्थात् आख्यातार्थ माना है। इसलिए वैयाकरण व्यापारको आख्यातार्थ न मानकर धात्वर्थ मानते हैं।

परन्तु नैयायिक 'यत्न' को आख्यातार्थ मानते हैं। उनका कहना है कि आख्यात की व्याख्या सदा 'कृत' धातुसे की जाती है। जैसे 'पचति' की व्याख्या अगर की जाय तो पचति अर्थात् 'पाकं करोति' यही व्याख्या होगी। इसमें 'पच्' धातु की व्याख्या 'पाक' शब्दसे और 'तिप्' की व्याख्या 'करोति' से की जाती है। इसी प्रकार 'गच्छति' की व्याख्या 'गमनं करोति' की जाती है। इसलिए तिप्की व्याख्या सदा कृतिसे ही होनेसे कृति ही आख्यातार्थ है। क्योंकि जिस शब्दसे जो अर्थ नियमतः प्रतीत होता है वही उसका अर्थ होता है। तिबंशसे नियमतः कृति बोधित होती है। इसलिए कृति ही तिबर्थ या आख्यातार्थ है।

यहाँ एक यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि इस प्रकार कृति को आख्यातार्थ मानने में पूर्वोक्त पाणिनि सूत्रसे विरोध आता है। इसका समाधान नैयायिक यह करते हैं कि उक्त पाणिनि सूत्रमें 'कर्मणि' और 'कर्तरि' अर्थात् कर्म और कर्तामें जो लकार विधान किए हैं वहाँ उन पदोंका अर्थ 'कर्मत्व' 'कर्तृत्व' करना चाहिए। जैसे 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' १, ४, २६ इस पाणिनि सूत्रमें द्वि और एक शब्द आए हैं। यदि इनका अर्थ सीधा संख्या लें तो द्वि पदसे दो और एक पदसे एक संख्याका ग्रहण होगा। इस प्रकार दो और एक संख्या मिलकर तीन हो जाते हैं। और तीनमें बहुवचनका प्रयोग होना चाहिए अर्थात् द्विवचनका नहीं। अर्थात् सूत्रमें 'द्व्येकयोः' के स्थानपर 'द्व्येकेषु' प्रयोग करना चाहिए था। परन्तु सूत्रकारने यहाँ द्विवचनका ही प्रयोग किया है। इसकी सङ्गति इस प्रकार लग सकती है कि द्वि शब्दसे यहाँ द्वित्वका और एक शब्दसे एकत्वका ग्रहण किया जाय। तब द्वित्व और एकत्व मिलकर यह दो ही पदार्थ होते हैं। इसलिए आचार्यने यहाँ द्विशब्दको द्वित्वार्थक और एकशब्दको एकत्वार्थक मानकर ही प्रयोग किया है। तो जैसे इस उदाहरणमें द्वि और एक शब्द से द्वित्व और एकत्वका ग्रहण होता है इसी प्रकार 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' इस सूत्रमें 'कर्म' और 'कर्ता' में जो लकारोंका विधान किया गया है वहाँ भी 'कर्म' शब्दका अर्थ 'कर्मत्व' और 'कर्ता' शब्दका अर्थ 'कर्तृत्व' करना चाहिए। उस दशामें कर्तृत्वका अर्थ कर्तृतावच्छेदक धर्म कृति ही आख्यातार्थ सिद्ध होती है। और पाणिनि सूत्रसे उसका कोई विरोध नहीं होता है। इसलिए कृति ही आख्यातार्थ है। यह नैयायिक मत हुआ।

इसपर दो शङ्काएँ हो सकती हैं। पहिली तो यह कि यदि 'कृति' ही आख्यातार्थ है तो आपके मतमें 'रथो गच्छति' में 'गमनानुकूलकृत्याश्रयो रथः' इस प्रकारका

ननु धातुना यत्नः प्रतीयते, आख्यातस्य चानुकूलव्यापारमात्रार्थकत्वम्। आक्षेपादेव च यत्नलाभः। इत्यत आह—

शाब्दबोध होगा। परन्तु रथ तो अचेतन है वह 'कृति' का आश्रय नहीं होसकता है। कृति तो चेतन में रहती है। इसलिए कृञ् धातुका अर्थ जो चेतनमें रहनेवाली 'कृति' है वह आख्यातार्थ नहीं है। अपितु 'अनुकूल व्यापार' ही को आख्यातार्थ माना जासकता है। और जहाँ 'देवदत्तः पचति' में कृतिकी आवश्यकता है वहाँ यही आख्यातार्थ रूप व्यापार सामान्य, 'कृति' रूप व्यापार विशेष का अनुमानसे बोध करा देगा। क्योंकि व्यापार शब्द व्यापार सामान्य का वाचक है और चेतन, निष्ठ विशेष व्यापारका नाम 'कृति' है। इसलिए इन दोनों में सामान्य विशेष भाव होनेसे आवश्यकता होनेपर व्यापार सामान्यसे 'कृति' रूप व्यापार विशेष आक्षेप द्वारा उपस्थित हो सकता है। इसलिये व्यापार को ही आख्यातार्थ मानना चाहिए 'कृति' को नहीं।

इसीके समर्थनमें दूसरा हेतु यह भी है कि 'ओदनं' इस एक पद के श्रवणके बाद 'पचति, भुंक्ते वा' यह जिज्ञासा होती है। 'पचति' और 'भुंक्ते' यह दोनों व्यापार विशेष है। 'ओदनम्' इस कर्म पद से यदि किसी प्रकार व्यापार सामान्यका ज्ञान हो तब तो उसको सुनकर 'पचति, भुंक्ते वा' इस व्यापार विशेषकी जिज्ञासा हो सकती है। परन्तु आपने व्यापार सामान्यको नहीं अपितु 'कृति' को आख्यातार्थ माना हुआ है इसलिए ओदनम्से व्यापार सामान्यकी उपस्थिति किसी प्रकार सम्भव नहीं है। यदि व्यापार सामान्यको आख्यातार्थ मानें तब तो 'परसमवेतक्रियाजन्यफलाश्रयत्वं कर्मत्वम्' इस प्रकारका कर्मका लक्षण होनेसे ओदनम् इस कर्मपदसे, ओदनके परसमवेत क्रियाजन्य फल अर्थात् विक्लित्ति या पाकका आश्रय होनेसे व्यापार सामान्यकी उपस्थिति हो सकती है और तब व्यापार विशेष रूप 'पचति भुंक्ते' आदिकी जिज्ञासा होसकती है। इसलिए व्यापार सामान्य या फलानुकूल व्यापार ही आख्यातार्थ है। ओदनके परसमवेत क्रियाजन्य फल अर्थात् विक्लित्ति या पाकको आश्रय होनेसे नैयायिक जो 'यत्न' को आख्यातार्थ मानना चाहता है यह उचित नहीं है। वह पूर्वपक्ष होता है। इसका समाधान करनेके लिए अगली कारिका लिखी गई है।

समाधान कारक सिद्धान्त पक्षका अभिप्राय यह है कि आख्यातार्थ क्या है इसका विधि करनेके लिए हमें 'पचति' आदि आख्यानिक पदोंका विश्लेषण करना चाहिए। 'पचति' इस पदके दो भाग हैं। एक प्रकृति या धातु और दूसरा प्रत्यय या तिवादि आख्यात। इस पचति पदकी जब हम व्याख्या करते हैं तो उसके पर्याय शब्द 'पाकं' 'करोति' कहे जाते हैं। इसमें पच धातुकी व्याख्या 'पाकं' पदसे और तिप् रूप आख्यातांशकी व्याख्या 'करोति' पदसे की जाती है। इससे सिद्ध होता है कि कृञ् धातुका अर्थ 'कृति' या 'यत्न' ही आख्यातार्थ है। इसी अभिप्रायसे पूर्वपक्ष उठाकर अगली कारिकामें उसका समाधान करते हैं—

भावनैव हि यत्नात्मा सर्वाख्यातस्य गोचरः ।
तया विवरणध्रौव्यादाक्षेपानुपपत्तितः ॥ ९ ॥

तया कृत्या, तद्वाचकपदेन, पचति पाकं करोतीति विवरणात् तत्र शक्तिः। अनुकूलव्यापारस्य यत्नानाक्षेपकत्वात् । वर्तमानपाकानुकूलव्यापारस्याचेतनेपि सत्त्वात् ।

ओदनमिति कर्मपदोत्तरं पचति भुंक्ते वेति जिज्ञासा च कर्मणः कृतिव्याप्यत्वप्रतिसन्धानेन, यथा पचतीत्यनन्तरं कर्मादौ जिज्ञासा ॥ ६ ॥

अच्छा [कृञ] धातुसे यत्नकी प्रतीति होती है और आख्यात केवल अनुकूल व्यापार रूप अर्थका बोधक है और [देवदत्तः पचति आदि स्थलोंमें आख्यातार्थ व्यापार से ही] आक्षेप द्वारा यत्नका लाभ होसकता है। [इस प्रकार कृञ् धात्वर्थ और आख्यातार्थका भेद किया जासकता है। अतः आपका शक्यतावच्छेदक भेदसे किया भेद ठीक नहीं है] इस [शङ्काके होनेपर] कहते हैं—

उससे [पचति आदिमें पाकं करोति आदि रूपसे कृञ धातु या करोतिसे तिबर्थकी] व्याख्याका निश्चित होनेसे भावना रूप [अर्थात् मीमांसकोंकी भावना रूप आख्यातार्थसे अभिन्न] यत्न ही समस्त आख्यातों [लकारों] का अर्थ है। आक्षेपसे [आख्यातका व्यापारमात्र अर्थ मानकर आक्षेप द्वारा यत्न अर्थके लाभ] के अनुपपन्न होनेसे [यत्न ही आख्यातार्थ है]।

उस कृतिसे अर्थात् उसके वाचक [करोति] पदसे 'पचति' अर्थात् 'पाकं करोति' इस प्रकार [तिबर्थकी व्याख्या 'करोति' से करनेके कारण] उस [कृति] में ही [आख्यात तिप्‌की] शक्ति है। अनुकूल व्यापार [को आख्यातार्थ मानकर देवदत्तः पचति आदि स्थलोंमें उससे यत्नका आक्षेप अनुपपन्न होनेसे। [व्यापारको आख्यातार्थ और यत्नका आक्षेपक नहीं माना जासकता है। अनुकूल-व्यापारसे यत्नका आक्षेप इसलिए नहीं होसकता है कि] वर्तमानकालिक पाकानुकूल व्यापारके अचेतन [काष्ठादि] में भी होनेसे। [अनुकूल व्यापारकी यत्नके साथ नियत सम्बन्ध रूप व्याप्ति नहीं है इसलिए वह यत्नका आक्षेप नहीं करा सकता है। अतः यत्नमें ही आख्यात शक्ति है]।

ओदनम् इस कर्मपदके [श्रवणके] बाद [होनेवाली] 'पकाता है अथवा खाता है' [पचति भुङ्क्ते वा] इस प्रकारकी जिज्ञासा [आख्यातके यत्नार्थक होनेपर और कर्मपदसे यत्न सामान्यके प्रतीत न होनेके कारण पचति भुंक्ते वा इत्यादि रूप यत्न विशेषकी जिज्ञासाके प्रति हेतुभूत यत्नसामान्यके ज्ञान रूप सामग्री न होनेपर भी] कर्म [मात्र] के कृतिव्याप्यत्व [परसमवेत क्रियाजन्य फलाश्रयत्व रूप कृति व्याप्यत्व] के ज्ञानसे होती है। जैसे 'पकाता है' [पचति इस क्रियापदके ज्ञानके] अनन्तर कर्मादि [ओदनम् तेमनम् वा] 'भात या इमली' [या दाल क्या पकाता है] यह जिज्ञासा

[आख्यातके कर्मादिके अनुपस्थापक होनेपर भी आख्यातार्थ कृतिमें कर्म व्याप्यत्वके प्रति सन्धानसे पचतिसे कर्म सामान्यकी उपस्थिति द्वारा कर्मविशेष ओदनादिकी जिज्ञासा के समान] होसकती है ॥ ९ ॥

इसपर फिर वैयाकरणोंकी ओरसे यह पूर्वपक्ष होता है कि 'पचति' का 'पाकं करोति' इस प्रकारका जो विवरण होता है उसके आधार पर नैयायिकने 'कृञ्' धात्वर्थ कृतिको आख्यातार्थ माना है। तब 'पचति' का दूसरी प्रकारसे 'पाकयत्नवान्' यह विवरण भी हो सकता है। उस अवस्थामें कर्ताको आख्यातार्थ क्यों न माना जाय ? इसका उत्तर यह है कि जिस आख्यातका अर्थ कृति है उसीसे संख्या भी बोधित होती है। एकवचन, द्विवचन, बहुवचनमें प्रयुक्त आख्यातसे बोधित संख्याका अन्वय कर्तामें ही होता है। इसलिए कर्ताका संख्या द्वारा आक्षेपसे बोध होसकता है अतएव उसे वाच्यार्थ नहीं कहा जासकता है। क्योंकि 'अनन्यलभ्य एव हि शब्दार्थः' यह नियम है। अर्थात् जो अर्थ अन्य किसी प्रकारसे लभ्य न हो वही शब्दार्थ होता है। यहाँ संख्याके अन्वय योग्य 'संख्येय' या 'कर्ता' आक्षेपलभ्य हो सकता है अतः कर्तामें आख्यातकी शक्ति नहीं माननी चाहिए।

इसपर वैयाकरण यह प्रश्न कर सकता है कि 'संख्येय' 'कर्ता' को जब आप [नैयायिक] आक्षेपलभ्य कहते हैं तब उसका शाब्दबोधमें अन्वय कैसे होगा। क्योंकि शाब्दबोधका साधारण सिद्धान्त है 'शाब्दी हि आकांक्षाशब्देनैव पूर्यते' शब्दतः उपस्थित अर्थका ही शाब्दबोधमें अन्वय होता है। अनुमानादि अन्य प्रकारोंसे उपस्थित अर्थका शाब्दबोधमें अन्वय नहीं हो सकता है।

इसके उत्तरमें नैयायिक यह कहता है कि यहाँ आक्षेपलभ्यका अर्थ 'संख्यालिङ्गक-अनुमिति-विषयत्व' नहीं है। अर्थात् यदि संख्याको लिङ्ग मानकर उससे क्योंकि संख्या गुण है, गुण किसी गुणीमें ही रहना चाहिए। प्रकृतमें उसका आधार कर्ताके अतिरिक्त और कुछ हो नहीं सकता है इसलिए कर्ता होना चाहिए। इस प्रकार यदि परिशेषानुमानकी प्रक्रियासे कर्ताकी सिद्धि की जाय तब तो आपका कहा हुआ दोष हो सकता है कि कर्ता प्रकारान्तरसे लभ्य है अतः उसका शाब्दबोधमें अन्वय नहीं हो सकता है। परन्तु यहाँ आक्षेपलभ्यका हम यह अर्थ नहीं करते हैं। हमारे [नैयायिकके] अनुसार 'आक्षेपलभ्य'का अर्थ 'प्रथमान्तपदोपस्थाप्यत्वे सति आख्यातार्थविशेष्यत्वं आक्षेपलभ्यत्वम्' है। इसका भाव यह हुआ कि जो प्रथमान्त पदसे उपस्थित हो और आख्यातार्थ कृतिमें विशेष्य हो उसको 'आक्षेपलभ्य' कहते हैं। जैसे 'देवदत्तः पचति' इस उदाहरणमें 'देवदत्तः' कर्ता है। इसमें आक्षेप लभ्यत्वका यह लक्षण घट जाता है क्योंकि वह प्रथमान्त पदसे उपस्थित होता है और आख्यातार्थ जो कृति उसका आश्रय होनेसे आख्यातार्थ विशेष्य है। अर्थात् उसमें आख्यातार्थ कृति विशेषण है। 'पाकानुकूलकृत्याश्रयो देवदत्तः' इस प्रकारका बोध उस वाक्यसे होता है। पाका-

ननु कर्तुरपि विवरणात् तत्रापि शक्तिराख्यातस्य स्यात् । तत्राह—

आक्षेपलभ्ये संख्येये नाभिधानस्य कल्पना ।
संख्येयमात्रलाभे तु साकाङ्क्षेण व्यवस्थितिः ॥ १० ॥

नुकूल कृति यह आख्यातार्थ है जो देवदत्तमें आश्रयत्व सम्बन्धसे विशेषण है और देवदत्त उस कृति विशेषणका आश्रय होनेसे विशेष्य है। इसलिए 'प्रथमान्तपदोपस्थाप्यत्वे सति आख्यातार्थविशेष्यत्वम्' यह 'आक्षेपलभ्यत्व' देवदत्त रूप कर्तामें घट जानेसे कर्ता 'आक्षेपलभ्य' हुआ। साथ ही उसके शब्दसे उपस्थित होनेके कारण 'शाब्दबोध' में उसके अन्वय होनेमें कोई बाधा नहीं है। इसलिए 'आक्षेपलभ्य' कर्ता में आख्यातकी शक्ति मानना उचित नहीं है।

'आक्षेप लभ्यत्व' के इस लक्षणमें 'प्रथमान्तपदोपस्थाप्यत्वे सति' यह विशेषण अंश है और 'आख्यातार्थ विशेष्यत्वम्' यह विशेष्य अंश है। इन दोनोंसे यदि विशेष्यदल 'आख्यातार्थविशेष्यत्वं' न रखा जाय तो मुक्त्वा आदि अव्यय पदोंमें 'लिङ्गसङ्ख्याविनिर्मुक्तात् सुः पदत्वार्थमव्ययात्' इस नियमके अनुसार अव्यय पदोंसे भी प्रथमा-विभक्तिके एक वचन 'सु' की उत्पत्ति होती है। इसलिए 'मुक्त्वा' आदि अव्यय पदोंसे उपस्थापित आनन्तर्यादि अर्थोंमें भी 'प्रथमान्तपदोपस्थाप्यत्व' होनेसे 'आक्षेपलभ्यत्व' आजायगा उसके वारणके लिए 'आख्यातार्थविशेष्यत्वं' यह विशेष्य अंश दिया गया है। इसी प्रकार 'चैत्रेण सुप्यते' इस उदाहरणमें आख्यातार्थ जो वर्तमानत्व उसका विशेष्यत्व 'स्वाप' में भी रहता है। अतः यदि 'आख्यातार्थविशेष्यत्वं' इतना ही अंश रखा जाय तो 'स्वाप' में भी उक्त 'आक्षेपलभ्यत्व' चला जायगा अतः उसके वारणके लिए 'प्रथमान्तपदोपस्थाप्यत्वे सति' यह विशेषण अंश रखा गया है।

इस आक्षेपलभ्य कर्तामें ही आख्यातोपस्थाप्य संख्याका भी अन्वय होता है। भावना या कृति और एकत्वादि संख्या दोनों ही आख्यातांशसे बोधित होती है। इसलिए समानाभिधान अर्थात् एक ही प्रत्ययांश या आख्यातांशसे उपस्थित होनेके कारण उन दोनोंका अन्वय भी एक कर्तामें ही होता है। इसी विषयका प्रतिपादन इस दशम कारिकामें किया गया है। पंक्तियोंका अर्थ इस प्रकार है—

अच्छा तो [जैसे आप-नैयायिक 'पचति' का 'पाकं करोति' यह विवरण मानकर आख्यातकी शक्ति यत्न या कृतिमें सिद्ध करना चाहते हैं उसी प्रकार 'पचति' का दूसरी प्रकारसे 'पाकयत्नवान्' यह विवरण भी होसकता है। इस विवरणके आधार पर 'यत्न' का या 'कृति' के आश्रय अर्थात्] 'कर्ता' का भी विवरण होनेसे उस [कर्ता] में भी आख्यातकी शक्ति हो [माननी चाहिए] इस [शङ्का] के विषयमें कहते हैं —

संख्येय [अर्थात् आख्यात वाच्य संख्याके आश्रय कर्तादि] के आक्षेपलभ्य होनेसे [उस कर्ता आदि अर्थमें आख्यातकी] शक्तिकी कल्पना नहीं हो सकती है। [आक्षेप

आख्यातवाच्यया संख्यया आश्रयस्य आक्षेपादेव लाभान्न कर्तरि शक्ति-कल्पना। प्रथमान्तपदोपस्थाप्यत्वे सति आख्यातार्थविशेष्यत्वं आक्षेपलभ्य-त्वम्। 'मुक्त्वा' इत्यादौ क्त्वान्तार्थानन्तर्यवारणाय विशेष्य दलम्। 'सुप्यते' इत्यादौ वर्तमानत्वविशेष्यत्वं स्वापस्यापीति सत्यन्तदलम्।

से] तो संख्येय-मात्र [अर्थात् कर्ता और कर्म दोनों] का लाभ होनेपर भी आकांक्षा के अनुसार [कर्तृवाच्य प्रयोग 'चैत्रस्तण्डुलं पचति' इत्यादिमें चैत्रके प्रथमान्तपदो-पस्थाप्य होनेसे उसमें और 'चैत्रेण तण्डुलाः पच्यन्ते' आदि कर्मवाच्य प्रयोगमें कर्मभूत 'तण्डुलाः' के प्रथमान्तपदोपस्थाप्य होनेसे उस कर्मपदमें संख्याके अन्वय की] व्यवस्था होती है।

आख्यात वाच्य संख्याके आश्रय [कर्ता आदि] का आक्षेपसे ही लाभ हो जानेसे कर्तामें शक्तिकी कल्पना [की आवश्यकता] नहीं है। [यदि कर्ताको आक्षेपलभ्य माननेमें उसका शाब्दबोधमें अन्वय नहीं हो सकेगा यदि यह शङ्का हो तो उसका उत्तर यह है कि आक्षेपलभ्यत्वका अर्थ संख्यालिङ्गक अनुमिति विषयत्व नहीं अपितु] प्रथमान्त पदसे उपस्थित होनेवाला और आख्यातार्थमें विशेष्य [भूत अर्थ] आक्षेपलभ्य कहा जाता है यह [देवदत्तः पचतिमें देवदत्त पदार्थ प्रथमान्तपदोपस्थाप्य भी है और आख्यातार्थ विशेष्य भी अतः आक्षेपलभ्य और कर्ता है] 'मुक्त्वा' इत्यादि [अव्यय पदोंके प्रथमान्त होनेसे इन] में क्त्वान्त पदके अर्थ आनन्तर्य [आक्षेपलभ्यत्व] के वारण के लिए ['आख्यातार्थविशेष्यत्वम्' यह] विशेष्य अंश [रखा गया] है। [चैत्रेण] 'सुप्यते' इत्यादि [प्रयोगों] में वर्तमानत्व [रूप आख्यातार्थका] विशेष्यत्व 'स्वाप' में भी है इसलिए [उसमें आक्षेपलभ्यत्वके लक्षणके वारणके लिए] 'सति' पर्यन्त [प्रथ-मान्तपदोपस्थाप्यत्वे सति यह अंश] रखा गया है।

आख्यातसे भावना या 'यत्न' और 'संख्या' दोनों उपस्थित होते हैं। उनका अन्वय 'प्रथमान्तपदोपस्थाप्य' अर्थके साथ ही सदैव होता है द्वितीयादि अन्य विभक्तियोंसे उपस्थित अर्थके साथ नहीं होता है। इसका कारण यह है कि द्वितीयादि विभक्तियाँ कर्मत्वादि अन्य सम्बन्धोंको बोधन करती हैं। अतएव उन विभक्तियोंसे उपस्थापित अर्थ अन्य सम्बन्धसे युक्त ही उपस्थित होता है। अतएव उसको भावनाके अन्वयकी आकांक्षा नहीं होती है। परन्तु प्रथमा विभक्तिके प्रातिपदिक कार्य-मात्रमें होनेसे उससे शुद्ध प्रातिपदिकार्थ मात्र उपस्थित होता है। अतएव उसको अन्यके सम्बन्धकी आकांक्षा होती है। इधर भावना भी अन्वयके लिए साकांक्ष है अतएव भावनाका अन्वय शुद्ध प्रातिपदिकार्थके साथ होता है और उसीमें संख्याका अन्वय होता है। कर्तृवाच्य 'चैत्रस्तण्डुलान् पचति' इत्यादि प्रयोगमें कर्तृभूत चैत्र 'प्रथमान्त पदोपस्थाप्य' शुद्धप्रातिपदिकार्थ है अतएव संख्या और भावना दोनोंका अन्वय 'चैत्र' के साथ होता है और शाब्दबोधमें उसीका प्राधान्य होनेसे 'प्रथमान्तार्थमुख्य-

'चैत्रस्तण्डुलं पचति इत्यत्र द्वितीयार्थकर्मतावरुद्धत्वात् तण्डुलस्य, न तत्र भावनाकांक्षेति भावना शुद्धप्रातिपदिकार्थान्वयिनी। अत एव यं यं भावनान्वेति तं तं संख्यापीति, इत्येकपदोपात्तभावनान्वयबलात् कर्त्रादिसंख्याभिधान एव प्रथमेति। एवं कर्मापि नाख्यातपद-वाच्यम् ॥ १० ॥

विशेष्यक' शाब्दबोध होता है। इसके विपरीत 'चैत्रेण तण्डुलाः पच्यन्ते' इस कर्म-वाच्य प्रयोगमें 'चैत्र' पदार्थ कर्मतावरुद्ध है अतः उसके साथ भावनाका अन्वय नहीं हो सकता है। उसके स्थानपर 'तण्डुला' रूप कर्म प्रथमान्तपदोपस्थाप्य अर्थ है। वह कर्मतादिसे अनवरुद्ध नहीं अतएव शुद्ध प्रातिपदिकार्थ है। अतएव आख्यातार्थ भावना और संख्याका अन्वय उसके साथ होता है। इसी बातको मूल पाठमें इस प्रकार कहा है—

'चैत्र भातको पकाता है' इस उदाहरणमें [कर्म रूप] तण्डुलके द्वितीयार्थ कर्मतासे अवरुद्ध होनेके कारण उसके साथ भावना [और संख्या] का अन्वय नहीं होता है। [इसके विपरीत 'चैत्रके द्वारा भात पकाया जाता है' इस कर्म वाच्य प्रयोगमें कर्ता 'चैत्र' के तृतीयार्थावरुद्ध होनेसे उसके साथ नहीं अपितु शुद्ध-प्रातिपदिकार्थोपस्थापक प्रथमान्त पद से उपस्थापित तण्डुल पदार्थके कर्मत्वाद्यनवरुद्ध अतएव शुद्ध प्रातिपदिकार्थ होनेसे उसके साथ भावनाका अन्वय होता है।] इसलिए भावना शुद्ध प्रातिपदिकार्थके साथ ही अन्वित होती है [यह नियम है। और जिस आख्यातांशसे भावना बोधित होती है उसीसे संख्या भी उपस्थित होती है] इसलिए जिस-जिसके साथ भावनाका अन्वय होता है उसी-उसीके साथ संख्याका भी अन्वय होता है। इसलिए एकपदोपात्त भावनाके अन्वय-बलसे कर्ता आदि गत संख्याके अभिधानमें ही प्रथमा होती है। इसी प्रकार कर्म आदि भी आख्यातपदवाच्य नहीं होते हैं ॥ १० ॥

इस पञ्चम स्तबककी प्रथम कारिकामें ईश्वरकी सिद्धि के लिए आठ हेतु दिये गये थे। और उनकी दो प्रकारकी व्याख्या की गई थी। इसी द्विविध व्याख्याके प्रसङ्गमें अन्तिम हेतु 'प्रत्ययतः' की दूसरी व्याख्या 'विधिप्रत्ययात्' की गई थी। इसलिए विधि प्रत्ययके अर्थके विचारकी आवश्यकता हुई। लिङ् आदि रूप विधि प्रत्ययके अर्थके विषयमें नैयायिक, वैयाकरण तथा मीमांसकोंमें मतभेद है। नैयायिक आप्ताभिप्रायको विध्यर्थ मानता है। और उसीके आधारपर वह कहता है कि वैदिक विधि भागमें जिस आप्तका अभिप्राय विध्यर्थ रूपमें भासता है वही ईश्वर है। इस प्रकार प्रत्ययतः अर्थात् विधि प्रत्ययसे इश्वरकी सिद्धि होती है यह नैयायिकका अभिप्राय है। इसी सिद्धान्त की स्थापना करनेके लिए नैयायिकने अन्य मतों का खण्डन करते हुए सातवीं से दसवीं कारिका तक और मुख्य रूपसे सातवीं कारिकामें कर्तृ-धर्मकी विध्यर्थताका खण्डन किया है। अब अगली ग्यारहवीं कारिकामें कर्म-धर्मकी विध्यर्थताका खण्डन करते हैं। यहाँ 'कर्म' शब्द से १ स्वर्ग आदि रूप

नन्वस्तु कर्मधर्मो विधिः। तत्राह—

अतिप्रसङ्गान्नफलं नापूर्वं तत्त्वहानितः।
तदलाभान्न कार्यञ्च न क्रियाप्यप्रवृत्तितः॥ ११॥

कर्म स्वर्गादि, तद्धर्मः कार्यत्वं यदि विध्यर्थः तत्राह—अतिप्रसङ्गान्न फलम्। स्वर्गे कार्यत्वज्ञाने सति स्वर्गासाधनेऽपि प्रवृत्त्यापत्तेः। यदि कर्म अपूर्वं, तद्धर्मः कार्यत्वं विध्यर्थस्तत्राह—'नापूर्वं तत्त्वहानितः'। शाब्दबोधात् पूर्वं नोपस्थित-

---

फल, २ उस फलका जनक अपूर्व या अदृष्ट और ३ उस अपूर्वका हेतुभूत यागादि यह तीन अर्थ लिए जा सकते हैं। इन तीनोंमें से किसीमें रहनेवाला धर्म विध्यर्थ नहीं हो सकता है अपितु इनसे भिन्न 'आप्ताभिप्राय' ही विध्यर्थ हो सकता है इसकी सिद्धि के लिए अगली कारिका आरम्भ करते हैं।

अच्छा तो कर्म [निष्ठ कोई] धर्म-विधि [विध्यर्थ] हो [सकता है] इस [पूर्व पक्षके होने] पर कहते हैं—

['क्रियते इति कर्म' इस व्युत्पत्ति के अनुसार यदि फल रूप स्वर्गको कर्म और उसमें रहने वाले कार्यत्व धर्म कर्म धर्म मानकर विध्यर्थ माना जाय तो स्वर्गमें कार्यत्व ज्ञानको सर्वत्र प्रवृत्तिका हेतु माना जायगा फलतः स्वर्गके असाधनमें भी उससे प्रवृत्ति होने लगेगी अत एव] अतिप्रसङ्ग दोष होनेसे [स्वर्गादि] फल [का कार्यत्व] विध्यर्थ नहीं है। यदि कर्मसे अपूर्व अर्थात् अदृष्ट अर्थ लें और उसके धर्म कार्यत्वको विध्यर्थ मानें तो विधि वाक्यके श्रवण कालमें उस अपूर्वको विद्यमान मानना होगा। परन्तु अपूर्व तो विध्यर्थ ज्ञान और उसके बाद योगादि में प्रवृत्ति होनेके बाद उत्पन्न होता है। कर्मसे पूर्व विद्यमान न होनेके कारण ही वह अपूर्व कहलाता है। यदि विध्यर्थ रूपमें विधिके श्रवण कालमें उसका अस्तित्व मान लिया जाय तो उसका अपूर्वत्व रूप [तत्त्व नष्ट हो जानेसे अपूर्व [निष्ठ कार्यत्व भी] विध्यर्थ नहीं है। [यह कारिकाके पूर्वार्द्ध का अर्थ हुआ। इसीको विवृतिकारने इस प्रकार कहा है—

कर्म [अर्थात् क्रियते इति कर्म इस व्युत्पत्तिके अनुसार] स्वर्गादि [को कहा जा सकता है।] उसका धर्म कार्यत्व [कृतिसाध्यत्व या कृतिजन्यत्व यदि] विध्यर्थ हो तो उस [शङ्काके होने] पर कहते हैं—'अतिप्रसङ्गान्न फलम्'। अर्थात् स्वर्गमें कार्यत्व ज्ञान [ही यदि विध्यर्थज्ञान है तो उसका ज्ञान] होने पर [सर्वत्र अर्थात्] स्वर्गके असाधनमें भी प्रवृत्ति होने लगेगी। [अतएव स्वर्ग निष्ठ कार्यत्व धर्म विध्यर्थ नहीं कहा जा सकता है]। यदि कर्म [का दूसरा अर्थ] 'अपूर्व' करें और उसका धर्म अर्थात् कार्यत्व विध्यर्थ हो तो [उसके खण्डनके लिए] कहते हैं—'नापूर्वं तत्त्वहानितः'। शाब्दबोधके पूर्व उपस्थित नहीं होता इसीलिए [धर्माधर्म रूप अदृष्टको] 'अपूर्व' [कहते] हैं।

मित्यत एवापूर्वं पूर्वमुपस्थितौ तु न तत्त्वम्, अनुपस्थितौ च कथं तत्र शक्तिधीः।

ननु कार्यत्वरूपेण शक्तिधीः, शाब्दबोधे तु योग्यतया अपूर्वस्य कार्यविशेषस्य भानं, तत्राह—'तदलाभान्न कार्यञ्च' इति। नित्यनिषेधापूर्वयोरलाभप्रसङ्गात् तत्र फलकामस्य नियोज्यस्याभावात्। यद्वा ननु कार्यत्वेनोपलक्षितायामपूर्वव्यक्तौ शक्तिग्रहः गन्धवत्त्वेनोपलक्षितायां पृथिवीत्वविशिष्टायां व्यक्तौ पृथिवीपदस्येवेत्यत्राह–'तदलाभात्'। अपूर्वत्वविशिष्टापूर्वव्यक्त्यनुपस्थितेः।

[शाब्दबोधके] पूर्व ही उपस्थित होने पर 'तत्त्व' अर्थात् 'अपूर्वत्व' नहीं [रहता] और उपस्थित न होने पर उसमें शक्तिग्रह कैसे होगा।

'अपूर्व' के कार्यत्व धर्मको विध्यर्थ माननेमें अभी यह दोष दिया था कि 'स्वर्गकामः यजेत' आदि विधि वाक्योंके श्रवण कालमें 'अपूर्व' उपस्थित नहीं होता है। उसकी उत्पत्ति तो विधि वाक्यसे याग की स्वर्ग साधनताका ज्ञान प्राप्त करनेके बाद याग का अनुष्ठान करनेसे होती है। इसीलिए विधि-श्रवण कालमें अविद्यमान होनेसे उसको 'अपूर्व' कहा जाता है। यदि विधि-श्रवण कालमें उसको विद्यमान मानें तब तो उसका 'अपूर्वत्व' नहीं बनता है। इसलिए उसको अविद्यमान ही मानना होगा। और जब वह विद्यमान नहीं है तो उसमें शक्तिग्रह नहीं हो सकेगा।

इसके उत्तरमें पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि यद्यपि अपूर्व उपस्थित नहीं होता है। परन्तु वह कार्य या जन्य है इसलिए कार्यत्व रूपसे सामान्यतः शक्तिग्रह हो सकता है। और फिर आवश्यकता होने पर उस सामान्यतः कार्यत्वरूपसे शक्तिग्रह से 'अपूर्व' रूप व्यक्ति-विशेषमें भी शक्तिग्रह हो सकता है। इसलिए 'अपूर्व' में शक्तिग्रह न होने का दोष नहीं दिया जा सकता है। इस पूर्व पक्षका खण्डन करनेके लिए कारिकाका उत्तरार्द्ध लिखा गया है। अतः विवृति-कार लिखते हैं—

अच्छा तो [किसी अपूर्व आदि धर्मिविशेषके अन्तर्भावके बिना ही] कार्यत्व रूपसे [सामान्यतः] शक्तिग्रह हो सकता है। शाब्द-बोध [के अवसर पर अन्वय के] योग्य होनेसे 'अपूर्व' रूप कार्य विशेषका भान होगा [इसलिए स्वर्गके साधनभूत 'अपूर्व' रूप कर्मका धर्म कार्यत्व ही विध्यर्थ है] इस [पूर्वपक्षके होने] पर कहते हैं—'तदलाभान्न कार्यञ्च'। अर्थात् 'नित्य' और 'निषिद्ध' [कर्म स्थलमें] 'अपूर्व' का लाभ न होनेसे [यदि अपूर्वके धर्मको विध्यर्थ मानेंगे तो] नित्य निषिद्ध कर्मोंमें किसी फल कामना वाले नियोज्यके न होनेसे [अपूर्वोत्पत्ति नहीं होती अतः अपूर्वके धर्मको विध्यर्थ माननेसे काम नहीं चलेगा।] अथवा [तदलाभान्न कार्यञ्चकी दूसरी प्रकारसे व्याख्या करते हैं] जैसे गन्धवत्त्वसे उपलक्षित पृथिवीत्व विशिष्ट व्यक्तिमें शक्तिग्रह होता है इसी प्रकार कार्यत्वसे उपलक्षित 'अपूर्व' व्यक्तिमें शक्ति हो जायगा। इस [शङ्काके होने] पर कहते हैं—'तदलाभान्न'। अर्थात् अपूर्वत्व विशिष्ट अपूर्व व्यक्तिके [शाब्दबोध कालमें] अविद्यमान

गन्धवत्त्वेनापि हि पृथिवीत्वविशिष्टस्य स्मरणमनुमानं वा सम्भवति, प्रागनुभवात्। प्रकृते तथात्वे अपूर्वत्वव्याघातादित्यर्थः।

ननु कर्म यागादि तद्धर्मः कार्यत्वं विधिः तत्राह—'न क्रियापि' इति। अनिष्टसाधनताधीकाले प्रवृत्त्यदर्शनात्। अत्र 'अपिना' नापूर्वमपि, उक्तदोषादित्यर्थः॥ ११॥

होनेसे। [उदाहरण स्थलमें] पृथिवीका पहिले अनुभव होनेसे [गन्धवती पृथिवी यह कहते समय गन्धवत्त्व रूप उपलक्षण अथवा विशेषणसे] गन्धवत्त्वसे पृथिवीत्व विशिष्टका स्मरण अथवा अनुमान हो सकता है [क्योंकि पृथिवीका] पूर्वानुभव होनेसे। प्रकृतमें 'अपूर्व' का पूर्वानुभव होनेपर अपूर्वत्वका व्याघात होगा [अतः इस प्रकार भी 'अपूर्व' के धर्मको विध्यर्थ नहीं कह सकते हैं]।

इसका अभिप्राय यहहै कि मीमांसामें 'नित्य', 'नैमित्तिक', 'काम्य' और 'निषिद्ध' चार प्रकारके कर्म माने गये हैं। इनमेंसे काम्य और नैमित्तिक कर्म फल कामनासे किये जाते हैं। अतएव उनसे फलानुकूल अदृष्टकी उत्पत्ति होती है। परन्तु निषिद्ध और नैत्यिक कर्म स्थलमें अपूर्वकी उत्पत्ति नहीं बनती है। निषिद्ध कर्मसे निवृत्तिमें श्रुतिका तात्पर्य होता है। निवृत्ति, औदासीन्य या अप्रवृत्ति रूप है। अतः उससे अपूर्व उत्पन्न नहीं होता। और नैत्यिक सन्ध्या वन्दनादि का लक्षण 'अकरणे प्रत्यवायसाधनानि नित्यानि' किया गया है। उनके न करनेसे 'प्रत्यवाय' या पाप होता है, करनेसे अपूर्व या पुण्य नहीं होता है। अतः नित्य कर्मसे भी अपूर्वकी उत्पत्ति नहीं होती है। यदि 'अपूर्व' के धर्म कार्यत्वको विध्यर्थ माना जाय तो जहां नित्य और निषिद्ध स्थलमें अपूर्वकी उत्पत्ति नहीं होती है वहां प्रवर्तक विध्यर्थ ज्ञानके न होनेसे प्रवृत्ति नहीं होगी। इनमें से नित्य कर्ममें तो प्रवृत्ति आवश्यक है। परन्तु उससे अन्य अपूर्व न होनेसे वहां भी प्रवृत्ति नहीं बनेगी। यह 'तदलाभान्न कार्यञ्च' इस तीसरे हेतु का आशय है। पहिली बार फल रूप 'स्वर्ग' को कर्म माना था। उसके बाद दूसरे हेतुमें स्वर्गके हेतु 'अपूर्व' को कर्म माना था। तीसरे हेतुमें अपूर्वमें 'कार्यत्व' रूपसे शक्तिग्रह का खण्डन किया था। अब इस चौथे हेतुमें अपूर्वके हेतुभूत 'यागादि' को कर्म मानकर उसके कार्यत्व धर्मकी विध्यर्थताका खण्डन करते हैं—

अच्छा तो कर्म [से] यागादि [का ग्रहण करना चाहिये] उसका धर्म कार्यत्व [कृतिसाध्यत्व] विधि [विध्यर्थ] है इस [पूर्वपक्षके होने] पर कहते हैं—'न क्रियापीति'। अर्थात् [यागादि] क्रिया [भी] इष्ट साधनता बुद्धि के बिना; अथवा अनिष्टसाधनता बुद्धि कालमें प्रवृत्ति न देखे जानेसे [विध्यर्थ नहीं हो सकती है।] यहाँ अपि से अपूर्व भी उक्त दोषसे [विध्यर्थ] नहीं हो सकता है यह अभिप्राय है॥ ११॥

इस प्रकार कर्तृ-धर्म और कर्म-धर्मकी विध्यर्थताका खण्डन करनेके बाद अवकरणधर्मकी विध्यर्थताका खण्डन प्रारम्भ करते हैं। करण शब्द से दो वस्तु ली जा सकती

ननु करणं शब्दः तद्धर्मो अभिधा, तज्ज्ञानं प्रवर्तकम् । अत एवाहुः—

अभिधां भावनामाहुरन्यामेव लिङादयः ।
अर्थात्मभावना त्वन्या सर्वाख्यातस्य गोचरः ॥

अभिधा यागप्रवर्तिका इति धीः शब्दात् । आख्यातार्थश्च उत्पादना उत्पत्त्यनुकूलकृतिरूपेयमित्यत्राह—

हैं। एक शाब्दबोधका करण, शब्द और दूसरा स्वर्गादिका करण यागादि। इन दोनोंका धर्म भी विध्यर्थ नहीं हो सकता है यह बात अगली दो कारिकाओं अर्थात् १२,१३, में प्रतिपादन की है। पहिली अर्थात् १२ वीं कारिकामें शब्द-धर्मकी विध्यर्थताका और १३ वीं में यागादि-धर्मकी विध्यर्थताका खण्डन किया गया है। जैसा कि ऊपर पृष्ठ पर प्रतिपादन किया जा चुका है मीमांसक लोग 'यजेत्' आदि में आख्यातांशसे आर्थी-भावनाका और लिङंशसे शाब्दी-भावनाका बोध मानते हैं। इस प्रकार उनके यहाँ 'पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः' अर्थात् पुरुषको प्रवृत्त करानेवाला प्रेरक व्यापार शाब्दी-भावना है वही लिङंशसे बोधित होती है। और उस शाब्दी-भावनाको अभिधा भी कहते हैं। इस कारिकामें उसी अभिधा या शाब्दी-भावनाकी विध्यर्थता का खण्डन किया गया है। पूर्व पक्ष इस प्रकार है—

अच्छा तो करण अर्थात् [शाब्दबोधका करण] शब्द है और उसका धर्म 'अभिधा' [शाब्दी भावना] ही विध्यर्थ है और उस [शाब्दी भावना रूप विध्यर्थ] का ज्ञान [यागादिमें] प्रवर्तक है। जैसा कि [भट्टमतानुयायी सारी श्लोक वार्तिकमें] कहा है—

लिङ् [लोट्, तव्यत्] आदि [विधि प्रत्यय] दूसरी [अर्थात् आर्थी भावनासे भिन्न अभिधा अर्थात् पुरुषको प्रवृत्त करनेवाले प्रेरक व्यापार रूप वैदिक शब्दनिष्ठ] 'शाब्दी-भावना' का बोध कराते हैं। और [शाब्दी-भावनासे भिन्न] दूसरी आर्थी-भावना तो समस्त आख्यातोंका विषय [प्रतिपाद्य अर्थ] है।

अभिधा [अर्थात् लिङर्थ या विध्यर्थ रूप शाब्दी-भावना अपने ज्ञान विध्यर्थ-ज्ञान द्वारा] यागमें प्रवर्तिका है यह [अभिधा या शाब्दी-भावनाका प्रवर्तकत्व] ज्ञान [वेदमें किसी वक्ताके न होनेसे] शब्दसे [ही होता] है [इसीलिए 'शाब्दी-भावना' नामसे कहा जाता है। और लिङंशसे बोधित होता है]। आख्यातार्थ तो [उत्पादना] आर्थी भावना है। और वह उत्पत्त्यनुकूल कृति रूप ['प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयो व्यापारः आर्थी-भावना'] है। इस [पूर्व पक्षके होने] पर [उसके खण्डन करनेके लिए] कहते हैं—

यहां भट्ट मतका यह अभिप्राय है कि पुरुषकी प्रवृत्ति दो प्रकारकी होती है कभी स्वेच्छासे और कभी पर प्रेरणासे। स्वेच्छा जन्य प्रवृत्तिमें इष्टसाधनता-ज्ञान प्रवृत्ति-जनक होता है और जहां पर प्रेरणासे प्रवृत्ति होती है वहां प्रवर्तना-ज्ञान प्रवर्तक होता है। प्रवर्तना, प्रवर्तक-निष्ठ व्यापार-विशेष है। वह चेतन प्रवर्तयिताके स्थलमें प्रवर्तक

असत्त्वादप्रवृत्तेश्च नाभिधापि गरीयसी।
बाधकस्य समानत्वात् परिशेषोऽपि दुर्घटः॥ १२॥

अभिधायां मानाभावात् अभिधाशब्दतोऽभिधाज्ञानेऽपि, अप्रवृत्तेः। गरीयसी उचिता लिङर्थतया इति शेषः। ननु अन्यस्य लिङर्थत्वे बाधात् परिशेषेणाभिधा लिङर्थ इत्यत्राह—'बाधकस्य' इति। प्रकृतेऽपि बाधकसम्भवात्॥ १२॥

ननु करणस्य यागादेर्धर्म इष्टसाधनत्वं विध्यर्थोऽस्तु तत्राह—

पुरुष निष्ठ इच्छा-विशेष रूप है। परन्तु अपौरुषेय वैदिक वाक्यमें कोई वक्ता न होनेसे अचेतन शब्द निष्ठ 'अभिधा' रूप है। यहां प्रवर्तना व्यापार तो किसी द्रव्यमें ही रह सकता है गुण रूप शब्द अभिधा व्यापारका आश्रय कैसे होगा। यह शङ्का नहीं करनी चाहिए क्योंकि भाट्ट मतमें शब्द, द्रव्य माना गया है। इसका उत्तर है—

[अभिधा अर्थात् शाब्दी भावनाकी] सत्तामें कोई प्रमाण न होने और ['अभिधा' यागमें प्रवर्तिका है इस ज्ञानसे भी] प्रवृत्ति न होनेसे 'अभिधा' भी [विध्यर्थ] उचित नहीं है [अन्य अर्थोंको विध्यर्थ माननेमें आनेवाले] बाधकोंके [अभिधा पक्षमें भी] समान [रूपसे लागू] होनेसे [अन्य पक्षोंके खण्डित हो जानेपर] परिशेषानुमान [से 'अभिधा' ही विध्यर्थ है यह कहना] भी दुर्घट है [अर्थात् बन नहीं सकता है]।

'अभिधा' [शाब्दी भावनाकी सत्ता] में प्रमाण न होनेसे और 'अभिधा' शब्द से 'अभिधा' का ज्ञान होनेपर भी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है [अतएव 'अभिधा' या शाब्दी-भावना भी] लिङर्थ रूपमें 'गरीयसी' अर्थात् उचित नहीं है। [इस पर प्रश्न यह होता है कि] अन्यके लिङर्थ माननेमें बाधक होनेसे परिशेषसे 'अभिधा' ही लिङर्थ है इसके समाधानार्थ [कारिकाका उत्तरार्द्ध] 'बाधकस्य समानत्वात्' आदि कहा है। प्रकृत [अभिधाको लिङर्थ मानने] में भी बाध सम्भव होनेसे [परिशेषसे भी 'अभिधा' लिङर्थ सिद्ध नहीं होसकती है]॥ १२॥

कारण धर्मको विध्यर्थ माना जाय इस पक्षमें दो विकल्प किए थे। एक शाब्दबोधके करण अर्थात् शब्दका धर्म और दूसरा स्वर्गादिके करण यागादिका धर्म, विध्यर्थ होसकता है। उसमें से शब्दका धर्म 'शाब्दी-भावना' या 'अभिधा' विध्यर्थ नहीं होसकती है यह पिछली कारिकामें कहा जा चुका है। इस कारिकामें स्वर्गादिके करण यागादिका धर्म इष्टसाधनत्व भी विध्यर्थ नहीं हो सकता है इसका प्रतिपादन करते हैं। उसके लिए कारिकामें पाँच हेतु दिए हैं। टीकाकारने प्रत्येक हेतुकी व्याख्या की है।

अच्छा तो [स्वर्गादिके] करण यागादिका धर्म अर्थात् इष्टसाधनत्व विध्यर्थ हो [सकता है] इस [पूर्वपक्षके होने] पर कहते हैं—

हेतुत्वादनुमानाच्च मध्यमादौ वियोगतः।
अन्यत्र क्लृप्तसामर्थ्यान्निषेधानुपपत्तितः॥ १३॥

विध्यर्थस्य इष्टसाधनताया हेतुत्वात् लिङ्गतयोपन्यासात्। न च स्वस्य स्वलिङ्गत्वमिति। 'अग्निकामो दारुणी मथ्नीयात्' इत्युक्ते कुत इत्याकांक्षायां वक्तारो वदन्ति यतो दारुद्वयमथनमग्निसाधनमिति।

'अनुमानात्' अर्थवादादिष्टसाधनताबोधानन्तरमपि विधेरनुमानात्। यदि चानुमितेनापि विधिना इष्टसाधनत्वमेव बोध्यम् तदा तदनुमानं वैयर्थ्यम्। 'तरति मृत्युं तरति ब्रह्महत्यां' इत्यादौ मृत्युब्रह्महत्यासन्तरणकामोऽश्वमेधेन यजेतेति विध्यनुमानस्य सर्वतन्त्रसिद्धत्वात्।

[इष्टसाधनत्वके, विध्यर्थ-समर्थनमें] हेतु होनेसे [इष्टसाधनत्व ज्ञानसे अप्रत्यक्ष विधिवाक्योंके अनुमानसे, मध्यम [और उत्तम पुरुष] आदिमें [आज्ञा या अनुज्ञा आदि अर्थ होनेसे इष्टसाधनत्वकी विध्यर्थताका वियोग] अभाव होनेसे ['विधिनिमन्त्रणा-मन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्' आदि पाणिनि सूत्र बलसे] अन्यत्र [इच्छादिमें भी लिङ्की] सामर्थ्य स्वीकृत होनेसे और निषेध [स्थलमें इष्टसाधनत्व अर्थके] अनुपपन्न होनेसे [यागादिका धर्म इष्टसाधनत्व विध्यर्थ नहीं होसकता है]।

इष्टसाधनताके विध्यर्थका हेतु होनेसे अर्थात् लिङ्गतया प्रस्तुत किए जानेसे [इष्टसाध-नत्वको विध्यर्थ नहीं कह सकते। क्योंकि हेतु रूप इष्टसाधनत्व] स्वयं अपना [विध्यर्थ रूप इष्टसाधनत्व] का लिङ्ग नहीं होसकता है। [इष्टसाधनत्वको विध्यर्थमें लिङ्गतया प्रस्तुत करनेका उदाहरण देते हैं] अग्निकाम पुरुष [अरणीके] काष्ठोंको रगड़े [मथ्नी-यात् मथन करे रगड़े]।

ऐसा कहनेपर [और] क्यों, यह आकांक्षाके होनेपर [उत्तर देनेवाले] वक्ता कहते हैं क्योंकि [अरणीके] दो काष्ठोंका मथन [इष्ट] अग्निका साधन है। [इस प्रकार 'मथ्नीयात्' इस विध्यर्थके उपपादनके लिए 'यतो अग्निसाधनम्' अर्थात् इष्टसाध-नम् यह हेतु दिया जाता है। और स्वयं ही साध्य और साधन दोनों जगह इष्टसाधनत्व रह सके यह असङ्गत है। अतः इष्टसाधनत्व विध्यर्थ नहीं है]।

[इष्टसाधनत्वकी विध्यर्थताके खण्डनमें दूसरा हेतु देते हैं] अनुमानात्। अर्थवाद वाक्योंसे इष्टसाधनताका ज्ञान होजानेपर भी [अप्रत्यक्ष] विधिका अनुमान होनेसे। यदि अनुचित विधिसे भी [अर्थवाद वाक्य द्वारा अवगत] इष्टसाधनत्व ही बोधित हो तो [विधि वाक्यका] अनुमान व्यर्थ ही है। [और] 'तरति मृत्युं तरति ब्रह्महत्यां' इत्यादिमें [इन अर्थवाद वाक्योंसे अश्वमेध यागमें इष्टसाधनताका ज्ञान होजानेपर अश्वमेध यागकी विधायक कोई प्रत्यक्ष श्रुति न होनेसे इस अर्थवाद वाक्यके ही आधार पर] 'मृत्युब्रह्महत्यासन्तरणकामो अश्वमेधेन यजेत' 'मृत्यु और ब्रह्महत्यासे पार जानेकी इच्छावाला व्यक्ति अश्वमेध याग करे' इस आशयकी विधिका अनुमान सब शास्त्रोंमें

'मध्यमादौ वियोगतः' मध्यमोत्तमपुरुषे लिङ इष्टसाधनतावियोगात्। कुर्याः कुर्यामित्यत्राज्ञादिकं प्रतीयते। आज्ञा त्वभिप्राय एवेति प्रथमपुरुषेऽपि इच्छैवार्थः।

'अन्यत्र क्लृप्तसामर्थ्यात्' अध्येषणादि लिङाम् इच्छावाचकत्वकल्पनात्।

'निषेधानुपपत्तितः' 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यत्र इष्टसाधनत्वनिषेधस्य बाधितत्वात्।

स्वीकृत किया होनेसे। [अर्थवाद वाक्यसे इष्टसाधनत्वका ज्ञान होजाने पर भी जहाँ प्रत्यक्ष श्रुति उपलब्ध नहीं है वहाँ प्रत्यक्ष श्रुतिका अनुमान करना सर्वशास्त्रसम्मत होनेसे अनिवार्य है। और यदि उस अनुमित श्रुतिसे भी इष्टसाधनत्वका ही बोध हुआ तो उसका अनुमान करना व्यर्थ है। क्योंकि वह इष्टसाधनत्व तो अर्थवाद वाक्यसे पहिले ही ज्ञात है। इसलिए इष्टसाधनत्वके अतिरिक्त कुछ विशेष अर्थ अनुमित श्रुतिसे बोधन होना चाहिए। और वह अर्थ आप्ताभिप्राय' है। इसलिए आप्ताभिप्राय ही विध्यर्थ है]।

[इष्टसाधनत्वकी विध्यर्थताके खण्डनमें तीसरा हेतु देते हैं] 'मध्यमादौ वियोगतः'। अर्थात् मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुषमें लिङ्में इष्टसाधनता [अर्थ] का अभाव होता है। [क्योंकि] कुर्याः [ऐसा करो इत्यादि मध्यम पुरुषके प्रयोगमें] और कुर्याम् [क्या मैं ऐसा करूँ इत्यादि उत्तम पुरुषके प्रयोगमें] इत्यादिमें [क्रमशः] आज्ञा [और अनुज्ञा] आदि प्रतीत होती है। आज्ञा [और अनुज्ञा] तो अभिप्राय रूप ही है। [मध्यम और उत्तम पुरुषमें जब क्रमशः आज्ञा और अनुज्ञा ही लिङर्थ प्रतीत होते हैं तब] प्रथम पुरुषमें भी [आप्ताभिप्राय रूप] इच्छा ही [विधि प्रत्ययका] अर्थ है। [यह मानना चाहिए]।

[इष्टसाधनत्वकी विध्यर्थताके निराकरणके लिए चौथा हेतु देते हैं] 'अन्यत्र क्लृप्तसामर्थ्यात्' अर्थात् अध्येषणादि अर्थक लिङ्का इच्छा वाचकत्व माननेसे [विधि लिङ्में भी इच्छार्थकत्व ही मानना चाहिए।

अध्येषणादिमें आदि पदसे अनुज्ञा सम्प्रश्न, प्रार्थना, आशीः आदिका ग्रहण करना चाहिए। 'श्रोतुः पूजासामान्याभिव्यञ्जिका इच्छा अध्येषणा'। श्रोताकी पूजा और सम्मानकी अभिव्यञ्जक इच्छाको 'अध्येषणा' कहते हैं। 'वारणाभावव्यञ्जिका इच्छा अनुज्ञा, निषेध न करनेकी इच्छा 'अनुज्ञा' कहलाती है। 'अभिधानप्रयोजनेच्छा सम्प्रश्नः' कथनके प्रयोजन जाननेकी इच्छा सम्प्रश्न है। 'लाभेच्छा प्रार्थना' किसी लाभकी इच्छा प्रार्थना और 'शुभाशंसनमाशीः' शुभकामनाका नाम 'आशीः' है। इन सब में इच्छाके ही तिङर्थ होनेसे विधिलिङ्में इच्छाको ही लिङर्थ मानना उचित है। यह अभिप्राय है।

निषेध [वाक्य स्थलमें इष्टसाधनत्वकी विध्यर्थता] अनुपपन्न होनेसे [भी इष्ट-

बलवदनिष्टाननुबन्धित्वञ्च न विध्यर्थः 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इत्यादौ असम्भवात् । अप्रवर्तमानपुरुषस्य च बलवद् द्वेषविषयत्वात् । बलवद् द्वेषविषयदुःखजनकत्वसामान्याभावस्य बाधितत्वादिति ॥ १३ ॥

साधनत्वको विध्यर्थ नहीं मानना चाहिए यह पाँचवाँ हेतु है। इसका अभिप्राय यह है कि] 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इस [निषेध वाक्यमें यदि इष्टसाधनत्व विध्यर्थ है तो 'नञ्' से उसीका निषेध किया गया है। अर्थात् कलञ्जभक्षण इष्टसाधन नहीं है। यह इसका अर्थ होगा। परन्तु कलञ्ज-भक्षण तृप्ति रूप इष्टका साधन है इसलिए] इसमें इष्टसाधनत्व का निषेध बाधित होनेसे [भी इष्टसाधनत्वको विध्यर्थ मानना उचित नहीं है]।

इसपर पूर्वपक्षी फिर शङ्का करता है कि यदि 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादि निषेध वाक्य स्थलोंमें इष्टसाधनत्वकी विध्यर्थता बाधित होती है तो 'बलवदनिष्टाननुबन्धीष्ट-साधनत्व' को विध्यर्थ मानेंगे। कलञ्ज-भक्षण तृप्ति रूप इष्टका साधन तो है परन्तु उसके नरकादि बलवान् अनिष्ट होता है। अतएव वह 'बलवदनिष्टके अननुबन्धी इष्टका साधन नहीं है इसलिए उसके निषेधमें कोई बाधा नहीं हो सकती। इस शङ्काके समाधानके लिए टीकाकार कहते हैं।

और 'बलवदनिष्टाननुबन्धित्व' 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इत्यादि में असम्भव होनेसे विध्यर्थ नहीं हो सकता है। [इसका अभिप्राय यह है कि शत्रुके मारणके उद्देशसे किए जाने वाले आभिचारिक कर्मोंमें श्येनयाग नामका एक याग आता है। इस यागके अनुष्ठानसे शत्रुका नाश तो हो जाता है परन्तु वह उग्र नरकका कारण भी होता है। यदि 'बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्व' को विध्यर्थ मानें तो 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इसमें जो विधि प्रत्यय है उससे इस 'बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्व' का बोध असम्भव है। इसपर यह शङ्का हो सकती है कि यहां बलत्त्वका अर्थ 'बलवद् द्वेषविषयत्व' है। इसलिए श्येनयागमें प्रवृत्त होनेवाले पुरुषके लिए नरक 'बलवद् द्वेष' का विषय न होनेसे उसमें विध्यर्थताका बाध नहीं होगा। इस पूर्व पक्षका उत्तर करनेके लिए टीकाकार कहते हैं।] अप्रवर्तमान पुरुषके लिए बलवद् द्वेषका विषय होनेसे और बलवद् द्वेषके विषय दुःख सामान्यके जनक होनेके कारण बाधित होनेसे [भी इष्टसाधनत्व विध्यर्थ नहीं हो सकता है]।

इसका अभिप्राय यह है कि श्येन यागमें प्रवर्तमान पुरुषको नरक भले ही बलवद् द्वेषका विषय न हो परन्तु उस वाक्यसे ज्ञान तो अप्रवर्तमान पुरुषको ही होता है। उसके लिए नरक बलवद् द्वेषका विषय है ही इसलिए यदि बलवदनिष्टाननु-बन्धीष्टसाधनत्वको विध्यर्थ मानोगे तो उस अप्रवर्तमान पुरुषको इस विध्यर्थके बाधित होनेसे उसका बोध नहीं होगा। और दुःख तो सभीके लिए बलवद् द्वेषका विषय है ही। श्येन याग बलवद् द्वेषके विषय दुःख सामान्यका जनक है अतएव वह सभीके

स्वमतमाह—

विधिर्वक्तुरभिप्रायः प्रवृत्त्यादौ लिङादिभिः।
अभिधेयोऽनुमेया तु कर्तुरिष्टाभ्युपायता ॥ १४ ॥

प्रवृत्तिनिवृत्तिविषये आप्ताभिप्रायो लिङादिभिः प्रत्ययैरभिधेयः, इष्टसाधनता त्वनुमेया। वस्तुतस्तु ईश्वरेच्छायाः सर्वविषयकत्वात् निषेधे बाधः। बलवदनिष्टाननुबन्धित्वेन इच्छायाः शक्यत्वे गौरवमिति प्राचीनमतमेव साधीयः ॥ १४ ॥

लिए बलवद् द्वेषका विषय है ही। अतएव 'बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्व' भी विध्यर्थ नहीं हो सकता है ॥ १३ ॥

[इस प्रकार कर्तृ-धर्म, कर्म-धर्म और करण-धर्म सबकी विध्यर्थताका खण्डन करके अब अन्तमें उपसंहार करते हुए पूर्व प्रतिपादित सिद्धान्त रूप] अपने मतको कहते हैं—

प्रवृत्ति आदि [आदि से निवृत्ति] में [अर्थात् प्रवृत्ति निवृत्तिके विषयमें] वक्ताका अभिप्राय [ही] लिङादि [विधि प्रत्ययों] से अभिधेय होनेसे 'विधि' [विध्यर्थ] है। [और उस आप्ताभिप्रायसे प्रवृत्ति विषय यागादि में] कर्ता की इष्टसाधनता अनुमेय है।

प्रवृत्ति निवृत्तिके विषयमें आप्ताभिप्राय लिङादि [विधि] प्रत्ययोंसे अभिधेय है और [यागादि में] इष्टसाधनता अनुमेय है। [अनुमानका स्वरूप इस प्रकार होगा। यागो मम स्वर्गकामस्य बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनम् मत्कृतिसाध्यतया आप्तेच्छाविषयत्वात् मत्कृतिसाध्यतयेष्यमाणभोजनवत्]।

इस स्तबककी छठी कारिकामें 'विषयस्तस्य विधिः' कहकर इष्टसाधनत्वको भी प्राचीन मतमें विध्यर्थ माना था और 'तज्ज्ञापकोऽथवा' कहकर नवीनाभिमत अपने 'आप्ताभिप्राय' की विध्यर्थताका भी उपपादन किया था। इस प्रकार प्राचीन नैयायिकों के मतमें 'इष्टसाधनत्व' और नवीन नैयायिकोंके मतमें 'आप्ताभिप्राय' विध्यर्थ है। टीकाकार इन दोनोंमें से प्राचीन मतको अधिक अच्छा समझते हैं [इसलिए उसका समर्थन करते हुए कहते हैं] वास्तवमें तो [संसारमें जितने कार्य होते हैं वह सब ईश्वर की इच्छासे ही होते हैं इसलिए] ईश्वरकी इच्छाके सर्वविषयक होनेसे निषेध [स्थल] में [आप्ताभिप्राय रूप ईश्वरेच्छाकी विध्यर्थताका] बोध होता है। और 'बलवदनिष्टाननुबन्धीच्छा' को शक्य [वाच्यार्थ] माननेमें गौरव होगा इसलिए [इष्ट साधनत्वको विध्यर्थ मानने वाला] प्राचीन मत ही अधिक अच्छा है ॥ १४ ॥

इष्टसाधनत्वको विध्यर्थ माननेमें 'कलञ्जं न भक्षयेत्' इत्यादि निषेध वाक्योंमें कलञ्ज भक्षणके तृप्ति रूप इष्ट साधन होनेसे उस इष्टसाधनत्वका निषेध बाधित होता है यह जो दोष दिया था उसका वारण करनेके लिए प्राचीन लोग इष्टसाधनत्व, कृतिसाध्यत्व और बलवदनिष्टाननुबन्धित्व तीनोंमें अलग अलग शक्ति मानते हैं। और आवश्यकतानुसार उनमें से किसीको विध्यर्थ मान सकते हैं। जैसे 'जलं न

'श्रुतेः' इत्यस्य व्याख्यान्तरमाह—

कृत्स्न एव च वेदोऽयं परमेश्वरगोचरः ।
स्वार्थद्वारैव तात्पर्यं तस्य स्वर्गादिवद् विधौ ॥ १९ ॥

सर्वत्र वेदभागे ईश्वरः प्रतिपादितः । 'यज्ञो वै विष्णुः' 'पश्यत्यचक्षुः' इत्यादि श्रुतिषु । 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः' इत्यादिषु च ।

ताडयेत्' यहाँ इष्टसाधनत्व विध्यर्थ है। इसका अर्थ हुआ कि जलताड़न इष्टसाधन नहीं है । 'पंगुः समुद्रं न तरेत्' यहाँ कृति साध्यत्व विध्यर्थ है अर्थात् पंगुके लिए समुद्र तरण कृति-साध्य नहीं है । और 'न कलञ्जं भक्षयेत्' यहाँ 'बलवदनिष्टाननुबन्धित्व' विध्यर्थ है अर्थात् कलञ्ज भक्षण तृप्ति रूप इष्टका साधन होते हुए भी 'बलवदनिष्टाननुबन्धीष्ट साधन' नहीं है ।

इस स्तबककी प्रथम कारिका 'कार्यायोजनधृत्यादेः' की मीमांसकके सामने ईश्वर सिद्धिके उद्देश्यसे दूसरे प्रकारकी व्याख्या प्रारम्भ की गई थी । उनमेंसे कार्यात्, आयोजनात्, धृत्यादेः, पदात् और प्रत्ययतः इन हेतुओंकी दूसरे प्रकारकी भी व्याख्या हो चुकी । अब श्रुतेः, वाक्यात् और संख्याविशेषात् यह तीन हेतु और रह गये हैं । उनमेंसे 'श्रुतेः' की दूसरे प्रकारकी व्याख्या अगली कारिकामें करते हैं—

श्रुतेः इस [हेतु] की दूसरे प्रकारकी व्याख्या करते हैं—

यह सारा ही वेद परमेश्वरका प्रतिपादक है [अर्थात् सारे वेद में ईश्वर प्रतिपादक वचन भरे पड़े हैं] वैसे और उन [ईश्वर रूप सिद्ध वस्तुके प्रतिपादक वेद वाक्यों] का [ईश्वरोपासना आदि रूप] विधिमें स्वार्थ बोधन द्वारा ही तात्पर्य है जैसे स्वर्गादि [सिद्ध पदार्थोंके] बोधक वाक्योंका [स्वार्थ बोधन पूर्वक ही विधि आदि में अन्वय होता है । इसलिए उन ईश्वर प्रतिपादक वाक्योंको यदि विधि भागका अङ्ग माना जाय तो भी वह अपने स्वार्थका बोधन तो कराते ही हैं । उस 'स्व' अर्थके बोधमें ही 'ईश्वर' की सिद्धि हो जाती है । [यह 'श्रुतेः' इस हेतु का भाव है] ।

वेद भागमें सर्वत्र ईश्वरका प्रतिपादन है । जैसे 'यज्ञो वै विष्णुः' और 'पश्यत्यचक्षुः' 'यज्ञ ही विष्णु है' और 'बिना नेत्रोंके देखता है' इत्यादि श्रुतियोंमें, तथा 'हे गार्गि इसी [ईश्वर] के प्रशासनमें द्यावा पृथिवी धारण किए हुए स्थिर रहते हैं' इत्यादि श्रुतियोंमें [परमात्माका स्पष्ट प्रतिपादन है] ।

मीमांसकोंका सिद्धान्त यह है कि वेद में किसी सिद्ध पदार्थका प्रतिपादन सम्भव नहीं है । उसमें सर्वत्र किसी न किसी क्रिया अथवा क्रिया सम्बद्ध अर्थका ही प्रतिपादन है । जैसा कि मीमांसाके 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' मी सू० १।२।१ 'तद्भूतार्थानां क्रियार्थेन समाम्नायः' १।१।२५ आदि सूत्रोंसे सिद्ध

न तु सिद्धार्थतया अमीषामन्यत्र तात्पर्यम्। यथा स्वर्गनरकादिबोधकानां, तथा 'ईश्वरमुपासीत' इति विध्येकवाक्यतया तेषां त्वन्मतेऽपि प्रामाण्यमेव। अन्यथा स्वर्गादिपदानामपि स्वार्थे प्रामाण्यं न स्यात्। तदेतदुक्तं 'स्वार्थद्वारैव' इति। स्वार्थप्रतिपादनद्वारा एव विधौ सिद्धार्थतात्पर्यात्।

होता है। समस्त वेद यागादि क्रियाओंका ही प्रतिपादक है। इसीलिए उसे शास्त्र कहते हैं। शास्त्रका अर्थ 'शासनात्' अर्थात् 'प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्तरजननात् शास्त्रम्' है। सिद्ध वस्तुओं जैसे स्वर्गादि अथवा यज्ञोपयोगी 'यूप', 'आहवनीय' अग्नि आदि पदार्थोंका भी वर्णन मिलता है परन्तु उस सिद्धार्थका प्रतिपादन किसी क्रियाके अङ्ग रूपमें ही हुआ है स्वतन्त्र रूपसे नहीं। इसलिए 'भूतानां' अर्थात् सिद्ध वस्तुओंका 'क्रियार्थेन' क्रियार्थक-क्रियाका अङ्ग होनेसे ही प्रतिपादन वेद में मिलता है। ऐसी दशामें ईश्वर जैसे सिद्ध अर्थके प्रतिपादक वेद भागको भी क्रियाके अङ्गभूत रूपमें ही ईश्वरादि का प्रतिपादक मानना होगा। इस शङ्काके होने पर कहते हैं कि यह ठीक है कि ईश्वर रूप सिद्धार्थके प्रतिपादक वाक्योंकी किसी विधि वाक्यके साथ एक-वाक्यता होगी ही। परन्तु फिर भी अन्य किसी विधिके साथ एकवाक्यताके पूर्व वह वाक्य अपने स्वार्थको तो बोधन करेगा ही। जैसे स्वर्ग या यूप, आहवनीयादि सिद्ध वस्तुओंके प्रतिपादक वेद वाक्य पहिले अपने अर्थका प्रतिपादन करते हैं। पीछे विधिवाक्यके साथ उनकी एकवाक्यता होती है इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। अतः ईश्वर प्रतिपादक वाक्य अन्यपरक होनेपर भी स्वयं ईश्वरका प्रतिपादन तो करेंगे ही। इसी अर्थको टीकाकार कहते हैं।

सिद्धार्थ प्रतिपादक होनेसे इन [ईश्वर प्रतिपादक वाक्यों] का अन्यत्र तात्पर्य है [अर्थात् स्वार्थमें तात्पर्य नहीं है] यह नहीं कहना चाहिये। जैसे स्वर्ग, नरकादि [सिद्ध वस्तुओं] के बोधक [वाक्यों] का [किसी विधि वाक्यके साथ एक वाक्यता करके अर्थवत्त्व उपपादन किया जाता है] इसी प्रकार [ईश्वर प्रतिपादक वाक्योंकी] 'ईश्वर-मुपासीत' इत्यादि विधिके साथ एक वाक्यता होनेसे उन [सिद्धार्थ प्रतिपादक श्रुतियों] का तुम्हारे [मीमांसकके] मतमें भी प्रामाण्य है। अन्यथा स्वर्गादि [रूप सिद्धार्थका प्रतिपादन करनेवाली] श्रुतियोंको भी स्वार्थमें प्रामाण्य नहीं हो सकेगा। यही बात [कारिकामें] 'स्वार्थद्वारैव तात्पर्यम्' इत्यादि [भाग] में कही है। सिद्धार्थ [प्रतिपादक श्रुति वाक्यों] का स्वार्थ प्रतिपादनद्वारा ही विधिमें [उस विधि वाक्यके साथ एक-वाक्यता होकर] तात्पर्य होता है। [इसलिए जब सिद्धार्थबोधक वाक्य पहिले अपने अर्थको बोधन करते ही हैं तो ईश्वर प्रतिपादक वाक्य भी पहिले अपने अर्थका प्रतिपादन करेंगे ही। इसलिए उन वाक्योंसे ईश्वर अर्थकी सिद्धि अवश्य हो जाती है। यही श्रुतेः इस हेतुका अभिप्राय है।

वाक्यात् । वैदिक-प्रशंसा-निन्दा-वाक्यानि प्रशंसा-निन्दा-ज्ञानपूर्वकाणि 'प्रशंसा-निन्दा-वाद-वाक्यत्वात् 'परिणतिसुरसमाम्रफलम्' इत्यादिवत् ॥ १५ ॥

संख्याविशेषादित्यस्य व्याख्यान्तरमाह—

स्यामभूवं भविष्यामीत्यादौ संख्या प्रवृत्तिगा ।
समाख्यापि च शाखानां नाद्यप्रवचनादृते ॥ १६ ॥

वैदिकोत्तमपुरुषेण स्वतन्त्रोच्चारयितुः संख्या वाच्या 'तत् ऐक्षत एकोऽहं बहु स्याम्' इत्यादिबहुषु उत्तमपुरुषश्रुतेः ।

[श्रुतेः के बाद अगला हेतु] 'वाक्यात्' है । [इसके आधार पर ईश्वर साधक अनुमान वाक्य इस प्रकार बनेगा ।] वैदिक प्रशंसा तथा निन्दा परक [अर्थवाद] वाक्य, 'आम का फल पकने पर मीठा होता है' इत्यादि [आम प्रशंसा परक] वाक्यके समान, प्रशंसा निन्दा परक वाक्य होनेसे, प्रशंसा निन्दा के ज्ञान पूर्वक [बोले जाते] हैं । [अर्थात् जो उन अर्थवाद वाक्योंके द्वारा किसी पदार्थ या क्रियाकी प्रशंसा या निन्दा करता है वह उस प्रशंसा और निन्दा वाक्यके अर्थको समझकर ही उसका प्रयोग करता है । इस प्रकार वैदिक अर्थवादादि वाक्योंका कोई वक्ता होना चाहिये । वह वक्ता ही ईश्वर है । इस प्रकार अर्थवाद वाक्यों द्वारा भी मीमांसकको ईश्वर मानना ही चाहिए । यह अभिप्राय हुआ] ॥ १५ ॥

इस स्तबककी प्रथम कारिकामें अन्तिम ईश्वर साधक हेतु 'संख्या-विशेषाच्च' दिया गया है । इस 'संख्या' शब्दके दो अर्थ हैं । एक पक्षमें संख्याका अर्थ एकत्वादि संख्या है और दूसरे पक्षमें वेदोंकी काठक, कालापक आदि शाखाओंकी संज्ञा, 'संख्या' शब्दका अर्थ है । इन दोनों अर्थोंको मानने पर भी मीमांसकोंको ईश्वर स्वीकार करना चाहिये यह अगली सोलहवीं कारिकामें प्रतिपादन किया गया है । अर्थ इस प्रकार है—

'संख्याविशेषात्' इसकी दूसरे प्रकारकी व्याख्या कहते हैं—

['एकोऽहं बहु स्याम्' इत्यादि वाक्योंमें प्रयुक्त] स्याम्, अभूवं, भविष्यामि, इत्यादि [उत्तम पुरुषके प्रयोगोंसे प्रतीत होने वाली एकत्वादि] संख्या [उस वाक्यके] प्रवक्ता में रहने वाली संख्या है । [इसलिए उस संख्याके आश्रय, प्रवक्ता ईश्वरकी सिद्धि होती है और यदि 'संख्या' शब्द का दूसरा अर्थ 'सम्यक् ख्यायते कथ्यते अनया इति संख्या संज्ञा इत्यर्थः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार संज्ञा अर्थ लें तो भी वेदों की काठक कालापक आदि] शाखाओंके नाम भी उनके आदि प्रवचनके अतिरिक्त अन्य किसी आधार पर नहीं हो सकते हैं [इसलिए भी आद्य प्रवक्ता ईश्वरकी सिद्धि होती है] ।

तदैक्षत एकोऽहं बहु स्याम्' इत्यादि बहुतसे [वैदिक वाक्यों में] वैदिक उत्तम पुरुषके श्रवण होनेसे [इन वैदिक उत्तम पुरुषोंके प्रयोगसे उनके] उच्चारण करने वाले स्वतन्त्र

संख्यापदार्थमन्यमाह 'समाख्या' इत्यादि। सर्वासां शाखानां हि काठक-कालापकाद्याः समाख्याः संज्ञाविशेषाः श्रूयन्ते ते च नाध्ययनमात्रनिबन्धनाः। अध्येतॄणामानन्त्यात्, आदावन्यैरपि तदध्ययनात्। तस्मादतीन्द्रियार्थदर्शी भगवानेव कारुणिकः सर्गादावस्मदाद्यदृष्टाकृष्टकाठकादिशरीरविशेषमधिष्ठाय यां शाखामुक्तवान् तस्याः शाखायास्तन्नाम्ना व्यपदेश इति सिद्धमीश्वरमननं मोक्षहेतुः ॥ १६ ॥

यस्येश्वरे न विश्वासस्तं प्रत्याह—

इत्येवं श्रुतिनीतिसम्प्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः।

पुरुष गत संख्या [ही] वाच्य है। [उस संख्यासे संख्याके आश्रयभूत प्रवक्ता ईश्वरकी सिद्धि होती है। यह अभिप्राय है]।

'संख्या' शब्दका दूसरा अर्थ कहते हैं 'सामाख्या' इत्यादि। [वेदोंकी] सब शाखाओंकी 'काठक' 'कालापक' आदि [अलग-अलग अनेक] विशेष संज्ञाएँ [श्रुतियों में] सुनाई देती हैं। वह संज्ञाएँ केवल उन [शाखाओं] के अध्येताओंके कारण [अर्थात् उनके नाम पर] नहीं हो सकतीं। अध्येताओंके अनन्त होने और उनके पूर्व भी अन्योंसे अध्ययन किए जानेके कारण। [किसी अध्येताके नामपर काठक आदि शाखाओंका नामकरण सम्भव नहीं है]। इसलिए अतीन्द्रिय [अप्रत्यक्ष] अर्थोंका [भी] साक्षात्कार करनेवाले परम कारुणिक भगवान्‌ने ही सृष्टिके आदिमें अस्मदादिके अदृष्ट वश उत्पन्न काठकादि शरीर विशेषको ग्रहण कर जिस शाखाका उपदेश दिया है वह शाखाका उस नामसे प्रसिद्ध है।

[जैसा कि प्रथम स्तबकके प्रारम्भमें कहा जा चुका है ग्रन्थकारने इस ग्रन्थकी रचना ईश्वर मननके लिए की थी। इन पाँच स्तबकोंमें उसके विषयमें पर्याप्त मनन किया जा चुका है इसलिए ग्रन्थका उपसंहार करते हुए टीकाकार कहते हैं]।

इस प्रकार ईश्वरका मनन मोक्षका हेतु है यह सिद्ध हो गया है।

आगे कारिकाकार श्रीमान् उदयनाचार्य अपने ग्रन्थका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

जिसका ईश्वरमें विश्वास नहीं है उसके प्रति [अर्थात् उसके विषयमें] कहते हैं—

इस प्रकार श्रुति [आगम] और नीति [अर्थात् न्याय, अनुमानादि] के साहित्य रूप प्रचुर जलसे धोए गए [शङ्का आदि मलको युक्ति तथा अनुमानादि द्वारा प्रभूत जलोंसे धोकर शुद्ध किए हुए] [जिन [नास्तिकों] के हृदयमें [हे भगवन्] आप प्रतिष्ठित नहीं होते हो [जिनको आपके प्रति श्रद्धा और विश्वास नहीं होता है] वे

किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः
काले कारुणिक! त्वयैव कृपया ते तारणीया नराः॥१०॥

इति शब्दः स्वरूपे। एवं शब्दः प्रकारार्थः। शैलसारो लोहमतिकठिनशिला वा प्रस्तुते ईश्वरे विप्रतीपविधयः प्रतिकूलपराः। तादृशा अपि उच्चैरतिशयेन काले भवच्चिन्तकाः। शङ्काकलङ्कशून्याः कार्याः॥ १७॥

अस्माकन्तु निसर्गसुन्दर चिराच्चेतो निमग्नं त्वयी-
त्यद्धानन्दनिधौ तथापि तरलं नाद्यापि सन्तृप्यते।
तन्नाथ! त्वरितं विधेहि करुणां येन त्वदेकाग्रतां
याते चेतसि नाप्नुवाम शतशो याम्याः पुनर्यातनाः॥

[निश्चय ही] लोहे अथवा कठिन पाषाण शिलाके समान वज्र हृदयवाले हैं। किन्तु प्रस्तुत [अर्थात् ईश्वर] के विषयमें प्रतिकूल परायण होनेपर भी अवसर पड़नेपर [आपत्ति कालमें] आपका अत्यन्त [उच्चैः] ध्यान करनेवाले उन पुरुषोंको हे करुणामय भगवन् आप ही तारें अर्थात् शङ्का रूप कलङ्कसे रहित करें।

इस श्लोकके उत्तरार्द्धकी व्याख्या कुछ भेदसे दूसरे प्रकारसे भी की जासकती है। जिसका भाव यह होगा कि आपके अर्थात् ईश्वरके विरुद्ध विधिको प्रस्तुत करनेवाले होनेपर भी अर्थात् ईश्वरके खण्डनमें रत होनेपर भी वह आपके बड़े चिन्तक हैं। उन खण्डन करनेवालोंकी आस्तिकोंसे भी शायद अधिक आपकी चिन्ता रहती है क्योंकि वह हर समय आपका खण्डन करनेके लिए उद्यत रहते हैं। ईश्वरवादी शायद इतना आपका ध्यान नहीं रखते हैं। ऐसे नास्तिकोंको हे भगवन् समय पर या अन्तिम समयमें आप ही उद्धार करें। इस भावकी दूसरी व्याख्या भी होसकती है। परन्तु टीकाकारोंने पूर्व व्याख्या ही की है। मूल बड़ी कुसुमाञ्जलिमें तारणीयाकी जगह 'भावनीया' पाठ है।

इति शब्द स्वरूपार्थक और एवं शब्द प्रकारार्थक है। शैलसारा [का अर्थ] लोहा अथवा अति कठिन पाषाण शिला है। प्रस्तुत अर्थात् ईश्वरके विषयमें विप्रतीपविषयः अर्थात् प्रतिकूल परायण। ऐसे होनेपर भी काले समयपर आपके उच्चैः अतिशयेन चिन्तक शङ्का कलङ्क रहित करने योग्य हैं॥ १७॥

हे निसर्ग सुन्दर हमारा [ग्रन्थकारका] चित तो बहुत समयसे आपमें ही निमग्न है यह ठीक है फिर भी यह चञ्चल चित्त अभी तृप्त नहीं हुआ है। इसलिए हे नाथ! यथासम्भव शीघ्र ऐसी कृपा करो जिससे इस चित्तके सर्वथा तुममें लीन होजानेपर फिर बार-बार यमकी यातना [जन्म मरण हमें] न सहना पड़े॥ १८॥

अद्धा तत्त्वम् । सन्तृप्यत इति कर्मकर्तरि ।

इत्येष नीतिकुसुमाञ्जलिरुज्ज्वलश्री-
र्यद्वासयेदपि च दक्षिणवामकौ द्वौ ।
नो वा ततः किममरेशगुरोर्गुरुस्तु
प्रीतोऽस्त्वनेन पदपीठसमर्पणेन ॥ १९ ॥

इति श्रीमदुदयनाचार्यविरचितायां, न्यायकुसुमाञ्जलिकारिकायां
पञ्चमस्तबकः समाप्तः ।



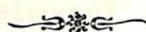
इस प्रकार उज्ज्वल कान्तिवाला यह न्यायकुसुमाञ्जलि दक्षिण [पन्थी ईश्वरवादी] और वाम [पन्थी अनीश्वरवादी] दोनों [हृदयों] को [ईश्वरकी श्रद्धारूप भावनाओंसे] अधिवासित करे। [उनके हृदयोंमें ईश्वरके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करे। यही हमारी ग्रन्थकारकी कामना है । इतने पर भी यदि किसीके मनमें ईश्वरके प्रति विश्वास नहीं होता है तो] अथवा न सही [और किसीके मनको अधिवासित न करे] तो क्या [हानि है ? कुछ नहीं] अमरेश [इन्द्र] के गुरु [बृहस्पति] के भी गुरु [स एव पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् यो० १,२६] परमकारुणिक भगवान् [तो इस अपने पाद रूप पीठ पर इस [कुसुमाञ्जलि] के समर्पणसे प्रसन्न हों अर्थात् इस ग्रन्थकी रचनासे और किसी आस्तिक या नास्तिकका उपकार न हो तो न सही। परन्तु हमारा यह प्रयत्न भगवान्‌को तो प्रसन्न करेगा ही इसीमें हमारे प्रयत्नकी सफलता है] ।

श्रीमान् उदयनाचार्य विरचित न्यायकुसुमाञ्जलि कारिका में यह पञ्चम
स्तबक समाप्त हुआ ।



नो वासयेत् ततः किमस्माकम् ।

इति श्रीमद्-हरिदासभट्टाचार्य-विरचितं कुसुमाञ्जलिकारिका-
व्याख्यानं समाप्तम् ।



[यह कुसुमाञ्जलि दक्षिण पन्थी अर्थात् ईश्वरवादी और वाम पन्थी अर्थात् अनीश्वरवादी इन दोनोंमें से किसीको] अधिवासित न करे तो हमारी क्या [हानि] है ॥ १९ ॥

श्रीमान् हरिदास भट्टाचार्य द्वारा विरचित कुसुमाञ्जलिकारिका
व्याख्यान समाप्त हुआ ।



सिताश्विनचतुर्थीतः पञ्चविंशति वासरैः ।
पूर्तिं परिमलः प्राप्तः द्विसहस्रेऽष्टकोत्तरे ॥

उत्तरप्रदेशस्थ-पीलीभीत-मण्डलान्तर्गत-मकतुल-ग्रामनिवासिनां, श्रीशिवलालमहोदयानां तनुजनुषा, वृन्दावनस्थ-गुरुकुल-विश्वविद्यालयाधीतविद्येन, तत्रत्याचार्यपदमधितिष्ठता, एम० ए० इत्युपपदधारिणा, श्रीविश्वेश्वर-सिद्धान्तशिरोमणिना विरचिते न्यायकुसुमाञ्जलि-परिमले पञ्चमः स्तबकः समाप्तः ।



समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।



न्यायकुसुमाञ्जलि-कारिका

प्रथमः स्तबकः

मङ्गलाचरणम्—

सत्पक्षप्रसरः सतां परिमलप्रोद्बोधबद्धोत्सवो
विम्लानो न विमर्दनेऽमृतरसप्रस्यन्दमाध्वीकभूः ।
ईशस्यैष निवेशितः पदयुगे भृङ्गायमाणं भ्रम-
च्चेतो मे रमयत्वविघ्नमनघो न्यायप्रसूनाञ्जलिः ॥ १ ॥

विषयमुद्दिशति—

स्वर्गापवर्गयोर्मार्गमामनन्ति मनीषिणः ।
यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरूप्यते ॥ २ ॥
न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक् ।
उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता ॥ ३ ॥

कार्यकारणभावसाधनमदृष्टसिद्धिश्च—

सापेक्षत्वादनादित्वाद् वैचित्र्याद् विश्ववृत्तितः ।
प्रत्यात्मनियमाद् भुक्तेरस्ति हेतुरलौकिकः ॥ ४ ॥

सृष्टेराकस्मिकत्वं निराकरोति—

हेतुभूतनिषेधो न स्वानुपाख्यविधिर्न च ।
स्वभाववर्णना नैवमवधेर्नियतत्वतः ॥ ५ ॥

मीमांसकस्य शक्तिवादं निराकरोति—

प्रवाहो नादिमानेष न विजात्येकशक्तिमान् ।
तत्त्वे यत्नवता भाव्यमन्वयव्यतिरेकयोः ॥ ६ ॥

ब्रह्मकारणवादं प्रधानकारणवादं च निराकरोति—

एकस्य न क्रमः क्वापि वैचित्र्यञ्च समस्य न ।
शक्तिभेदो न चाभिन्नः स्वभावो दुरतिक्रमः ॥ ७ ॥

विचित्रं कारणं साधयति—

विफलाविश्ववृत्तिर्नो न दुःखैकफलापि वा ।
दृष्टलाभफला नापि विप्रलम्भोऽपि नेदृशः ॥ ८ ॥

अदृष्टं साधयति—

चिरध्वस्तं फलायालं न कर्मातिशयं विना ।
सम्भोगो निर्विशेषाणां न भूतैः संस्कृतैरपि ॥ ९ ॥

न्यायमते प्रतिबन्धकसंसर्गाभावस्य कारणत्वं साधयति—

भावो यथा तथाऽभावः कारणं कार्यवन्मतः ।
प्रतिबन्धो विसामग्री तद्धेतुः प्रतिबन्धकः ॥ १० ॥

संस्कारस्य भोग्यनिष्ठत्वं निराकरोति—

संस्कारः पुंस एवेष्टः प्रोक्षणाभ्युक्षणादिभिः ।
स्वगुणाः परमाणूनां विशेषाः पाकजादयः ॥ ११ ॥
निमित्तभेदसंसर्गादुद्भवानुद्भवादयः ।
देवताः सन्निधानेन प्रत्यभिज्ञानतोऽपि वा ॥ १२ ॥
जयेतरनिमित्तस्य वृत्तिलाभायकेवलम् ।
परीक्ष्यसमवेतस्य परीक्षाविधयो मताः ॥ १३ ॥

सांख्यमतं निराकरोति—

कर्तृधर्मानियन्तारश्चेतिता च स एव नः ।
अन्यथाऽनपवर्गः स्यादसंसारोऽथवा ध्रुवः ॥ १४ ॥

चार्वाकस्य देहात्मवादं निराकरोति—

नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यो नैकं भूतमपक्रमात् ।
वासनासंक्रमो नास्ति न च गत्यन्तरं स्थिरे ॥ १५ ॥

बौद्धस्य क्षणिकत्वसिद्धान्तं निराकरोति—

न वैजात्यं विना तत् स्यान्न तस्मिन्ननुमा भवेत् ।
विना तेन न तत्सिद्धिर्नाध्यक्षं निश्चयं विना ॥ १६ ॥
स्थैर्यदृष्ट्योर्न सन्देहो न प्रामाण्ये विरोधतः ।
एकतानिर्णयो येन क्षणे तेन स्थिरे मतः ॥ १७ ॥

कारणवादं प्रतिपादयति—

हेतुशक्तिमनादृत्य नीलाद्यपि न वस्तुसत् ।
तद्युक्तं तत्र तच्छक्तमिति साधारणं न किम् ॥ १८ ॥

आत्मनः कारणत्वं साधयति—

पूर्वाभावो हि हेतुत्वं मीयते येन केनचित् ।
व्यापकस्यापि नित्यस्य धर्मिधीरन्यथा नहि ॥ १९ ॥

स्तबकोपसंहारः—

इत्येषा सहकारिशक्तिरसमा मायादुरुन्नीतितो
मूलत्वात् प्रकृतिः प्रबोधभयतोऽविद्येति यस्योदिता ।
देवोऽसौ विरतप्रपञ्चरचनाकल्लोलकोलाहलः
साक्षात् साक्षितया मनस्यभिरतिं बध्नातु शान्तो मम ॥

इति श्रीमदुदयनाचार्यविरचितायां न्यायकुसुमाञ्जलिकारिकायां
प्रथमः स्तबकः ।



द्वितीयः स्तबकः

वेदकर्तृत्वेन ईश्वरं साधयति—

प्रमायाः परतन्त्रत्वात् सर्गप्रलयसम्भवात् ।
तदन्यस्मिन्नविश्वासान्न विधान्तरसम्भवः ॥ १ ॥

प्रलयबाधकान् हेतून् निराकरोति—

वर्षादिवद् भवोपाधिर्वृत्तिरोधः सुषुप्तिवत् ।
उद्भिद्वृश्चिकवद् वर्णा मायावत् समयादयः ॥ २ ॥

प्रलयबाधकान् हेतूनुद्दिशति—

जन्मसंस्कारविद्यादेः शक्तेः स्वाध्यायकर्मणोः ।
ह्रासदर्शनतो ह्रासः सम्प्रदायस्य मीयताम् ॥ ३ ॥

स्तबकोपसंहारः—

कारं कारमलौकिकाद्भुतमयं मायावशात् संहरन्
हारं हारमपीन्द्रजालमिव यः कुर्वन् जगत् क्रीडति ।
तं देवं निरवग्रहस्फुरदभिध्यानानुभावं भवं
विश्वासैकभुवं शिवं प्रति नमन् भूयासमन्तेष्वपि ॥ ४ ॥

इति श्रीमदुदयनाचार्यविरचितायां न्यायकुसुमाञ्जलिकारिकायां
द्वितीयः स्तबकः ।



तृतीयः स्तबकः

अनुपलब्धेः ईश्वरबाधकत्वं निराकरोति—

योग्यादृष्टिः कुतोऽयोग्ये प्रतिबन्धिः कुतस्तराम् ।
क्वायोग्यं बाध्यते श‍ृङ्गं क्वानुमानमनाश्रयम् ॥ १ ॥

अनुमानस्य ईश्वरस्य बाधकत्वं निराकरोति—

व्यावर्त्याभाववत्तैव भाविकी हि विशेष्यता ।
अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता ॥ २ ॥

योग्यानुपलब्धेरभावसाधनत्वं दर्शयति—

दुष्टोपलम्भसामग्री शशश‍ृङ्गादियोग्यता ।
न तस्यां नोपलम्भोऽस्ति नास्ति सानुपलम्भने ॥ ३ ॥

ईश्वराभावसाधकमनुमानं निराकरोति—

इष्टसिद्धिः प्रसिद्धेऽशे हेत्वसिद्धिरगोचरे ।
नान्या सामान्यतः सिद्धिर्जातावपि तथैव सा ॥ ४ ॥

शब्दप्रमाणस्य ईश्वरबाधकत्वं निराकरोति—

आगमादेः प्रमाणत्वे बाधनादनिषेधनम् ।
आभासत्वे तु सैव स्यादाश्रयासिद्धिरुद्धता ॥ ५ ॥

ईश्वरस्य संशयगोचरत्वं निराकरोति—

दृष्ट्यदृष्ट्योर्न सन्देहो भावाभावविनिश्चयात् ।
अदृष्टिबाधिते हेतौ प्रत्यक्षमपि दुर्लभम् ॥ ६ ॥

उपाधिशङ्काया अनुमानबाधकत्वं निराकरोति—

शङ्का चेदनुमाऽस्त्येव न चेच्छङ्का ततस्तराम् ।
व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिर्मतः ॥ ७ ॥

उपमानस्य ईश्वरबाधकत्वनिराकरणाय वैशेषिकमतेन उपमानं निराकरोति—

परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः ।
नैकताऽपि विरुद्धानामुक्तिमात्रविरोधतः ॥ ८ ॥
साधर्म्यमिव वैधर्म्यं मानमेवं प्रसज्यते ।
अर्थापत्तिरसौ व्यक्तमिति चेत् प्रकृतं न किम् ॥ ९ ॥

न्यायमते उपमानस्य प्रमाणान्तरत्वं साधयति—

सम्बन्धस्य परिच्छेदः संज्ञायाः संज्ञिना सह ।
प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वादुपमानफलं विदुः ॥ १० ॥
सादृश्यस्यानिमित्तत्वान्निमित्तस्याप्रतीतितः ।
समयो दुर्ग्रहः पूर्वं शब्देनानुमयापि वा ॥ ११ ॥
श्रुतान्वयादनाकाङ्क्षं न वाक्यं ह्यन्यदिच्छति ।
पदार्थान्वयवैधुर्यात्तदाक्षिप्तेन सङ्गतिः ॥ १२ ॥

वैशेषिकाभिमतं शब्दस्य अनुमाने अन्तर्भावं करोति—

अनैकान्तः परिच्छेदे सम्भवे च न निर्णयः ।
अकाङ्क्षा सत्तया हेतुर्योग्यासत्तिरबन्धना ॥ १३ ॥

प्रभाकराभिमतं लौकिकशब्दस्य अनुवादकत्वं निराकरोति—

निर्णीतशक्तेर्वाक्याद्धि प्रागेवार्थस्य निर्णये ।
व्याप्तिस्मृतिविलम्बेन लिङ्गस्यैवानुवादिता ॥ १४ ॥
व्यस्तपुन्दूषणाशङ्कैः स्मारितत्वात् पदैरमी ।
अन्विता इति निर्णीते वेदस्यापि न तत् कुतः ॥ १५ ॥

शब्दस्य ईश्वरबाधकत्वं निराकरोति—

न प्रमाणमनाप्तोक्तिर्नादृष्टे क्वचिदाप्तता ।
अदृश्यदृष्टौ सर्वज्ञो न च नित्यागमः क्षमः ॥ १६ ॥
न चासौ क्वचिदेकान्तः सत्त्वस्यापि प्रवेदनात् ।
निरञ्जनाववोधार्थो न च सन्नपि तत्परः ॥ १७ ॥

अर्थापत्तेः ईश्वरसाधकत्वं निराकरोति—

हेत्वभावे फलाभावात् प्रमाणेऽसति न प्रमा।
तदभावात् प्रवृत्तिर्न कर्मवादेप्ययं विधिः ॥ १८ ॥

अर्थापत्तेः प्रमाणान्तरत्वं निराकरोति—

अनियम्यस्य नायुक्तिर्नानियन्तोपपादकः।
न मानयोर्विरोधोऽस्ति प्रसिद्धे वाऽप्यसौ समः ॥ १९ ॥

अनुपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वनिराकरणाय अभावग्रहे इन्द्रियाणां हेतुत्वं दर्शयति—

प्रतिपत्तेरपारोक्ष्यादिन्द्रियस्यानुपक्षयात् ।
अज्ञातकरणत्वाच्च भावावेशाच्च चेतसः ॥ २० ॥
प्रतियोगिनि सामर्थ्याद् व्यापाराव्यवधानतः।
अक्षाश्रयत्वाद् दोषाणमिन्द्रियाणि विकल्पनात् ॥ २१ ॥
अवच्छेदग्रहध्रौव्यादध्रौव्ये सिद्धसाधनात्।
प्राप्त्यन्तरेऽनवस्थानान्न चेदन्योऽपि दुर्घटः ॥ २२ ॥

स्तबकोपसंहारः—

प्रत्यक्षादिभिरेभिरेवमधरो दूरे विरोधोदयः
प्रायो यन्मुखवीक्षणैकविधुरैरात्मापि नासाद्यते।
तं सर्वानुविधेयमेकमसमस्वच्छन्दलीलोत्सवं
देवानामपि देवमुद्भवदतिश्रद्धाः प्रपद्यामहे ॥ २३ ॥

इति श्रीमदुदयनाचार्यविरचितायां न्यायकुसुमाञ्जलिकारिकायां
तृतीयः स्तबकः।



चतुर्थः स्तबकः

ईश्वरज्ञानस्य अप्रमात्वसाधकः पूर्वपक्षः, तन्निराकरणं च—

अप्राप्तेरधिकप्राप्तेरलक्षणमपूर्वदृक् ।
यथार्थोऽनुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते ॥ १ ॥

ज्ञाततामाश्रित्य अगृहीतग्राहित्वस्य प्रमात्वसाधकः पूर्वपक्षः तन्निराकरणं च—

स्वभावनियमाभावादुपकारो हि दुर्घटः ।
सुघटत्वेऽपि सत्यर्थेऽसति का गतिरन्यथा ॥ २ ॥

मीमांसकाभिमतां ज्ञाततां प्रतिक्षिपति—

अनैकान्तादसिद्धेर्वा न च लिङ्गमिह क्रिया ।
तद्वैशिष्ट्यप्रकाशत्वान्नाध्यक्षानुभवोऽधिके ॥ ३ ॥

ज्ञाततां विनैव कर्मणां भेदसाधनम्—

अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम् ।
क्रिययैव विशेषो हि व्यवहारेषु कर्मणाम् ॥ ४ ॥

ईश्वरज्ञानस्य प्रमात्वं तत्प्रामाण्यसाधनं च—

मितिः सम्यक्परिच्छित्तिस्तद्वत्ता च प्रमातृता ।
तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते ॥ ५ ॥

स्तबकोपसंहारः—

साक्षात्कारिणि नित्ययोगिनि परद्वारानपेक्षस्थितौ
भूतार्थानुभवे निविष्टनिखिलप्रस्ताविवस्तुक्रमः ।
लेशादृष्टिनिमित्तदुष्टिविगमप्रभ्रष्टशङ्कातुषः
शङ्कोन्मेषकलङ्किभिः किमपरैस्तन्मे प्रमाणं शिवः ॥ ६ ॥

इति श्रीमदुदयनाचार्यविरचितायां न्यायकुसुमाञ्जलिकारिकायां
चतुर्थः स्तबकः ।

पञ्चमः स्तबकः

ईश्वरसाधकं हेत्वष्टकं निर्दिशति—

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् सङ्ख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥ १॥

कार्यत्वहेतौ पञ्चदोषान् निर्दिश्य निराकरोति—

न बाधोऽस्योपजीव्यत्वात् प्रतिबन्धो न दुर्बलैः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्विरोधो न नासिद्धिरनिबन्धना॥ २॥

ईश्वरबाधकं तर्कं निराकृत्य तत्साधकं तर्कं दर्शयति—

तर्काभासतयाऽन्येषां तर्काशुद्धिरदूषणम्।
अनुकूलस्तु तर्कोऽत्र कार्यलोपो विभूषणम्॥ ३॥

कार्यत्वहेतोः प्रयत्नजन्यत्वे अप्रयोजकत्वम्, इति पूर्वपक्षं निराकरोति—

स्वातन्त्र्ये जडताहानिः, नादृष्टं दृष्टघातकम्।
हेत्वभावे फलाभावः विशेषस्तु विशेषवान्॥ ४॥

धृत्यादीनां हेतूनां प्रयत्नजन्यत्वे मानं दर्शयति—

कार्यत्वान्निरुपाधित्वमेवं धृतिविनाशयोः।
विच्छेदेन पदस्यापि प्रत्ययादेश्च पूर्ववत्॥ ५॥

विधिप्रत्ययबलात् ईश्वरं साधयति—

प्रवृत्तिः कृतिरेवात्र सा चेच्छातो यतश्च सा।
तज्ज्ञानं विषयस्तस्य विधिस्तज्ज्ञापकोऽथवा॥ ६॥

विधिप्रत्ययार्थं दर्शयति—

इष्टहानेरनिष्टाप्तेरप्रवृत्तेर्विरोधतः।
असत्त्वात् प्रत्ययत्यागात् कर्तृधर्मो न सङ्करात्॥ ७॥

आख्यातार्थं दर्शयति—

कृताकृतविभागेन कर्तृरूपव्यवस्थया।
यत्न एव कृतिः पूर्वा परस्मिन् सैव भावना॥ ८॥

यत्नस्य आख्यातार्थत्वं दर्शयति—

भावेनैव हि यत्नात्मा सर्वाख्यातस्य गोचरः ।
तया विवरणध्रौव्यादाक्षेपानुपपत्तितः ॥ ९ ॥

कर्तरि आख्यातशक्तिं निवारयति—

आक्षेपलभ्ये संख्येये नाभिधानस्य कल्पना ।
संख्येयमात्रलाभे तु साकाङ्क्षेण व्यवस्थितिः ॥ १० ॥

कर्मनिष्ठस्य धर्मस्य विध्यर्थत्वं निवारयति—

अतिप्रसङ्गान्न फलं नापूर्वं तत्त्वहानितः ।
तदलाभान्न कार्यञ्च न क्रियाप्यप्रवृत्तितः ॥ ११ ॥

अविधायाः शाब्दभावनायाः विध्यर्थत्वं निवारयति—

असत्त्वादप्रवृत्तेश्च नाभिधापि गरीयसी ।
बाधकस्य समानत्वात् परिशेषोऽपि दुर्लभः ॥ १२ ॥

इष्टसाधनस्य विध्यर्थत्वं निवारयति—

हेतुत्वादनुमानाच्च मध्यमादौ वियोगतः ।
अन्यत्र क्लृप्तसामर्थ्यान्निषेधानुपपत्तितः ॥ १३ ॥

आप्ताभिप्रायस्य विध्यर्थत्वं दर्शयति—

विधिर्वक्तुरभिप्रायः प्रवृत्त्यादौ लिङादिभिः ।
अभिधेयोऽनुमेया तु कर्तुरिष्टाभ्युपायता ॥ १४ ॥
कृत्स्न एव च वेदोऽयं परमेश्वरगोचरः ।
स्वार्थद्वारैव तात्पर्यं तस्य स्वर्गादिवद् विधौ ॥ १५ ॥

व्याख्याविशेषादित्यस्य व्याख्यान्तरमाह—

स्यामभूवं भविष्यामीत्यादौ संख्या प्रवक्तृगा ।
समाख्याऽपि च शाखानां नाद्यप्रवचनादृते ॥ १६ ॥

स्तबकोपसंहारः—

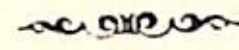
इत्येवं श्रुतिनीतिसम्प्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः ।

किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः
काले कारुणिक! त्वयैव कृपया ते तारणीया नराः ॥ १७॥

ग्रन्थोपसंहारः—

अस्माकन्तु निसर्गसुन्दर चिराच्चेतो निमग्नं त्वयी-
त्यद्धानन्दनिधौ तथापि तरलं नाद्यापि सन्तृप्यते ।
तन्नाथ ! त्वरितं विधेहि करुणां येन त्वदेकाग्रतां
याते चेतसि नाप्नुवाम शतशो याम्याः पुनर्यातनाः ॥१८॥
इत्येषनीतिकुसुमाञ्जलिरुज्ज्वलश्री-
र्यद्वासयेदपि च दक्षिणवामकौ द्वौ ।
नो वा ततः किममरेशगुरोर्गुरुस्तु
प्रीतोऽस्त्वनेन पदपीठसमर्पणेन ॥ १९ ॥

इति श्रीमदुदयनाचार्यविरचितायां न्यायकुसुमाञ्जलिकारिकायां
पञ्चमः स्तबकः ।



न्यायकुसुमाञ्जलिकारिका समाप्ता



परिशिष्टः

संस्कृतव्याख्याभागः

प्रथमः स्तबकः

अदृष्टसाधनं (का० १–४)—

अस्य न्यायकुसुमाञ्जलिग्रन्थस्य············ईश्वरसिद्धिरेव मुख्यो विषयः जगत्कारणतया, प्राणिनां भोगजनकादृष्टनियामकतया, वेदप्रकाशकतया च तस्य सिद्धिर्भवति। तत्र वेदकारणतया ईश्वराङ्गीकारोऽपरिहार्यः इति सिद्धान्तं द्वितीयस्तबके विस्पष्टेष्यति ग्रन्थकारः। अत्र प्रथमस्तबकारम्भे तु जगत्कारणतया अदृष्टाधिष्ठातृतया चेश्वरं साधयितुं प्रयतते। तत्र पूर्वमदृष्टसिद्धिः कार्याः तदनन्तरमेव तदधिष्ठातृतया ईश्वरसिद्धिः सम्भवति। अतो ग्रन्थारम्भे 'सापेक्षत्वादनादित्वाद्' इति कारिकायामदृष्टसाधनाय १. 'सापेक्षत्वाद्' २. 'अनादित्वाद्' ३. 'वैचित्र्याद्' ४. विश्ववृत्तितः ५. 'प्रत्यात्मनियमाद् भुक्तेः' इति हेतुपञ्चकमुपन्यस्तं तत्र—'सापेक्षत्वाद्' इति प्रथमो हेतुः, स च कारणसामान्यसाधनाय उपात्तः। चार्वाकादयो हि कार्यकारणभावमेव क्वचिदपि न स्वीकुर्वन्ति। तन्मतस्य निवारणाय कारणसामान्यसाधनमावश्यकम्। अतस्तत्साधनाय सापेक्षत्वाद् कादाचित्कत्वाद् इति प्रथमो हेतुरुपन्यस्तः। तथा चानुमानम्—कार्यं सहेतुकं कादाचित्कत्वाद् भोजनजन्यतृप्तिवत्।

एवं सापेक्षत्वेन हेतुना कारणसामान्ये साधिते चार्वाकः पुनः प्रत्यवतिष्ठते यत् घटादीनां कारणं किं नित्यमनित्यं वा ? नित्यं चेत् कारणं तदा घटादेरपि नित्यत्वप्रसङ्गः अतो न कारणं नित्यं सम्भवति। अनित्यञ्चेत् कारणं तदा तस्याप्युत्पत्तिरवाच्या, एवं तत्कारणपरम्पराऽपि कादाचित्कत्वादुत्पन्ना वाच्या, तथा च—अनवस्थादोषप्रसङ्गः। अतः कार्यकारणसिद्धान्तोऽसमीचीनः इति पूर्वपक्षस्य निवारणार्थम् 'अनादित्वाद्' इति द्वितीयो हेतुरुक्तः। बीजाङ्कुरवत् प्रामाणिकीयमनवस्था न दोषाय इत्यभिप्रायः।

एवं पूर्वपक्षे निवारिते चार्वाकः पुनरपि शङ्कते यत् सांख्याभिमता प्रकृतिरेव कारणमस्तु किं वा वेदान्ताभिमतं ब्रह्म कारणं भवतु, अतोऽपि व्यर्था अदृष्टकल्पना इति पूर्वपक्षस्य समाधानार्थं 'वैचित्र्याद्' इति तृतीयो हेतुः 'कार्यं विचित्रकारणवत् विचित्रकार्यत्वाद्' इत्यनुमाने पर्यवस्यति तथा च नैका प्रकृतिः न चैकं ब्रह्म कारणं भवितुमर्हति अतोऽदृष्टमेव कारणं स्वीकार्यम्।

तत्र चार्वाकः पुनरपि शङ्कते यत् दृष्टं यागादिकमेव कारणमस्तु किमदृष्टकल्पनया प्रयोजनमिति शङ्कानिवारणार्थं 'विश्ववृत्तितः' इति चतुर्थो हेतुरुक्तः। विश्वेषां परलोकार्थिनां यागादौ वृत्तितः प्रवृत्तितः इत्यर्थः। यागादिकं क्षणिकं कर्म न कालान्तरे तत् कालावस्थायि

व्यापारं विना स्वर्गादिजनने समर्थम् अतः चिरध्वस्तस्य यागादिकर्मणोऽवान्तरव्यापारतया अदृष्टसिद्धिरित्यभिप्रायः ।

अत्र चार्वाकः पुनरपि शङ्कते—भवत्वदृष्टमेव कारणं किन्तु तद्भोग्यनिष्ठमेव नात्मनिष्ठमिति शङ्कानिवारणाय 'प्रत्यात्मनियमाद्भुक्ते'रिति पञ्चमो हेतुरुक्तः । भुक्तेर्भोगस्य प्रतिनियतात्मवृत्तित्वादित्यर्थः । एकस्मादेव पदार्थात् प्राणिनां भिन्नो भोगो दृश्यते यदि तु भोग्यनिष्ठमेवादृष्टं स्याद् आत्मनिष्ठं च न भवेत् तदा एकस्मात् पदार्थाद् विभिन्नो भोगो न सम्भवेद् आत्मनि तु अदृष्टे स्वीक्रियमाणे अदृष्टभेदात् विभिन्नो भोग उपपद्यते अत आत्मनिष्ठमेवादृष्टं स्वीकार्यमेवम् अदृष्टसिद्धिः ततस्तदधिष्ठातृतया ईश्वरसिद्धिरिति ग्रन्थकर्तुरभिप्रायः । एवं हेतुपञ्चकेन अदृष्टकारणस्य सिद्धिरुक्ता—एतेषामेव हेतूनां विस्तरार्थमग्रे कारिकापञ्चकं रचितं ग्रन्थकृता । (का० १–४)

कार्यकारणभावे व्यतिरेकव्यभिचारदोषवारणाय प्रयतते (का० ६–६)—

पूर्वं चतुर्थकारिकायां 'सापेक्षत्वाद्' 'अनादित्वाद्' इति हेतुद्वयेन—कारणसामान्यं साधितम्, अत्र चार्वाकः पुनरपि शङ्कते यदि कार्यकारणभावः कल्प्यते तदा वह्नेस्तृणादिजन्यत्वाद् तृणारणिमणिनामेव तत्रकारणतावाच्या सा च व्यतिरेकव्यभिचारान्न सम्भवति । तृणसत्त्वे वह्निसत्ता इत्यन्वयस्तूपपद्यते किन्तु तृणाभावे—वह्न्यभावः इति व्यतिरेको, अरण्यादि हेत्वन्तरजन्यस्य वह्नेर्विद्यमानत्वान्न घटते । एवम् अरणि सत्त्वे वह्निसत्ता इत्यन्वये उपपद्यमानेऽपि अरण्यभावे वह्न्यभावः इति व्यतिरेको मण्यादिजन्यस्य वह्नेः सत्त्वान्न घटते । एवं च मणिसत्त्वे वह्निसत्ता इत्यन्वये उपपद्यमानेऽपि मण्यभावे तृणादिजन्यस्य वह्न्यन्तरस्य सद्भावाद् 'मण्यभावे वह्न्यभावः' इति व्यतिरेको न प्रसरति ।

कारणत्वग्रहो हि अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुभाभ्यामेव सम्भवति नान्वयमात्रात् न वा व्यतिरेकमात्रात् केवलात् । अत्र च तृणादीनां वह्निकारणानामन्वयमात्रं दृश्यते न व्यतिरेकः । अतो व्यतिरेकव्यभिचारितया तृणादौ क्वचिदपि वह्निकारणत्वं न सम्भवति । अतः कार्यकारणसिद्धान्तः न समीचीनः इति चार्वाकस्य पूर्वपक्षः ।

अस्य चार्वाकोक्तस्य व्यतिरेकव्यभिचारदोषस्य वारणाय मीमांसकैर्नैयायिकैश्च प्रयतितम् । किन्तु उभयोरपि भिन्नः पन्थाः पूर्वं मीमांसकैः तृणारणिमणिषु वह्न्यनुकूलैकशक्तिमत्त्वेन कारणतां प्रकल्प्य व्यतिरेकव्यभिचारो वारितः तथा हि तृणारणिमणिषु न तृणत्वेन अर्णित्वेन मणित्वेन वा कारणता अपितु सर्वेष्वपि कारणेषु वह्न्यनुकूलैकशक्तिमत्त्वेन कारणता । तथा च वह्न्यनुकूलैकशक्तिमत्त्वे सति वह्निसत्ता वह्न्यनुकूलैकशक्तिमत्त्वाभावे सति वह्न्यभावः इत्यन्वयव्यतिरेकयोरुभयोरपि सम्भवान्न व्यतिरेकव्यभिचारसम्भवः। अतः कार्यकारणभावोऽपि स्वीकार्य एव इति मीमांसकानामभिप्रायः ।

किन्तु नैयायिकास्तु शक्तिवादं न स्वीकुर्वन्ति तेषां मते शक्तिस्वीकारपक्षे १. धूमादिना वह्न्यनुमानं न स्यात्, २. प्रतिनियमो न स्यात्, ३. गौरवं च स्यात् इति त्रयो दोषाः

प्रसज्यन्ते । तत्र धूमादिना वह्न्यनुमानं न स्यात् इति प्रथमदोषस्यायमभिप्रायः । अनुमाने व्याप्तिग्रह आवश्यकः स च धूमसामान्यवह्निसामान्ययोः कार्यकारणभावेनैव सम्भवति । किन्तु शक्तिस्वीकारे न वह्निसामान्यस्य धूमसामान्यं प्रति हेतुता अतो वह्नित्वं न कारणतावच्छेदकं किन्तु धूमानुकूलैकशक्तिमत्त्वमेव कारणतावच्छेदकं अतो धूमादिना धूमानुकूलैकशक्तिमत्त्वावच्छिन्नस्यानुमानं, न वह्नित्वावच्छिन्नस्य । अनुमानेनागृह्यमाणो हि वह्नित्वावच्छिन्नो वह्निः । अतो—'धूमादिना वह्न्यनुमानं न स्यात्' इति शक्तिस्वीकारपक्षे प्रथमो दोषः ।

'प्रतिनियमो न स्यात्' इति द्वितीयो दोषः प्रतिनियमो व्यवस्था । तृणारणिमणिषु वह्निकारणेषु व्यवस्था दृश्यते तृणारणिमणिसम्बद्धं फूत्कार-मन्थन-प्रतिफलितरविकिरण-संयोगरूपमपरमपि कारणत्रयमत्रोपलभ्यते । तत्र तृणफूत्कारसमवधाने, अरणिमन्थनयोः समवधाने, मणिप्रतिफलितरविकिरणयोश्च समवधान एव वह्निरूपं कार्यं जन्यते इति प्रतिनियमो दृश्यते। स च शक्तिस्वीकारपक्षे षट्स्वपि सर्वेषु कारणेषु वह्न्यनुकूलैकशक्तिमत्त्वस्य कारणतावच्छेदकत्वाद् वह्नित्वस्य च तत्राहेतुत्वाभावान्न घटते । ततश्च कयोरपि द्वयोः कारणयोः समवधाने वह्न्युत्पत्तिसम्भवात् पूर्वोक्तव्यवस्थाभङ्गः सञ्जायते । अतः शक्तिः कारणतावच्छेदिका न स्वीकार्या इति 'प्रतिनियमो न स्यात्' इत्यस्य द्वितीयदोषस्याभिप्रायः।

शक्तिस्वीकारपक्षे 'गौरवं च स्यात्' इति तृतीयो दोषः 'नित्ये नित्यैव सा शक्तिरनित्ये भावहेतुजा' इति मीमांसकसिद्धान्तादनित्योऽपि शक्तिभेदः स्वीक्रियते । ततश्च तदुत्पत्तेः पूर्वं तस्य प्रागभावः ध्वंसानन्तरञ्च प्रध्वंसाभावः अनन्तशक्तिकल्पनापत्तिश्चेति पदार्थजातं कल्प्यं भवति ततश्च गौरवं भवति । अतः शक्तिपक्षः सर्वथा हेय एव इति नैयायिकस्याभिप्रायः ।

एवं शक्तिमुखेन व्यतिरेकव्यभिचारवारणं खण्डितम् अतस्तद्वारणस्य भारो नैयायिके आपतति । तेन च कार्येषु वैजात्यं प्रकल्प्य सा निवारितः । तस्यायमभिप्रायः यत् तृणजन्यो तृणजन्यस्तारणो वह्निः वह्न्यन्तरात् भिन्नः एवम्—अरणिजन्यो वह्निरपि भिन्नः मणिजन्योऽपि वह्निः वह्न्यन्तराभ्यां भिन्नः । अतस्तृणस्य तारणवह्निं प्रत्येव कारणता न वह्न्यन्तरं प्रति एवम् अरणिजन्यवह्निविशेषं प्रत्येव अरणिकारणता, मणिजन्यवह्निविशेषं प्रति च मणेरेव कारणता न वह्न्यन्तरं प्रति। ततश्च तृणसत्त्वे तारणवह्निसत्तातृणाभावे तारणवह्न्यभाव इत्यन्वयव्यतिरेकौ उभावप्युत्पन्नौ एवम् अरणिजन्यमणिजन्यवह्निस्थलेऽपि अन्वयव्यतिरेकौ सम्भवतः । अतो न व्यतिरेकव्यभिचारदोषः । इति सर्वमभिप्रेत्य षष्ठकारिकायामुक्तं 'प्रवाहो नादिमानेष न—विजात्येष शक्तिमान्' एष कार्यकारणप्रवाहोऽनादिः—विजातीयेषु तृणारणिमणिषु एकशक्तिमान् न कार्यकारणभावः ।

यश्च व्यभिचारदोषश्चार्वाकेण प्रोक्तः तत् परिहाराय—'तत्त्वे यत्नवता भाव्यमन्वयव्यतिरेकयोः'[1] अन्वयव्यतिरेकयोः तत्त्वे नियततत्त्वे निर्वाह्ये यत्नता भाव्यं यत्नः करणीयः—कार्येषु तारणवह्न्यादिषु वैजात्यं कल्पनीयमित्यर्थः कार्येषु वैजात्ये च कल्पिते

सति व्यतिरेकव्यभिचारदोषवारणं सुतरां सम्भवतीति ग्रन्थकर्तुरभिप्रायः। (का० १-६)

'शक्तिखण्डनम्' (का० १-१०)—

शक्तिसिद्धान्तो हि मीमांसकानां प्रमुखः सिद्धान्तः तन्निवारणाय अत्र ग्रन्थकृता बहु प्रयतितम् पूर्वं षष्ठकारिकामपि शक्तिसिद्धान्तः प्रत्याख्यातः किन्तु स्थूणानिखननन्यायेन पुनरपि शक्तिसिद्धान्तं निराकरोति । वैशेषिकादयो द्रव्यादिपदार्थसप्तकमङ्गीकुर्वन्ति । मीमांसकैस्तु तद् व्यतिरिक्ता शक्ति सादृश्यं च पदार्थान्तरमपि स्वीक्रियते । तत्र शक्तिसाधनाय तेषामियं वाचोयुक्तिः । सामान्यतो वह्निर्दाहजनको भवति किन्तु यदा मणिमन्त्रौषधीनां प्रयोगस्तत्र क्रियते तदा प्रज्वलिते वह्निस्वरूपे विद्यमानेऽपि दाहो न जन्यते अत्र दाहनियामिका शक्तिरेव भवति । मणिमन्त्रादिप्रयोगात् पूर्वं वन्हौ दाहशक्तिर्भवति । मणिमन्त्रप्रयोगे तु सा शक्तिर्विनश्यति इति तादृशादेव करतलानलसंयोगादेकदा दाहो भवति अन्यदा च न भवति इत्यत्र शक्तिरेव नियामिका ।

नैयायिकास्तु प्रतिबन्धकसंसर्गाभावं कार्यमात्रे हेतु मन्यन्ते । तथा च मणिमन्त्रादिप्रयोगे प्रतिबन्धकसंसर्गाभावरूपसामग्रीविरहात् दाहो न भवति इति शक्तिं विनापि दाहजनकत्वोपपत्तेः शक्तिस्वीकारो व्यर्थ एव । किञ्च तत्र गौरवमपि स्यात् । अनित्यशक्तिपक्षे शक्तेः प्रागभावकल्पना प्रध्वंसाभावकल्पना अनन्तशक्तिकल्पना चेति गौरवभयात् शक्तिसिद्धान्तोऽव्यवहारिकः इति नैयायिकानाम् अभिप्रायः ।

अत्र मीमांसकाः प्रत्यवतिष्ठन्ते यत् कारणत्वं भावत्वव्याप्यं भाव एव कारणं भवितुमर्हति नाभाव इत्यर्थः । अतः प्रतिबन्धकसंसर्गाभावस्य न कारणत्वम् । किन्तु शक्तिभेद एव तत्र नियामकः ।

शक्त्यनभ्युपगमे अकिंचित्करस्य मण्यादेः प्रतिबन्धकपदप्रयोगानुपपत्तिः । इत्येकं दूषणम् । उत्तेजकाभावकूटविशिष्टप्रतिबन्धकसंसर्गाभावस्य कारणत्वे गौरवापत्तिः इति द्वितीयो दोषः । भावस्यैव कारणत्वम् इति नियमोल्लंघनं तृतीयो दोषः । एवं दोषत्रयभयात् प्रतिबन्धकसंसर्गाभावस्य न कारणत्वम् अतः शक्तिरवश्यस्वीकार्या इति मीमांसकानां सिद्धान्तः ।

अस्य सिद्धान्तस्य निराकरणाय भावो यथा तथाभावः कारणम् इत्यादिकारिकायाः आरम्भः । यथा भावः अभावश्चोभयमपि कार्यं भवति एवम् उभयत्र कारणत्वमपि अविरुद्धम् इत्युक्तमभावो यथा तथा भावः कारणं कार्यवन्मतम् ।

यच्चोक्तम् अकिंचित्करे मण्यादौ प्रतिबन्धकपदप्रयोगानुपपत्तिरिति तत्समाधत्ते प्रतिबन्धोपि सामग्री 'तद्धेतुः प्रतिबन्धकः' न्यायमते मण्यादौ न प्रतिबन्धकपदप्रयोगः किन्तु तदसमवधानहेतुभूते पुरुषे एव प्रतिबन्धकपदप्रयोगः । मण्यादिप्रतिबन्धशब्देनोच्यते । यदि वा प्रतिबन्धशब्दात् स्वार्थे 'क' प्रत्यये कृते तत्र प्रतिबन्धकपदप्रयोगोऽपि न विरुद्ध्यते ।

शक्तिवादे च नित्यशक्तिपक्षः अनित्यशक्तिपक्षश्चेति द्वौ पक्षौ उभयत्रापि शक्तेः। उत्पत्ति-विनाशयोः कुण्ठितत्वतद्विनाशयोश्चाभ्युपगमात् गौरवमप्यपरिहार्यम्। अतः शक्तिसिद्धान्तो न समीचीनः इति नैयायिकानामभिप्रायः। (का० १-१०)

संस्कारस्य भोग्यनिष्ठत्वनिराकरणम् (का० १-११)—

अत्र पूर्वपक्षी संस्कारस्य भोग्यनिष्ठत्वं साधयितुं निम्नाङ्कितं युक्तिषट्कमुपन्यस्यति—

१. व्रीहीन् प्रोक्षति व्रीहीन् वहन्ति, इत्यत्र प्रोक्षिता एव व्रीहयोऽविघाताय गृह्यन्ते इति प्रोक्षितेषु व्रीहिषु अप्रोक्षितेभ्यो व्रीहिभ्यः भेदसाधकः संस्कारो व्रीहिनिष्ठः कल्प्यते।

२. किञ्च यो यद्गतफलार्थितया क्रियते स तन्निष्ठफलजनकव्यापारजनक इति नियमात् व्रीहिनिष्ठावघातरूपफलजनकतया क्रियमाणं प्रोक्षणं व्रीहिनिष्ठसंस्कारजनकमिति भोगनिष्ठः संस्कारः।

३. व्रीहीन् प्रोक्षति इत्यत्र व्रीहिपदस्य कर्मतया तत्रैव संस्कारसिद्धिः 'परसमवेत-क्रियाजन्यफलाश्रयत्वं कर्मत्वम्' इति कर्मलक्षणम्। अत्र च प्रोक्षणरूपा क्रिया परसमवेता क्रिया तज्जन्यञ्च फलं संस्कारः तदाश्रयतयैव व्रीहिपदस्य कर्मत्वमिति व्रीहिनिष्ठ एव संस्कारः नात्मनिष्ठः।

४. संस्कृतो व्रीहि इति प्रत्ययबलादपि संस्कारस्य व्रीहिनिष्ठत्वं कल्प्यते।

५. माघकर्षणादिना भूमिनिष्ठाशक्तिर्जन्यते न तु कृषके, भैषजपानस्थले च आकुले संस्कारः, न तु वैद्ये इति सर्वत्र संस्कारस्य भोग्यनिष्ठत्वम् अत एव भोग्यनिष्ठ एव संस्कारः स्वीकार्यः नात्मनिष्ठः।

६. व्रीह्यादीनाम् आपरमाणुभङ्ग प्रलयानन्तरं पुनर्व्रीह्यादि उत्पत्त्यर्थं परमाणुषु व्रीहियवादिसंस्काररूपेण भेदोऽङ्गिकार्यः अन्यथा सदृशैः परमाणुभिः विजातीयानाम् व्रीहियवादीनाम् उत्पत्तिर्नावकल्प्येत् इति पूर्वपक्षः।

अत्रोत्तरम्—

१. "संस्कारः पुंस एव इष्टः प्रोक्षणाभ्युक्षणादिभिः" अयं भावः प्रोक्षणादिभिः पुंसि एव संस्कार इष्टः मन्तव्यः स्वीकर्तव्यः प्रतिव्रीहिनानासंस्कारकल्पनापेक्षया पुरुषनिष्ठस्य एकस्यैव संस्कारस्य कल्पने लाघवात्।

२. यो यद्गतफलार्थितया क्रियते स तन्निष्ठफलजनकव्यापारजनक इति तु शत्रुनिष्ठ-वधादिरूपफलजनकतया क्रियमाणे स्वनिष्ठफलजनके च श्येनादौ व्यभिचारी।

३. यत्तु व्रीहीन् प्रोक्षति इत्यत्र कर्मत्वबलात् व्रीहिनिष्ठसंस्कारस्य कल्पनं तदप्यसंगतम् अत्र प्रोक्षणरूपा क्रिया परसमवेता क्रिया तज्जन्यञ्च फलं न संस्काररूपं किन्तु जलसंयोग-रूपं तदाश्रयतयैव व्रीहीणां कर्मत्वं यथा सक्तून् प्रोक्षति इत्यस्मिन् लौकिके प्रयोगे संस्कारा-भावेऽपि प्रोक्षणरूपाया परसमवेतक्रियाया जलसंयोगरूपं फलम् आश्रित्यैव सक्तून् इत्यत्र कर्मत्वम्।

४. संस्कृतो व्रीहि इत्यत्र स्वरूपसम्बन्धेनैव संस्कारस्य व्रीहिनिष्ठत्वम् समवाय-सम्बन्धेन तु आत्मनिष्ठत्वमेव संस्कारस्य स्वरूपसम्बन्धश्च वृत्त्यनियामकः सम्बन्धः।

५. कृषिस्थले भैषजपानस्थले च भूमिमार्दवं धातुसाम्यं च दृष्टमेव द्वारं फलजनकमिति न तत्र अदृष्टकल्पना दृष्टद्वाराभावे एव अदृष्टकल्पनायाः न्याय्यत्वात् ।

६. व्रीहियवादिनियमार्थं परमाणुषु पाकजादयः स्वगुणा एव 'विशेषकाः' भेदका इत्यर्थः । एवं संस्कारस्य भोग्यनिष्ठत्वं साधयितुं यत् युक्तिषट्कं पूर्वपक्षिणा उपन्यस्तम् तत्सर्वमपि निरस्तम् । (का० १-११)

पुनरपि संस्कारस्य भोग्यनिष्ठत्वं निराकरोति (का० १-१२)—

संस्कारस्य भोग्यनिष्ठत्वसाधनाय अस्यां कारिकायाम् अपि पूर्वपक्षिणा पुनर्हेतुद्वयमुपन्यस्तम् यत्र जलादौ न पाकजरूपादयः, तत्र यौ उद्भवानुद्भवौ करकादौ च दृश्येते तदर्थं परमाणुषु द्रवत्वस्य जले संस्कारः स्वीकार्यः इति पूर्वपक्षस्य आशयः तन्निराकरणाय निमित्तभेदसंस्कारसंसर्गाद् उद्भवानुद्भवादयः इति कारिकायामुक्तम् निमित्तभेदः अदृष्टविशेषः अदृष्टवत् आत्मविशेषसम्बन्ध इत्यर्थः येनार्थेन यस्योपभोगो भवति तस्यादृष्टमपि तत्र कारणं भवति अत एव अदृष्टवत् आत्मविशेषसम्बन्धादेव क्वचित् जलादौ द्रवत्वस्य उद्भवः क्वचिच्च करकादौ द्रवत्वानुद्भव इति न भोग्यनिष्ठः संस्कारः किन्तु आत्मनिष्ठ एव संस्कारः द्रवत्वस्य उद्भवानुद्भवे हेतुः ।

प्रतिष्ठाविधिना प्रतिमादौ संस्काराधानात् **प्रतिमा पूज्यतां याति** इत्युदाहरणबलात् पूर्वपक्षिणा संस्कारस्य भोग्यनिष्ठत्वं साधयितुं द्वितीया युक्तिः प्रस्तुता तन्निराकरणाय 'देवतासन्निधानेन प्रत्यभिज्ञानतोऽपि वा' इत्यादि कारिकायामुक्तं देवता-देवप्रतिमा इत्यर्थः, प्रतिष्ठाविधिना न देवप्रतिमादौ संस्कारः कश्चित् अपि तु तदधिष्ठातृदेवतायां प्रतिमाविषयकः अहङ्कारो ममकारो वा जन्यते, 'सन्निधानेन' इत्यस्य अहङ्कार इत्यर्थः 'प्रत्यभिज्ञानतो'ऽपि वा इत्यनेन च ममकारो ग्राह्यः प्रतिष्ठाविधिना देवतायाम् अहङ्कारममकारौ जन्येते तावेव पूज्यतां नियामकौ न तु प्रतिमानिष्ठः कश्चित् संस्कारः । देवताचैतन्यविवादे च चाण्डालादिस्पर्शाभावविशिष्टयथार्थपूजितत्वधीप्रतिष्ठितत्वबुद्धिश्च पूज्यता नियामिका । (का० १-१२)

संस्कारस्य भोग्यनिष्ठत्वं पुनरपि निराकरोति (का० १-१३)—

संस्कारस्य भोग्यनिष्ठत्वसाधनायैव पूर्वपक्षिणा तुलापरीक्षाया निदर्शनं प्रस्तुतं परीक्षाविधिना तुलायां कश्चित् संस्कारो जन्यते तेन च तुलायाः नमनोन्नमनं भवति अतो भोग्यनिष्ठ एव संस्कारोऽभ्युपगन्तव्य इति पूर्वपक्षस्याशयः । सिद्धान्तपक्षे च परीक्षाविधिना तुलादौ कश्चिदपि संस्कारो न जन्यते अपि तु परीक्ष्यसमवेतस्य जयनिमित्तस्य धर्मस्य पराजयनिमित्तस्य वा अधर्मस्य 'वृत्तिलाभाय' सहकारिलाभाय परीक्षाविधयो मताः सहकारि च अहं पापवान् निष्पापो वा इति ज्ञानम् । यत्र तु निष्पापः पुरुषः परीक्षायां नियुज्यते तत्र मुख्यकारणस्य धर्मस्याभावे सहकारिज्ञानेन किमपि प्रयोजनं न सिद्ध्यति पक्षान्तरे 'वृत्तिलाभाय' इत्यस्य 'जननाय' इत्यर्थोऽङ्गीक्रियते प्रतिज्ञानुरूपां शुद्धिमपेक्ष्य परीक्षाविधिना तत्र धर्मजननात् इत्यर्थः । (का० १-१३)

साङ्ख्यमतनिराकरणम् (का० १–१४)—

अस्यां कारिकायां साङ्ख्यमतं निराकरोति कारिकाकृतसाङ्ख्यसिद्धान्ते कृति-भोगादयो धर्माः बुद्धिनिष्ठाः सा च अचेतना, पुरुषश्च चेतनः, कर्तृत्वभोक्तृत्वादिधर्मरहिताः किन्तु कृतिचैतन्ययोः वैयधिकरण्यप्रतिपादकः साङ्ख्यसिद्धान्तोऽयं न समीचीनः इति कारिकायां प्रदर्शितम् । न्यायसिद्धान्ते इच्छा-प्रयत्न-भोग-चैतन्यरूपाश्चत्वारोऽपि धर्माः समानाधिकरणा आत्मनिष्ठाः भवन्ति इति कारिकायाः पूर्वार्द्धभागे—

'कर्तृधर्मानियन्तारश्चेतिता च स एव नः' ।

इत्यनेन प्रदर्शितम् । कर्तृधर्माः = कृतिसमानाधिकरणाः इच्छादयः धर्माः नियन्तारः भोगस्य नियामकाः । यः इच्छति स एव यतते स एव युङ्क्ते स एव च चेतनः, इति भावार्थः । अन्यथा साङ्ख्याभिमते कृतिचैतन्ययोर्वैयधिकरण्ये अनपवर्गः स्यात् इत्येकं दूषणम् । अथवा असंसारः इत्यपरं दूषणम् । साङ्ख्यमते कृतिभोगादयो धर्माः बुद्धिनिष्ठाः बुद्धिपुरुषसम्बन्धो पुरुषे आरोपितसद्भावे सति भवन्ति । सा चेत् बुद्धिर्नित्या बुद्धिपुरुषयोरुभयोरपि नित्यत्वात् तयोर्नित्यः सम्बन्धः सम्बन्धस्य नित्यत्वाच्च नित्यो भोग इति अनपवर्गः प्रसक्तः बुद्धिश्चानित्या चेत् तर्हि सा उत्पन्ना वाच्या उत्पत्तेश्च पूर्वं तस्या अभावो वक्तव्यः बुद्ध्यभावे च न तन्निष्ठा अदृष्टादयो धर्मा स्युः अदृष्टाभावे च कथं संसारः इति बुद्धि-नित्यत्वपक्षे अनपवर्गः स्यात् बुद्ध्यनित्यत्वपक्षे च असंसारः स्यात् इत्युभयतः पाशा-रज्जूः तस्मात् कृतिचैतन्ययोर्वैयधिकरण्यप्रतिपादकः साङ्ख्यसिद्धान्तोऽयं न समीचीन इति ग्रन्थकारस्य अभिप्रायः । (का० १–१४)

चार्वाकस्य शरीरचैतन्यवाद निराकरोति (का० १–१५)—

पूर्वकारिकासु अदृष्टं न भोग्यनिष्ठं किन्तु आत्मनिष्ठमेव इति बह्वीभिर्युक्तिभिः साधितम् तदङ्गीकृत्य चार्वाकः पुनरप्याह भवतु चैतन्येऽदृष्टं किन्तु चेतनो न नित्यविभुः अपि तु शरीरमेव चेतनं तदेव च अदृष्टाधिकरणम् इति अस्य सिद्धान्तस्य निराकरणायेयं कारिका प्रारभ्यते, शरीरस्य चैतन्ये बाल्यदृष्टस्य यौवने स्मरणं न स्यात् बालयौवनशरीरयोर्भेदात् इति कारिकाया प्रथमचरणे 'न्यायदृष्टं स्मरत्यन्यः' इत्यादिना उक्तं यथा चैत्रेण दृष्टं अर्थं मैत्रो न स्मरति उभयोः भिन्नत्वात् । एवं बालशरीरेण दृष्टं यौवनशरीरं न स्मरति उभयोर्भिन्नत्वात् ।

अत्र चार्वाकः पुनः 'सोऽयं देवदत्तः' इति प्रत्यभिज्ञाबलेन बाल्ययौवनशरीरयोरेकत्वं प्रतिपादयति । तन्निराकरणाय कारिकायाः द्वितीयचरणे 'नैकंभूतमपक्रमात्' इत्युक्तम् भूतं बाल्ययौवनयोर्भौतिकं शरीरमित्यर्थः अपक्रमात् पूर्वशरीरविनाशात्, परिमाणभेदेन बाल्ययौवनयोः शरीरभेदादित्यर्थः । परिमाणनाशस्य आश्रयनाशजन्यत्वात् बाल्यशरीर-परिमाणनाशेन तदाश्रयस्य बाल्यशरीरस्यैव नाशाभ्युपगमात् ।

अत्र चार्वाकः पुनः कारणेन अनुभूतस्य कार्येण स्मरणमुपपन्नमिति शंक्यते । तन्निराकरणाय कारिकायास्तृतीयश्चरणः, 'वासनासंक्रमो नास्ति' न हि कारणस्य वासना

कार्ये समायाति अन्यथा मात्रानुभूतस्य गर्भस्थेन स्मरणं स्यात् इति बाल्यशरीरस्य यौवनशरीरे वासना संक्रमो न सम्भवतीति अतो बाल्ये दृष्टस्य यौवने स्मरणं न सम्भवति। अत्र पुनश्चार्वाकः उपादानवासनाया उपादेयसंक्रमम् अभ्युपेत्य बाल्यदृष्टस्य यौवने स्मरणम् उपपादयति तन्निराकरणाय 'न च गत्यन्तरं स्थिरे' इति कारिकाया-श्चतुर्थश्चरणः स्थिरे स्थिरपक्षे पुञ्जात्पुञ्जान्तरोत्पत्तेरभावात् करचरणादयः अवयवा एव शरीरस्य उपादान भूता वक्तव्याः, ततश्च विच्छिन्ने करादौ तदनुभूतस्य खण्डितशरीरे स्मरणं नोपपद्येत् विच्छिन्नकरादेः खण्डितशरीरे अनुपादानत्वात् तस्मात् शरीरस्य चैतन्यवादे बाल्यदृष्टस्य यौवने स्मरणं बाल्ये कृतस्य यौवने भोगश्च नोपपद्येत् इति चार्वाकाभिमतो शरीरचैतन्यवादोऽनुपपन्नः। (का० १–१५)

'बौद्धाभिमतस्य क्षणभङ्गवादस्य निराकरणम्' (का० १–१६)—

अस्यां कारिकायां बौद्धाभिमतः क्षणभङ्गवादो निराकृतः क्षणभङ्गवादस्य निराकरणात् पूर्वं तदनुवादः कार्यः। तथाहि बौद्धा सत्त्वं हेतुत्वेनाश्रित्य 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् जलधर-पटलवत्' इत्यनुमानेन क्षणिकत्वं साधयन्ति तत्र 'सत्तासामान्ययोगित्वं सत्त्वमिति' न्यायमते सत्त्वस्य लक्षणं, तच्च बौद्धैर्नाभ्युपगम्यते सत्तासामान्यस्यैव तैरनङ्गीकारात् नैयायिकानां सत्तासामान्यं नित्यं तत्त्वं बौद्धास्तु क्षणभङ्गवादिना इति नित्यं सत्ता-सामान्यं न मन्यन्ते अतः 'सत्तासामान्यं योगित्वं सत्त्वम्' इति सत्त्वलक्षणं निराकृत्य 'अर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वमिति' सत्तासामान्यलक्षणं वदन्ति तच्च अर्थक्रियाकारित्वं क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्तं यत्र यत्र अर्थक्रियाकारित्वं तत्र तत्र क्रमः यौगपद्यं वा इति क्रम-यौगपद्ये व्यापके अर्थक्रियाकारित्वं च व्याप्यं 'व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यस्यापि निवृत्तिरिति' नियमानुरोधात् स्थिरात् घटात् व्यावर्त्यमाने क्रमयौगपद्ये व्याप्यम् अर्थक्रियाकारित्वमपि व्यावर्तयतः। यदि तु स्थिरे घटे क्रमशः अर्थक्रियाकारित्वं स्वीक्रियते तर्हि एकस्मिन् क्षणे एकस्याः क्रियायाः कर्तृत्वम् अन्यासां च क्रियाणामकर्तृत्वमिति घटे कर्तृत्वाकर्तृत्वरूपयोः विरुद्धयोः धर्मयो सङ्करः स्यात् तद्भयात् क्रमशः क्रियाकारित्वं न सम्भवति। युगपच्चेत् अर्थक्रियाकारित्वमङ्गीक्रियते तर्हि एकस्मिन् क्षणे सहैव सर्वक्रियाणां सम्पादनात् कर्तृत्वं क्षणान्तरेषु च अकर्तृत्वमिति पुनरपि विरुद्धधर्मप्रसङ्गः अतः स्थिरे घटे अर्थक्रियाणां क्रमो यौगपद्यं वा इत्युभयमपि अनुत्पन्नम्। अतः स्थिरात् घटात् व्यावर्त्यमाने व्यापके क्रमयौगपद्ये व्याप्यमर्थक्रियाकारित्वमपि व्यावर्तयतः। अथ च अर्थक्रियाकारित्वं प्रतीयते। तच्च स्थिरे घटे अनुपपन्नमिति क्षणिके घटे विश्राम्यति एवं बौद्धानां मते क्षणभङ्गवादस्य सिद्धिः, तन्निराकरणाय अस्याः कारिकाया आरम्भः 'न वैजात्यं विना तत् स्यात्' क्षणभङ्गवादे अङ्कुरकरवद्रूपत्वं वैजात्यं कुशूलस्थात् बीजात् क्षेत्रस्थस्य बीजस्य भेदकम्। वैजात्यं विना क्षणभङ्गवादस्य अनुपपत्तिरिति 'न वैजात्यं विना तत्स्यात्' इत्यस्य प्रथमचरणस्याभिप्रायः। तस्मिन् वैजात्ये स्वीक्रीयमाणे 'चानुमा'नुमितिर्न भवेत् अनुमाने व्याप्तिग्रहस्य, व्याप्तिग्रहे च धूमसामान्यवह्निसामान्ययोः कार्यकारणभावस्य अपरि-

हार्यत्वात्। वैजात्याङ्गीकार्ये च न वह्निसामान्यस्य धूमं सामान्यं प्रति हेतुता अपि तु धूमकुर्वद्रूपत्वविशिष्टस्य वह्निविशेषस्य धूमविशेषं प्रति हेतुता। इति व्याप्तिग्रहासम्भवात् वैजात्यपक्षे अनुमानं न भवेदिति ('न तस्मिन्ननुमा भवेत्' इति) कारिकाया द्वितीय-चरणस्याभिप्रायः क्षणभङ्गवादस्य 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् जलधरपटलवत्' इत्यनुमानमात्र-साध्यत्वात् अनुमानलोपे क्षणिकत्वसिद्धिरपि न सम्भवतीति 'विना तेन न सिद्धिः' तेन अनुमानेन विना तत्सिद्धिः क्षणिकत्वसिद्धिः न सम्भवतीति तृतीयचरणस्याभिप्रायः।

अत्र बौद्धः ब्रूते यत् अनुमानाभावेऽपि प्रत्यक्षस्य वर्तमानमात्रग्राहकत्वात् वर्तमानत्वस्य च एकक्षणवृत्तित्वात् प्रत्यक्षेणैव क्षणिकत्वसिद्धिः। अतोऽनुमानलोपेऽपि न क्षणिकत्ववादस्य काचित् क्षतिः। अस्य पूर्वपक्षस्य निवारणार्थं ('नाध्यक्षं निश्चयं विना') इति कारिकायाश्चतुर्थश्चरणः निश्चयं क्षणिकत्वविषयकं सविकल्पकं विना अध्यक्षं क्षणिकत्वविषयकं निर्विकल्पकमपि न सम्भवतीति न प्रत्यक्षेण नाप्यनुमानेन क्षणिकत्वसिद्धिः अतः क्षणिकत्ववादः सर्वथैव अप्रामाणिक इति ग्रन्थकारस्याभिप्रायः। (का० १-१६)

बौद्धाभिमतस्य क्षणभङ्गवादस्य प्रकारान्तरेण निराकरणम् (का० १-१७)

बौद्धाः क्षणभङ्गवादिनाः नैयायिकाश्च तद्विरोधिनः इति तयोर्विप्रतिपत्तिजन्यः क्षणिकत्वविषये सन्देहः, न तु क्षणिकत्वनिराकरणमिति बौद्धस्य पूर्वपक्षः। तन्निराकरणाय अस्याः कारिकाया आरम्भः तत्र किं—(१) घटस्य स्थैर्यविषये सन्देहः ? (२) आहोस्वित् स्थैर्यज्ञानस्य ग्रहणविषये सन्देहः ? (३) आहोस्वित् प्रामाण्यविषये सन्देहः इति त्रयः पक्षाः। तत्र (१) न स्थैर्ये सन्देहः सम्भवति 'सोऽयं घटः' इति प्रत्यभिज्ञया घटस्थैर्यस्य ग्रहीतत्वात्। (२) न च प्रत्यभिज्ञया ग्रहणे सन्देहः 'घटं प्रत्यभिजानामि' इत्यनुव्यवसायेन प्रत्यभिज्ञाया विषयकरणात् (३) प्रामाण्ये सन्देहः इति तृतीयः पक्षः तत्रापि (१) किं ज्ञानमात्रस्य प्रामाण्ये सन्देहः (२) आहोस्वित् प्रत्यभिज्ञानस्य प्रामाण्ये सन्देहः तत्र न ज्ञानमात्रस्य प्रामाण्ये सन्देहः विरोधात्। ज्ञानमात्रस्य प्रामाण्यनिश्चये सन्देह-ज्ञानस्यापि प्रामाण्यमनिश्चितमिति सन्देहवादे विरोधः, अतो न ज्ञानमात्रस्य प्रामाण्ये सन्देहः इति कारिकायाः पूर्वार्धेन त्रयः पक्षाः निराकृताः। 'स्थैर्यदृष्ट्योर्न सन्देहः' न प्रामाण्ये विरोधितः इति घटस्थैर्ये न सन्देहः प्रत्यभिज्ञया तस्य विषयिकरणात् दृष्टापि न सन्देहः अनुव्यवसायेन तद् ग्रहणात, प्रामाण्यमात्रेऽपि न सन्देहः विरोधादिति अन्ततः प्रत्यभिज्ञा-प्रामाण्ये सन्देह इति चतुर्थः पक्षोऽवशिष्यते, तन्निराकरणाय कारिकाया उत्तरार्धः प्रारभ्यते।

प्रतिभिज्ञाप्रामाण्यसन्देहस्य अयमाशयः—यथा 'लूनपुनर्जातकेशेषु' 'तयेव अमी-केशा' इति सादृश्यवशात् भिन्नेष्वपि केशेषु 'तयेवामी' इति प्रत्यभिज्ञानम्। एवं भिन्नेष्वपि घटेषु सोऽयं घटः इति सादृश्यमूलकं मिथ्याज्ञानम्। घटस्य अभेदे तु घटे न विधीयमानानामर्थक्रियाणां क्रमशः यौगपद्ये वा कर्तृत्वाकर्तृत्वरूपौ विरुद्धौ धर्मौ प्रसज्येतामिति पूर्वमुक्तम्। अतो न घटस्य स्थैर्यमिति क्षणभङ्गवादनिराकरणपरायां पूर्वकारिकायां पूर्वपक्षिणा बौद्धेन प्रतिपादितं बौद्धस्य तामेव वाचोयुक्तिमवलम्ब्य अत्र घटस्य स्थैर्यमेकत्वं च साध्यते 'एकतानिर्णयो येन क्षणे तेन स्थिरे मतः' येन विरुद्धधर्मसंसर्ग-

राहित्यरूपेण प्रमाणेन क्षणे क्षणिके घटे एकतानिर्णयः क्रियते तेनैव विरुद्धधर्मसंसर्गराहित्यरूपेण प्रमाणेन स्थिरे स्थिरपक्षेऽपि एकतानिर्णयः कार्यः। अयंभावः—क्षणिकेऽपि घटे तद्देशवृत्तित्वं तत्कालवृत्तित्वं च अवश्यमेवाभ्युपेयम्, एकस्य क्षणिकस्य घटस्य कालदेशरूपाश्रयद्वयवृत्तित्वे विरोधात् क्षणिकेऽपि घटे पुनर्भेदो भवेत्। तन्निराकरणाय बौद्धोऽनयोः धर्मयोर्विरोधाभावं स्वीकरोति। एवमेव कर्तृत्वाकृत्वरूपयोः उभयोः धर्मयोः कालभेदेन एकस्मिन्नर्थे देशभेदे च एकस्मिन् कालेऽपि सम्भवात् अविरोधः। अतो यथा विरुद्धधर्मसंसर्गराहित्यरूपेण प्रमाणेन भवता बौद्धेन क्षणिके घटे एकतानिर्णयः क्रियते, तेनैव विरुद्धधर्मसंसर्गराहित्यरूपेण प्रमाणेन स्थिरेऽपि घटे एकतानिर्णयः कार्यः। अतः क्षणभङ्गवादो नोपपन्नः। (का० १-१७)

कारणत्वमुपपादयति (का० १-१८)—

पूर्वकारिकासु आत्मनिष्ठेऽलौकिकपरलोकसाधनभूते अदृष्टे साधितेऽपि चार्वाकः पुनः कारणत्वनिराकरणाय पूर्वपक्षमुत्थापयति। तत्र कारणत्वं स्वाभाविकमौपादिकं वा कारणस्य स्वाभाविकत्वे दोषत्रयं भवति। यथा नीलस्य स्वाभाविकत्वे सर्वान् प्रत्यविशेषात् सर्वत्र नीलव्यवहारः, एवं कारणस्य स्वाभाविकत्वे सर्वान् प्रत्यविशेषात् सर्वं सर्वस्य कारणं स्यात् इत्येको दोषः, उत्पत्तेरारभ्य कार्यं स्यात् इति च द्वितीयो दोषः; कारणस्य औपादिकपक्षे च उपाधेः स्वाभाविकत्वमौपादिकत्वं वा इति द्वौ विकल्पौ, तत्र उपाधेः स्वाभाविकत्वे कारणत्वस्य स्वाभाविकत्वं पर्यवस्यति, तथा च पूर्वोक्तं दोषद्वयं तदवस्थमेव, औपादिकत्वे च अनवस्थाप्रसङ्गः तस्मात् कारणत्वं न स्वाभाविकं न औपादिकमिति कपोलकल्पितमपारमार्थिकं च।

किं च कारणत्वस्य पारमार्थिकत्वसाधनाय साधारणत्वमपि वक्तव्यं 'यत् पारमार्थिकं तत् साधारणमि'ति न्यायात्। साधारणे च तन्त्वादीनां कारणत्वे सर्वं सर्वस्य कारणं स्यात् इति पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गः, असाधारणे च 'यन्न साधारणं न तत्पारमार्थिकं' यथा स्वप्नदृष्टं वस्तु, असाधारणं स्वप्नदृष्टं वस्तु अनेकैः पुरुषैः गृह्यमाणं न भवति इति तत्पारमार्थिकमपि न भवति इति कारणत्वं यदि न साधारणं न पारमार्थिकं केवलं स्वबुद्धिकल्पितमिति पूर्वपक्षस्याभिप्रायः।

एवं पूर्वपक्षे प्राप्ते तन्निराकरणाय 'हेतुशक्तिमनादृत्य नीलाद्यपि न वस्तु सत्' इति कारिकायाः पूर्वार्द्धः हेतुशक्तिं कारणत्वमनादृत्य अस्वीकृत्य नीलाद्यपि उदाह्रियमाणं वस्तु न सत् सिध्यति। अयम्भावः—भवता पूर्वपक्षिणा स्वपक्षसाधने नीलाद्युदाहरणरूपेण प्रस्तुतम्। पूर्वपक्षिणः नित्यस्य कस्यापि पदार्थस्य अनङ्गीकारात् अनित्यमेव नीलमुदाहरणरूपेण प्रस्तुतमिति निश्चितम्। कारणाभावे च अनित्यनीलस्य कथमुत्पत्तिः तदभावे च कथं भवतां पक्षसिद्धिः, इति अकामेनापि भवता पूर्वपक्षिणः कारणत्वमभ्युपेयम्।

'कारणत्वस्य स्वाभाविकत्वे उत्पत्तेरारभ्य कार्यं स्यात्' इति यो दोष उक्तः, तन्निराकरणाय 'तदुक्तं तत्र तच्छक्तमि'ति कारिकायाः तृतीयश्चरणः, तदुक्तं सहकारियुक्तं तत्कारणं

तत्र कार्ये शक्तं सहकारियुक्तमेव कारणं कार्यजनने समर्थमित्यर्थः, अत उत्पत्तेरारभ्य कार्यं स्यादिति दोषो नोपपद्यते ।

कारणत्वस्य स्वाभाविकत्वे साधारणे च सर्वं सर्वस्य कारणं स्यात् इति यो दोषः उक्तः, सोऽप्यसङ्गतः 'नीलं स्वाभाविकं साधारणं वा' इत्यस्य एतावानेवाभिप्रायः यः कश्चिदपि नीलम् पश्यति, स तत्र नीलव्यवहारं करोति सर्वं नीलं स्यात् इति तु तस्य नाभिप्रायः अन्यथा पीतमपि नीलं स्यात् एवं कारणत्वं स्वाभाविकं साधारणं वा इत्यस्य अयमेवाभिप्रायः यत् यः कश्चिदपि सहकारियुक्तं कारणमिच्छति स तत्र कारणव्यवहारं करिष्यति न तु सर्वं सर्वस्य कारणं स्यात् इति तस्याभिप्रायः । तदेतद् सर्वमभिप्रेत्य कारिकायाः चतुर्थश्चरणे 'इति साधारणं न किम्' कारणत्वं साधारणं 'किमिति न मन्तव्यम्' अवश्यमेव मन्तव्यमित्यभिप्रायः । (का० १-१८)

व्यापकस्य नित्यस्याऽपि तत्त्वस्य कारणत्वं साधयति (का० १-१९)—

अस्यामपि कारिकायां चार्वाकः कारणत्वनिराकरणाय प्रयतते । तत्र पूर्वपक्षे 'कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणम्' इति कारणलक्षणमभ्युपेत्य चार्वाकः अदृष्टं प्रति आत्मनोऽकारणत्वं प्रतिपादयति । तन्मते आत्मसत्त्वे अदृष्टसत्ता इति अन्वयसम्भवेऽपि आत्मनो नित्यत्वात् विभुत्वाच्च क्वापि देशे काले वा आत्माभावः सम्भवात् 'आत्माभावेऽदृष्टाभावः' इति व्यतिरेकानुपपत्तेः आत्मनोऽदृष्टं प्रति न कारणत्वम् एवं समवायिकारणभावे असमवायिनिमित्तकारणाभ्यामपि कार्यं न जन्यते इति आत्मनिष्ठमदृष्टं न आत्मजन्यम् अतो नित्यं स्वीकार्यं नित्याच्च अदृष्टात् न प्रतिनियतयोगसिद्धिः इति **'भक्षितेऽपि लसुने न शान्तो व्याधिः ।'** स्वीकृतेऽप्यात्मनिष्ठेऽदृष्टे न प्रतिनियतो योगः । अतो व्यर्थैव अदृष्टकल्पना इति पूर्वपक्षः । अस्य समाधानाय कारिकाया आरम्भः । सिद्धान्तपक्षे 'कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणम्' इति न कारणलक्षणम्, तत्स्थाने 'अनन्यथासिद्धिनियतपूर्वभावित्वं कारणमि'ति कारणलक्षणम् तच्च आत्मन्यपि सम्भवतीति आत्माऽपि भवति अदृष्टकारणम् । अत एव व्यापकस्य नित्यस्यापि आत्मनः कारणत्वं 'येन केनचित्' धर्मिग्राहकमानेन आत्मसाधकानुमानेन 'मीयते' ज्ञायते इत्यर्थः । सुखदुःखेच्छाद्वेषादिलिङ्गैरात्मनः सिद्धिर्भवति इच्छाद्वेषादीनामाधारत्वेन कारणत्वेन च तेनैव आत्मासाधकानुमानेन तस्य कारणत्वमपि सिद्धं भवति इत्युक्तं 'व्यापकस्यापि नित्यस्य' आत्मनः हेतुत्वं येन केनचित् धर्मिग्राहकमानेन मीयते इत्यर्थः, 'अन्यथा' आत्मनः कारणत्वास्वीकारे 'धर्मिधीरेव न' आत्मज्ञानमेव न सम्भवतीति भावः ।

एवं 'कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकिकारणम्' इति कारणलक्षणमभ्युपेत्य पूर्वपक्षः उत्थापितः 'अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वमि'ति कारणलक्षणमभ्युपेत्य च स पूर्वपक्षः निरस्तः ।

॥ इति प्रथमः स्तबकः ॥



द्वितीयः स्तबकः

वेदप्रामाण्यसाधनाय, ईश्वरं साधयति (का० २-१)—

अन्यथाऽपि परलोकसाधनानुष्ठानसम्भवादिति द्वितीयविप्रतिपत्तिः मीमांसकानाम्, मीमांसकाः हि वेदानुयायिनो कर्मकाण्डपराश्च सन्तोऽपि अनीश्वरवादिनः, अनीश्वरवादपक्षे च वेदस्योत्पत्तिः तत्प्रामाण्यं च नोपपद्यते इति वेदप्रामाण्यमन्तरा वैदिकेषु कर्मसु प्रवृत्तिरपि नोपपद्यते, अतः कर्मकाण्डे प्रवृत्त्युपपादनार्थं वेदस्य प्रामाण्यम्। वेदस्योत्पत्त्यर्थं प्रमाण्यार्थञ्च ईश्वरोऽवश्यमभ्युपेयः इति परलोकसाधनानां यागाद्यनुष्ठानमीश्वरापेक्षमेव इति नैयायिकानां सिद्धान्तः।

तत्र मीमांसकः प्रत्यवतिष्ठते अन्यथापि ईश्वरं विनाऽपि परलोकसाधनस्य यागादेरनुष्ठानस्य सम्भवात्, अयं भावः—यागादौ प्रवृत्त्यर्थं तत्र स्वर्गसाधनताज्ञानमिष्टसाधनताज्ञानं वा अपेक्षितम्। तच्च ज्ञानं वेदादेव भवति न ईश्वरात् वेदस्य च नेश्वरादुत्पत्तिः किन्तु नित्यो वेदः अपौरुषेयश्च नित्यत्वात् निर्दुष्टत्वाच्च वेदस्य प्रामाण्यं महाजनपरिग्रहेण च प्रामाण्यस्य ग्रह इति वेदप्रामाण्यग्रहणाय यागादिकरणे प्रवृत्त्यर्थं वा ईश्वरस्य न काचिदपेक्षा इत्युक्तम् 'अन्यथाऽपि परलोकसाधनानुष्ठानसम्भवात्' इत्यस्यामविप्रतिपत्तौ—

'प्रमायाः परतन्त्रत्वात् सर्गप्रलयसम्भवात्।
तदन्यस्मिन्नविश्वासान्न विधान्तरसम्भवः॥'

तन्निराकरणाय कारिकाया आरम्भः प्रमायाः परतन्त्रत्वात् शाब्दी प्रमा वक्तृयथार्थवाक्यार्थधीरूपगुणजन्या। गुणाधारतया च ईश्वरसिद्धिः। यच्च नित्यत्वात् वेदस्य प्रामाण्यं महाजने परिग्रहेण च तस्य ग्रहणमिति प्रतिज्ञातं तदपि 'सर्गप्रलयसम्भवात्' नोपपद्यते, प्रलयकाले वेदस्यापि नाशात् प्रलयोत्तरं सर्गादौ महाजनपरिग्रहस्याप्यभावाच्च, अतो वेदकर्तृत्वेन ईश्वरोऽवश्यमभ्युपगन्तव्यः।

योगर्धिसम्पादितसारवज्ञैः कपिलादिभिरेव कृतो वेदः इति पूर्वपक्षे आह—'तदन्यस्मिन् अविश्वासादि'ति। कपिलादयोऽसर्वज्ञाश्चेत् तेषु विश्वासो न सम्भवति इति न तत्कृतो वेदः। सर्वज्ञाश्चेत् तर्हि बहूनां वेदकर्तृत्वे गौरवात् एक एव तादृशः कल्प्यतां स च ईश्वर एव इति 'न विधान्तरसम्भवः' इत्युक्तम्। कर्मकाण्डे प्रवृत्त्युपपादनार्थमीश्वराङ्गीकारं विना न कश्चित् मार्ग इत्यर्थः। (का० २-१)

ईश्वरसिद्ध्यर्थं प्रलये बाधकान् हेतून् प्रतिक्षिपति (का० २-२)—

पूर्वस्यां कारिकायां सर्गप्रलयसम्भवादिति प्रलयस्य प्रलये सञ्जाते वेदस्यापि नाशः सृष्टेरपि च नाशः इति सृष्ट्युत्पादनार्थं वेदोपदेशार्थञ्च ईश्वरोऽवश्यमभ्युपगन्तव्यः इति

नैयायिकेनोक्तम् । तन्निराकरणाय मीमांसकोऽस्यां कारिकायां प्रलये बाधकान् उपन्यस्य प्रलयस्यैव निषेधं करोति । प्रलयाभावे न वेदोत्पादनार्थं न वा सृष्ट्युत्पादनार्थमीश्वरस्य किञ्चित् प्रयोजनमिति तस्याभिप्रायः तत्र प्रलयबाधकान् अधोऽङ्कितान् हेतून् पूर्वपक्षी मीमांसकः प्रस्तौति—

१. अहोरात्रस्य अव्यवहिताहोरात्रपूर्वकत्वं लोके दृश्यते। आद्यस्य अहोरात्रस्य अव्यवहिताहोरात्रपूर्वकत्वं न स्यादिति प्रथमं प्रलये बाधकम् ।

२. प्रलयसाधनार्थं सर्वेषां प्राणिनामदृष्टस्य युगपद् वृत्तिनिरोधोऽपेक्षितः, स च न सम्भवतीति प्रलये द्वितीयं बाधकम् ।

३. ब्राह्मणस्य ब्राह्मणपुत्रत्वनियमात् सर्गादौ ब्राह्मणाभावात् अग्रेऽपि ब्राह्मणव्यवहाराभावः इति तृतीयं बाधकम् ।

४. कलासु विद्यासु नैपुण्यं पूर्वदर्शनसापेक्षं भवति सर्गादौ तादृशस्य पूर्वदर्शनस्याभावात् तदुत्तरमपि कलादिनैपुण्यं न स्यात् इति चतुर्थं बाधकम् । अतो न प्रलयसिद्धिः इति पूर्वपक्षे प्राप्ते तन्निराकरणाय **'वर्षादिवद्भवोपाधि'** इत्यादिद्वितीयकारिकाया आरम्भः ।

१. तत्र अहोरात्रस्य अहोरात्रपूर्वकत्वे साध्ये अहोरात्रत्वात् इति यो हेतुरुपन्यस्यते स उपाधिसद्भावाद् व्याप्यत्वासिद्धो हेत्वाभासः 'साध्यव्याप्यत्वे सति साधनाव्यापकत्वमि'-त्युपाधिलक्षणम् । अत्र अहोरात्रत्वरूपे हेतौ भवकाल उपाधिः, अहोरात्रपूर्वकत्वमत्र साध्यम्, अहोरात्रत्वादिति च हेतुः। भवकालश्चोपाधिः यत्र यत्र अहोरात्रपूर्वकत्वं तत्र तत्र अवश्यं भवकाल इति साध्यव्यापकत्वं, यत्र यत्र अहोरात्रत्वं तत्र तत्र भवकालसम्बन्धः इति न इति साधनाव्यापकत्वम्। इत्युक्तं 'वर्षादिवत् भवोपाधिः'। यथा वर्षादिनस्य अव्यवहितवर्षादिनपूर्वकत्वे साध्ये राशिविशेषावच्छिन्नकाल उपाधिः एवम् अव्यवहिताहोरात्रपूर्वकत्वे साध्ये संसारः अवच्छेदककालोपाधिः ।

२. युगपत् सर्वप्राणिनामदृष्टस्य वृत्तिनिरोधे या अनुपपत्तिर्दर्शिता, सा सुषुप्तिकाले कतिपयव्यक्तिनिष्ठभोगजनकादृष्टनिरोधवत् कालविशेषे समस्तमात्मनामदृष्टस्य युगपत् वृत्तिनिरोधसम्भवात् अनुपपन्नः । तदुक्तं 'वृत्तिनिरोधः सुषुप्तिवत्' यथा सुषुप्तिकाले बहूनां प्राणिनां युगपदेव अदृष्टस्य वृत्तिनिरोधो भवति । एवम् प्रलयकाले सर्वेषामपि प्राणिनां युगपद् वृत्तिनिरोधः सम्भवति ।

३. यश्च ब्राह्मणादिवर्णव्यवहारः प्रलये बाधको दर्शितः तन्निरासाय 'उद्भिद्वृश्चिकवद् वर्णाः' इत्युक्तं यथा वृश्चिकस्य वृश्चिकात् गोमयाच्च, एवं सृष्टिकाले ब्राह्मणात् ब्राह्मणस्योत्पत्तिः सर्गादौ तु अदृष्टादेव ब्राह्मणोत्पत्तिः न ब्राह्मणादिवर्णव्यवहाराभावः प्रलये बाधकः ।

४. यच्च विद्याकलादिनैपुण्यं पूर्वदर्शनसापेक्षं प्रलयाभ्युपगमे न स्यात् इति बाधकमुपन्यस्तं तन्निराकरणायाह 'मायावत् समयादयेति' । यथा—मायिकः काष्ठपुत्तलि-

कादिकं सूत्रसञ्चाराधिष्ठितं कृत्वा सर्वं कर्म कारयति एवं सृष्ट्यादौ परमात्मा सर्वमपि विद्याकलादिकं शिक्षयति । अतः प्रलये न कश्चिदपि बाधकः इति ग्रन्थकारस्याभिप्रायः ।

(का० २-२)

प्रलयसाधकान् हेतून् दर्शयति (का० २-३)—

जन्मसंस्कारविद्यादीनां क्रमशो ह्रासो दृश्यते तेन अनुमीयते यत्कालान्तरे वेदादिसम्प्रदायोऽयमत्यन्तमुच्छिद्यते ह्रसमानत्वात् पूर्वं मानस्यः प्रजाः, ततः पुत्रकाममात्रप्रयुक्तमैथुनजाः, इदानीं कथञ्चिदिति । पूर्वं चरुप्रभृतिषु संस्कारः, ततो गर्भे, इदानीं कथञ्चिदिति संस्कारह्रासः । पूर्वं चतुर्णां वेदानामध्ययनं ततः एकैकस्याः शाखायाः ततः शास्त्रादीनाम्, इदानीं तत्राप्यप्रवृत्तिः, इति विद्याह्रासः । आदिपदात् धर्मविद्यावृत्त्यादीनां संग्रहः पूर्वं चतुष्पादधर्मः कलौ तु स्खलत्तद्धानैकपादः इति धर्मह्रासः एवं शक्तेः स्वाध्यायस्य कर्मणां च प्रतिदिनं ह्रासः, एतेषां सर्वेषां ह्रासदर्शनात् वेदादिसम्प्रदायस्योच्छेदे प्रलये सति च पुनः सृष्ट्युत्पादनार्थं वेदोपदेशार्थं च ईश्वरोऽवश्यमभ्युपगन्तव्यः । इति नैयायिकानां सिद्धान्तपक्षः ।

॥ इति द्वितीयः स्तबकः ॥



तृतीयः स्तबकः

अनुपलब्धेरीश्वराभावसाधकत्वं निवारयति (का० ३-१)—

तदभावावेदकप्रमाणसम्भवादिति तृतीयविप्रतिपत्तिर्बौद्धानां तन्निराकरणाय तृतीय-स्तबकस्यारम्भः। तत्र सर्वतः प्राक् अनुपलब्धेरभावावेदकत्वमुत्थाप्य निराक्रियते। पूर्वपक्षे यथा भूतले घटस्याऽनुपलब्ध्या घटाभावो निश्चीयते। एवमीश्वरस्याऽनुपलब्ध्या ईश्वराभावो निश्चितः इति पूर्वपक्षः। सिद्धान्ते तु न अनुपलब्धिरभावसाधिका, किन्तु योग्यानुपलब्धिः। अनुपलब्धिमात्रस्य अभावसाधकत्वे तु आकाशधर्माधर्मादिकस्य अतीन्द्रियमात्रस्य विलोपः स्यात्। अतो नानुपलब्धिरभावसाधिका, किन्तु योग्यानुपलब्धिः। 'योग्यस्य प्रत्यक्ष-योग्यस्य अनुपलब्धिः' अभावसाधिका सा च ईश्वरे न घटते ईश्वरस्य प्रत्यक्षायोग्यत्वात् इति न अनुपलब्ध्या ईश्वराभावः सिद्धयति।

अत्र पूर्वपक्षी शङ्कते, यदि अनुपलब्धिर्नाभावसाधिका तदा शशश्रृङ्गस्यापि प्रत्यक्षा-योग्यत्वात् अनुपलब्ध्या तदभावो न भविष्यति। अत्र श्रृङ्गं प्रत्यक्षयोग्यमेव तस्य शशे सम्बन्धाभाव एव प्रतीयते। यथा भूतले घटो नास्ति इत्यत्र भूतले घटसम्बन्धाभावः। अतः प्रत्यक्षयोग्यस्य श्रृङ्गस्य शशे अनुपलब्ध्या तदभावः सिद्ध एव इति समाधानः।

अत्र पूर्वपक्षी शशश्रृङ्गं प्रत्यक्षयोग्यं पदार्थान्तरं मत्वा पुनः शङ्कते। प्रत्यक्षायोग्यस्य शशश्रृङ्गस्य कथं बाधनं भविष्यति। अनुपलब्धेरेव अभावसाधकत्वे तु शशश्रृङ्गस्याभावः सिद्धयति। योग्यानुपलब्धेस्तु अभावसाधकत्वे तदभावो न सिद्धयति इति पूर्वपक्षस्याशयः, तत्समाधानाय 'क्वायोग्यं बाध्यते श्रृङ्गम्' इति कारिकाया तृतीयश्चरणः अयोग्यं शशश्रृङ्गं न बाध्यते, किन्तु तत्र साधकाभाव एव तदभावे प्रमाणं, न चात्र ईश्वरे साधकाभावः पञ्चमस्तबके ईश्वरसाधकहेतूनां वक्ष्यमाणत्वात्।

ईश्वरो नास्ति 'ईश्वरः न क्षित्यादिकर्ता शरीरसम्बन्धाभावात् प्रयोजनाभावाच्च' इत्य-नुमानमपि नोपपन्नं पक्षभूतस्य ईश्वरस्यासिद्धत्वात् हेतोराश्रयासिद्धत्वेन असाधकत्वात् इत्युक्तं 'क्वानुमानमाश्रयमिति।' (का० ३-१)

अनुमानस्य अनुपलब्धेश्च ईश्वरबाधकत्वं निवारयति (का० ३-२)—

शशश्रृङ्गं नास्ति इत्यत्र प्रत्यक्षयोग्यस्य श्रृङ्गस्य शशे सम्बन्धाभाव एव साध्यते किन्तु पूर्वपक्षी यदि शशश्रृङ्गं पदार्थान्तरं मन्यते तदा तस्यापि प्रत्यक्षयोग्यत्वं योग्यता चात्र दुष्टोपलम्भसामग्री घटिता तस्यां च सत्यां शशश्रृङ्गस्यापि ग्रहणं भविष्यत्येव इत्युक्तम्—

'दुष्टोपलम्भसामग्री शशश्रृङ्गादियोग्यता।'

'न तस्यां नोपलम्भोऽस्ति', तस्यां दोषघटितसामग्र्यां सत्याम् अनुपलम्भो नास्ति, अवश्यम् उपलम्भ इति भावः 'नास्ति सानुपलम्भने' यदि शशश्रृंगस्य उपलम्भो न भवति तदा सा दोषघटिता उपलम्भसामग्री नास्तीति मन्तव्यम्।

एवमनुपलब्धेर्नाभावसाधकत्वं किन्तु योग्यानुपलब्धेरेव अभावसाधकत्वमीश्वरस्य च प्रत्यक्षायोग्यत्वात् नानुपलब्धिमात्रात् तदभावसिद्धिरिति सिद्धान्तपक्षस्याशयः। (का० ३-२)

अनुमानस्य ईश्वरबाधकत्वं निवारयति (का० ३-३)—

पूर्वपक्षिणः 'ईश्वरो नास्ति' 'ईश्वरः कर्तृत्वाभाववान्' वा 'शरीरसम्बन्धाभावात् प्रयोजनाभावाच्च' इत्यनुमानद्वयमुपन्यस्तमासीत्। तच्च अनुमानद्वयमाश्रयासिद्धत्वात् पूर्वकारिकायां निरस्तम्। तत्र आश्रयासिद्धिवारणाय असत्ख्यात्युपनीतं भ्रमसिद्धमीश्वरं पक्षीकृत्य पुनरपि तदेव अनुमानद्वयम् उपस्थापयति पूर्वपक्षी तन्निराकरणाय कारिकाऽरम्भः।

'क्षितिकर्तृत्वाभाववान् ईश्वरः' इत्यस्मिन् अनुमाने कर्तृत्वाभावो विशेषणमीश्वरश्च तदाश्रयो विशेष्यभूतः 'ईश्वरो नास्ति' इत्यस्मिन् अनुमाने च ईश्वरोऽभावस्य प्रतियोगी एवमेकत्र अनुमाने विशेषणाश्रयता अपरत्र च प्रतियोगिता एतद्धर्मद्वयं पारमार्थिकपदार्थनिष्ठमेव सम्भवति नालीकपदार्थनिष्ठमित्युक्तम्—'व्यावर्त्याभाववत्तैव भाविकी हि विशेष्यता' व्यावर्त्याप्रतिक्षेप्यः योऽभावः क्षित्यादिकर्तृत्वाभाव इत्यर्थः तद्वत्ता तदाश्रयता भाविकी पारमार्थिकी पदार्थनिष्ठा एव, हि यतः विशेषता विशेषणाश्रयरूपा अतो नालीको न असत्ख्यात्युपनीतो वा ईश्वरः पक्षोऽत्र।

एवमीश्वरो नास्ति इत्यस्मिन् अनुमाने ईश्वरस्य यद् अभावप्रतियोगित्वं तदपि असत्ख्यात्युपनीते ईश्वरे न सम्भवति। यतः प्रतियोगिताऽपि अभावाभावरूपिणी 'वस्तुनः' एव पारमार्थिकपदार्थनिष्ठैव इत्यर्थः। तदुक्तम्—'अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता' अभावस्य विरहोऽभावस्य अभावः आत्मा स्वरूपं यस्याः सा प्रतियोगिता वस्तुनः एव पारमार्थिकपदार्थस्यैव नालीकपदार्थस्य इति अनीश्वरवादिनः अनुमानद्वयमपि निरस्तम्। (का० ३-३)

आत्मनि क्षित्यादिकर्त्तृत्वाभावः इष्टापत्तिरूप इति दर्शयति (का० ३-४)—

ईश्वरो न क्षित्यादिकर्ता न वा सर्वज्ञः शरीरसम्बन्धाभावात् प्रयोजनाभावाच्च इत्यनुमानेन ईश्वरस्य निषेधसाधने आश्रयसिद्धिः दर्शिताः आसीत्। अतः पूर्वपक्षी ईश्वरं विहाय आत्मानं च पक्षत्वेन स्वीकृत्य आत्मा न सर्वज्ञः न क्षितिकर्ता आत्मत्वात् अस्मदादिवत् इत्यनुमानं पुनः प्रस्तौति तन्निराकरणाय कारिकाया आरम्भः।

पूर्वं बौद्धमतेन अनुपलब्धेरभावसाधकत्वं निरस्तम्। तत्राऽनुपलब्धेरभावसाधकत्वे अनुमानमात्रस्य विलोपः स्यात् इति युक्तिरुपन्यस्ता इदानीं चार्वाकः पुनस्तमेव पूर्वपक्षमुत्थापयति बौद्धचार्वाकयोरत्र अयं विशेषः यद् बौद्धो धर्माधर्मादिकम् अनुमेयमर्थमनुमानप्रमाणं च पृथक् स्वीकरोति, अत एव तत्पक्षे धर्माधर्मादीनामभावप्रसङ्गात् अनुमानविलोपप्रसंगाच्च अनुपलब्धिमात्रस्य अभावसाधकत्वं नोपपद्यते। चार्वाकस्तु न धर्मादिकं स्वीकरोति नाप्यनुमानम्, अतस्तन्मते धर्मादिविलोपोऽनुमानविलोपश्च इष्ट एव, अतः स अनुपलब्धिमात्रस्य अभावसाधकत्वं ब्रूते अनुमानाभावे च धूमादि-

दर्शनात् वह्न्यर्थिनां प्रवृत्तिः सम्भावनामात्रात् सन्देहमात्रादित्यर्थः। भवतीति ब्रूते तन्निराकरणाय कारिकाया आरम्भः।

सिद्धान्तपक्षस्याऽयमाशयः—सम्भावना हि सन्देहः स न दर्शनपक्षे उपपद्यते न चाप्यदर्शनपक्षे इत्युक्तं—'दृष्ट्यदृष्ट्योर्न सन्देहो भावाभावविनिश्चयात्'। वह्न्यादेः दर्शनपक्षे तस्य भावविनिश्चयात् न सन्देहः, अदर्शनपक्षे च अभावविनिश्चयात् न सन्देहः इति सम्भावनामात्रेण या प्रवृत्तिः चार्वाकेणोक्ता सा नोपपद्यते इत्यनुमानं स्वीकार्यमेव। किञ्चाऽनुमानाभावे अनुपलब्ध्या चक्षुरादीनाम् इन्द्रियाणामपि अभावः चक्षुरादीनामप्रत्यक्षत्वात् अनुमानैकसाध्यत्वात् च, अत उक्तम् 'अदृष्टिबाधिते हेतौ प्रत्यक्षमपि दुर्लभम्' हेतौ प्रत्यक्षकारणे चक्षुरादौ अदृष्टयः अनुपलब्ध्या बाधिते सति तदभावनिश्चये सति प्रत्यक्षमपि दुर्लभं प्रत्यक्षमपि न स्यादित्यर्थः। अतोऽनुमानविलोपोऽनिष्टः अनुपलब्धिमात्रस्य अभावसाधकत्वमपि अनुपपन्नमित्यर्थः। (का० ३-४)

व्याप्तिग्रहे शंकासम्भवात् अनुमानविलोप इति पूर्वपक्षं निवारयति (का० ३-७)—

चार्वाकः पुनरनुमानखण्डनाय शंकते यत् धूमादिना वह्न्यनुमानस्थले वह्निधूमयोर्व्याप्तिसम्बन्धेऽयोग्योपाधिशंका यदि क्रियेत तर्हि अनुपलब्ध्या न शंकाभावनिश्चयः अतो न व्याप्तिग्रहः इति गतमनुमानेन। अस्य पूर्वपक्षस्य निराकरणार्थं कारिकाया आरम्भः।

सिद्धान्तपक्षस्याऽयमाशयः यत् वर्तमानदेशकालस्थयोः वह्निधूमयोः सम्बन्धस्य प्रत्यक्षत्वात् न तत्रोपाधिशंका इति कालान्तरदेशान्तरस्थयोरेव वह्निधूमयोः सम्बन्धे उपाधिशंका सम्भवति। तयोश्च कालान्तरदेशान्तरस्थयोः वह्निधूमयोर्ग्रहणं नानुमानमन्तरा भवति न ततस्तरां सुतरामनुमानसिद्धिः अतो न शंकापक्षे नाप्यशंकापक्षे अनुमानविलोपः सम्भवति।

अत्र चार्वाकः पुनः पृच्छति यत् अनुमानविलोपासम्भवेऽपि वह्निधूमयोः सम्बन्धे या उपाधिशंका कृता तस्याः कथं निराकरणमित्युक्तम् 'तर्कः शङ्कावधिर्मतः'। धूमो यदि वह्निव्याप्यो न स्यात् वह्निजन्यो न स्यादिति तर्केणोपाधिशंकाया निवारणम्।

अत्र चार्वाकः पुनः शङ्कते यत् तर्कस्य मूलेऽपि व्याप्तिरन्तर्भूता भवति। तस्यामपि उपाधिशंका सम्भवति अस्य पूर्वपक्षस्य समाधानाय कारिकायामुक्तं 'व्याघातावधिराशंका' इति यावत् प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्विरोधो न भवति तावत् शंकां कर्तुं शक्यते समुपस्थिते तु प्रत्यक्षादिबाधे शंका न प्रसरति, अतस्तर्कमूलभूतायां व्याप्तौ प्रत्यक्षप्रमाणविरोधात् शंका न भवति। (का० ३-७)

उपमानप्रमाणस्य ईश्वरबाधकत्वनिराकरणम् तत्र वैशेषिकमतेन उपमानप्रमाणस्य खण्डनम् (का० ३-८)—

अधुना उपमानप्रमाणस्य ईश्वरे बाधकत्वनिराकरणाय कारिकापञ्चकं प्रस्तौति ग्रन्थकारः। तत्र प्रथमं वैशेषिकमतेन समाधानम्। वैशेषिका हि पृथक् उपमानप्रमाणं न

मन्यन्ते, अतः उपमानप्रमाणस्याभावात् नोपमानमीश्वरे बाधकमिति वैशेषिकाणामभिप्रायः। स च आद्येन कारिकाद्वयेन दर्शितः, तदनन्तरं नैयायिकः स्वमतेन उपमानस्य प्रमाणान्तरत्वं साधयिष्यति कारिकात्रयेण, तच्च उपमानमीश्वरे न बाधकं भिन्नविषयत्वात् इत्यपि दर्शयिष्यति दशमकारिकायाम्।

ये हि उपमानप्रमाणवादिनः ते सादृश्यस्य ग्रहणाय पृथक् उपमानप्रमाणमामनन्ति तथाहि तेषां मते सादृश्यं द्रव्यादिभ्यः पदार्थान्तरं तथा चाऽनुमानम्, सादृश्यं न द्रव्यं, न गुणः, न कर्म, न सामान्यं, न विशेषः, न समवायः, नाभावो वा सामान्येऽपि सत्त्वात् यथा 'गोत्वं नित्यं' तथा अश्वत्वमपि नित्यमिति गोत्वाश्वत्वयोः नित्यत्वरूपं सादृश्यमुपलभ्यते किन्तु सामान्ये द्रव्याद्यन्यतमस्य न कस्यापि सम्भव इति पदार्थान्तरं सादृश्यमिति सिद्धं तच्च न प्रत्यक्षग्राह्यं इन्द्रियपातमात्रेण अप्रतीतेः, नाप्यऽनुमानगम्यं लिंगाप्रतिसन्धानेऽपि प्रतीयमानत्वात्, नापि शब्दगम्यं तस्य असारवत्रिकत्वात्; अतः सादृश्यग्रहणाय पृथक् प्रमाणमङ्गीकरणीयं तच्च उपमानरूपम् एवम् उपमानवादिनो मीमांसकाः सादृश्यग्रहणाय उपमानं पृथक् प्रमाणमिच्छन्ति।

तन्निराकरणाय वैशेषिकाः सादृश्यस्य पदार्थान्तरत्वमेव खण्डयन्ति, तथा हि तन्मते सादृश्यं भावात्मकमभावात्मकं वा ? तद्भिन्नस्य प्रकारान्तरस्याभावात्। तदुक्तं कारिकायाम् 'परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः' भावाभावयोः परस्परविरोधात् यन्न भावात्मकं तदवश्यमभावात्मकं, यच्च नाभावात्मकं तदवश्यं भावात्मकमिति भावाभावविलक्षणस्य तृतीयस्य प्रकारान्तरस्य न सम्भवः। न च उभयात्मकत्वमपि विरुद्धानां विरोधादेव सम्भवति तदुक्तं कारिकायां 'नैकताऽपि विरुद्धानां' भावाभावानामेकता उभयात्मकत्वमपि न सम्भवति भावाभावयोः विरोधमेव प्रमाणयति कारिकाया'मुक्तिमात्रविरोधतः' इति।

अस्यायमभिप्रायः सादृश्यं भावः अभावो वा भावत्वे द्रव्यादिषु षट्सु पदार्थेषु क्वाप्यन्तर्भावः अभावत्वे तु सप्तमे पदार्थेऽन्तर्भावः एवं येन प्रमाणेन द्रव्यादीनां पदार्थानां ग्रहणं तेनैव प्रमाणेन सादृश्यस्यापि ग्रहणमिति न सादृश्यग्रहणाय उपमानं पृथक् प्रमाणमपेक्षितं भवति अत उपमानस्य प्रमाणान्तरस्याभावात् उपमानं न ईश्वरे बाधकम् इति वैशेषिकाणामभिप्रायः। (का० ३-८)

वैशेषिकमतेन उपमानप्रमाणस्य खण्डनम् (का० ३-९)—

एवं वैशेषिकैः सादृश्यस्य पदार्थान्तरत्वे निरस्ते मीमांसकः प्राह—भवतु साधर्म्यमेव सादृश्यं, किन्तु तदपि न प्रत्यक्षग्राह्यमिन्द्रियपातमात्रेण अप्रतीतेः, नाप्यनुमानगम्यं लिङ्गप्रतिसंधानेऽपि ज्ञायमानत्वात्, न च शब्दगम्यं तस्यासारवत्रिकत्वात्, अतः साधर्म्यरूपस्य सादृश्यस्य ग्रहणाय अपि उपमानं प्रमाणान्तरमभ्युपेयमिति मीमांसकस्याभिप्रायः। तन्निराकरणाय कारिकायामुक्तं 'साधर्म्यमिव वैधर्म्यं मानमेवं प्रसज्यते' यदि साधर्म्यग्रहणाय पृथक् प्रमाणमभ्युपेतं स्यात्तदा वैधर्म्यस्य ग्रहणाय अपि पृथक् प्रमाणमङ्गीकरणीयं

यदि च वैधर्म्यग्रहणम् अर्थापत्तेर्विषयः इत्युच्यते तदा साधर्म्यमपि अर्थापत्त्यैव गृह्यते इति नोपमानं पृथक् प्रमाणमिति वैशेषिकानां सिद्धान्तः। (का० ३–९)

नैयायिकमतेन उपमानस्य प्रमाणान्तरत्वसाधनम् ईश्वरवादकत्व-निराकरणं च (का० ३–१०)—

सादृश्यस्य पदार्थान्तरत्वे निराकृते तद्ग्रहणाय स्वीकृतमुपमानप्रमाणमपि नोपादेय-मिति उपमानप्रमाणे दूषिते नैयायिकः उपमानप्रमाणसाधनार्थं सिद्धान्तपक्षमारभते।

संज्ञासंज्ञिसम्बन्धग्राहकमुपमानप्रमाणम् तथाहि 'यथा गौस्तथा गवयः' इति वाक्यं कुतश्चिदारण्यकात् श्रुत्वा वनं गतो नागरिकः यदा गोसादृश्यविशिष्टं पिण्डं पश्यति तदा यथा 'गौस्तथा गवयः' इत्यतिदेशवाक्यार्थं स्मरन् 'अयं गवयपदवाच्यः' इति संज्ञाभूतस्य गवयशब्दस्य संज्ञिभूतस्य च गवयपिण्डस्य संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं वाच्यवाचक-भावं वाऽवधारयति अयं संज्ञासंज्ञिसम्बन्धः प्रत्यक्षानुमानशब्दरूपैः प्रमाणान्तरैरवधा-रयितुं न शक्यते तद् ग्राहकमुपमानं प्रमाणान्तरं मन्तव्यमित्युक्तं कारिकायाम्—

'सम्बन्धस्य परिच्छेदः संज्ञायाः संज्ञिना सह।
प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वादुपमानफलं विदुः' ॥ १० ॥

संज्ञाया गवयादिरूपसंज्ञाया संज्ञिना गोपिण्डादिना सह सम्बन्धस्य वाच्यवाचक-सम्बन्धस्य परिच्छेदः निश्चयः प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वात् उपमानस्य फलमिति मन्तव्यम्। एवं उपमानप्रमाणमवश्यं स्वीकार्यं किन्तु संज्ञासंज्ञिसम्बन्धमात्रबोधकं हि तत् न ईश्वरा-भावं साधयितुं क्षमते इति नैयायिकानामभिप्रायः। (का० ३–१०)

संज्ञासंज्ञिसम्बन्धस्य उपमानविषयस्य शब्देन अनुमानेन वा न ग्रहण-मिति दर्शयति (का० ३–११)—

संज्ञासंज्ञिसम्बन्धस्य ग्रहणं प्रत्यक्षादिभ्यो न सम्भवति, अतस्तद्ग्रहणाय उपमानं प्रमाणान्तरमङ्गीकरणीयमिति सिद्धान्तपक्षः पूर्वकारिकायां निर्धारितः। तत्र पूर्वपक्षी पुनः शङ्कते यदस्य संज्ञासंज्ञिसम्बन्धस्य ग्रहणं 'गोसदृशो गवयपदवाच्यः' इत्यतिदेश-वाक्यादेव यद्वा 'गवयत्वविशिष्टो धर्मी गवयपदवाच्यः' इत्यनुमानादपि सम्भवति अतस्तद्-ग्रहणाय उपमानं प्रमाणान्तरमनावश्यकं तन्निराकरणाय कारिकाया आरम्भः।

सिद्धान्तपक्षस्याऽयमाशयः यत् शाब्दव्यवहारे सर्वत्र जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तं लाघवात् कल्प्यते तथा चात्र गवयव्यवहारे गवयत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तं न तु सादृश्यादिकं तच्च गवयत्वं न गृहीतं तेन पुंसा, इति प्रवृत्तिनिमित्तस्य अज्ञातत्वात् न शब्देन नाप्य-नुमानेन सङ्केतग्रहः सम्भवति तदुक्तं कारिकायाम्—

'सादृश्यस्यानिमित्तत्वान्निमित्तस्याप्रतीतितः।
समयो दुर्ग्रहः पूर्वं शब्देनानुमयापि वा' ॥ ११ ॥

गोसादृश्यं न गवयपदप्रवृत्तिनिमित्तं गवयत्वमेव तत्र प्रयोजकं तच्च अगृहीतमिति उपमानात् पूर्वं शब्देन अनुमानेन वा समयः सङ्केतग्रहः 'दुर्ग्रहः' न सम्भवति इत्यर्थः। अतः संज्ञासंज्ञिसम्बन्धस्य ग्रहणार्थमुपमानप्रमाणमवश्यमेव अभ्युपेयमिति तच्च संज्ञासंज्ञि-सम्बन्धग्राहकमात्रं न तु ईश्वरस्य कस्याऽपि पदार्थान्तरस्य साधने बाधने समर्थम्। अतो नोपमानमीश्वरे बाधकमिति सिद्धान्तपक्षस्याभिप्रायः। (का० ३-११)

उपमानविषयस्य संज्ञासंज्ञिसम्बन्धरूपशब्देन अनुमानेन वा ग्रहणं न सम्भवतीति उपमानं प्रमाणान्तरं मन्तव्यमेवेति दर्शयति (का० ३-१२)—

अस्यां कारिकायां पूर्वपक्षो पुनः शब्दप्रमाणेन नैव सङ्केतग्रहो भवतीति पूर्वपक्ष-मुत्थापयति 'गोसदृशो गवयपदवाच्यः' इत्यतिदेशवाक्ये 'गोसदृश' इति पदे लक्षणया 'गवयत्वविशिष्टो धर्मी गवयपदवाच्यः' इत्यर्थं कृत्वा वने गोसदृशपिण्डदर्शनात् गवयत्व-ग्रहाच्च शब्दप्रमाणेनैव सङ्केतग्रहो भवतीति नोपमानं प्रमाणान्तरमिति पूर्वपक्षस्याशयः। तन्निराकरणाय कारिकाया आरम्भः।

सिद्धान्तपक्षस्याऽयमाशयः—पूर्वपक्षिणः 'गोसदृशो गवयपदवाच्यः' इत्यत्र 'गो-सादृश्य' इति पदस्य गवयत्वविशिष्टे या-लक्षणा कृता सा नोपपद्यते, मुख्यार्थबाधे हि लक्षणाया अवसरः, न चात्र मुख्यार्थबाधः तस्माल्लक्षणानुपपन्ना। तदुक्तं कारिकायाम्।

'श्रुतान्वयादनाकाङ्क्षं न वाक्यं ह्यन्यदिच्छति।'

अत्र वाक्ये श्रुतानां पदानामन्वये बाधाभावात् न लक्षणा। लक्षणा क्व भवति इत्युक्तं कारिकायां 'पदार्थान्वयवैधुर्यात्तदाक्षिप्तेन सङ्गतिः।' यदा पदार्थानामन्वय एव विधुरोऽ-नुपपन्नो भवति तदाऽऽक्षिप्तेन लक्ष्यार्थेन सङ्गतिः क्रियते अत्र च मुख्यार्थबाधाभावात् लक्षणासम्भवः अतो न शब्दप्रमाणेन संकेतग्रहः अतस्तद्ग्रहणाय उपमानं प्रमाणान्तरं स्वीकर्तव्यमेव। (का० ३-१२)

एवं शब्दस्य सङ्केतग्राहकत्वे निरस्ते पूर्वपक्षी अनुमानस्य सङ्केतग्राहकत्वं दर्शयति तत्र तेन अनुमानद्वयमुपन्यस्तम्।

१. 'गवयपदं सप्रवृत्तिनिमित्तकं साधुपदत्वात्' इत्येकं सामान्यतोदृष्टमनुमानम्। अत्र च साध्यतावच्छेदकरूपेणैव साध्यसिद्धेरनियमात् सप्रवृत्तिनिमित्तकत्वमेव सिद्ध्यति न गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्वमिति दोषः।

२. 'गवयपदं गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकम् इतराप्रवृत्तिनिमित्तकत्वे सति साधुपदत्वात्' इति द्वितीयं केवलव्यतिरेकि अनुमानम्, अत्र च साध्याप्रसिद्धिरदोषः।

एवं न शब्दतः नाप्यनुमानात् सङ्केतग्रहः अतः सङ्केतग्रहणाय उपमानं प्रमाणा-न्तरमवश्यमभ्युपेयमिति। किन्तु संज्ञासंज्ञिसम्बन्धग्रहणमात्रे तस्योपयोगः, न तु तदीश्वर-बाधने समर्थम्। अत एव उपमानप्रमाणमीश्वरे बाधकं न भवतीति सिद्धान्तपक्षस्य अभिप्रायः। (का० ३-१२)

वैशेषिकमतं प्रत्याख्याय शब्दप्रमाणसाधनम् (का० ३-१३)—

उपमानस्य ईश्वरे बाधकत्वं निरस्य इदानीं शब्दस्य ईश्वरबाधकत्वनिराकरणाय प्रकरणान्तरमारभते। तत्र पूर्वं वैशेषिकमतेन शब्दस्य बाधकत्वं निराकरोति। वैशेषिकाः हि शब्दं न प्रमाणान्तरं मन्यन्ते, किन्तु अनुमाने एव अन्तर्भावयन्ति। पदार्थसंसर्गबोधो हि शब्दप्रमाणस्य फलम्। स च अनुमानेनैव भवतीति तद्दर्शनाय इहानुमानद्वयं वैशेषिकैरुपन्यस्तम्।

१: 'एते पदार्थाः परस्परं संसर्गवन्तः योग्यता-आकांक्षा-आसत्तिमत्पदस्मारितत्वात्।' इत्येकमनुमानम्।

२. 'एतानि पदानि स्वस्मारितपदार्थसंसर्गप्रमापूर्वकाणि। योग्यताकांक्षासत्तिमत्पदत्वात्'।

अस्यानुमानद्वयस्य दूषणाय 'अनेकान्तःपरिच्छेदे' इत्यादि कारिकाया आरम्भः। तत्र कारिकायाः पूर्वार्द्धेन प्रथमानुमानस्य दूषणम्। उत्तरार्धेन च द्वितीयानुमानस्य दूषणम्। तथा हि—एते पदार्थाः परस्परं संसर्गवन्तः योग्यताऽऽकांक्षासत्तिमत्पदस्मारितत्वात् इत्यस्मिन् प्रथमेऽनुमाने संसर्गवन्तः इत्यस्य किम् अवश्यं संसर्गवन्तः इत्यर्थः? आहोस्वित् सम्भावितसंसर्गाः इति? तत्र यदि अवश्यं संसर्गवन्तः तर्हि 'पयसा सिञ्चति' इत्यत्र अनेकान्तिकत्वं दुग्धार्थकस्य 'पयसा' इति पदस्य सिञ्चनेन सह सम्बन्धाभावात्। तदुक्तं कारिकायाम्—'अनेकान्तःपरिच्छेदे'। परिच्छेदे अवश्यं सम्बन्धनिर्धारणे 'पयसा सिञ्चति' इत्यत्र अनैकान्तिकत्वम्। 'सम्भवे न च निर्णयः' यदि सम्भावितसंसर्गमात्रत्वमनुमीयते तदा न निर्णयः सम्बन्धस्य निश्चयो न भवति। अतो दोषग्रस्तं प्रथममनुमानम्।

द्वितीयानुमाने 'योग्यताकांक्षाऽऽसत्तिमत्पदत्वात्' इति यो हेतुः प्रयुक्तः तत्र 'आकांक्षा'-पदं न समन्वितं भवति शाब्दबोधे स्वरूपसती आकांक्षा उपयोगिनी भवति। अनुमाने तु ज्ञाता सती, अतो नाकांक्षायाः समन्वयः इत्युक्तं कारिकायाम् 'आकांक्षाया हेतोरिति।' यदि तु आकांक्षां विहाय योग्यासत्तिरेव हेतुत्वेनोपादीयेत तन्निराकरणाय कारिकायामुक्तं 'योग्यासत्तिरबन्धना' इति। 'अबन्धना' व्याप्तिशून्या इत्यर्थः। तथा हि 'अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोपसार्यताम्' इत्यत्र राजपुरुषपदयोः परस्परसम्बन्धे योग्यतास्ति। आसत्तिरपि च विद्यते। किन्त्वाकांक्षाभावात् राजपदस्य पुरुषपदेन सह अन्वयो न भवति किन्तु पुत्रपदेन सह अन्वयो भवति, 'अयं राज्ञः पुत्र एति पुरुषोऽपसार्यताम्' इत्यस्य वाक्यस्यार्थो विवक्षितः। अतोऽनुमानद्वयमपि पदार्थसंसर्गनिर्णये अयोग्यम्, इति पदार्थसंसर्गनिर्णयाय शब्दप्रमाणमवश्यमभ्युपेयम्। (का० ३-१३)

शब्दस्यानुवादकत्वं निवारयति (का० ३-१४)—

मीमांसकेषु प्राभाकराः वेदवाक्यानां प्रमाणत्वं लौकिकवाक्यानाञ्च अनुवादकत्वं प्रतिपादयन्ति। तेषामयमेवाभिप्रायः यत् वेदस्यापौरुषेयत्वात् तत्र वक्तृज्ञानानुमाना-

सम्भवः। लौकिकवाक्येषु तु वक्तृज्ञानापेक्षमेव प्रामाण्यमिति 'अयं वक्ता स्वप्रयुक्तवाक्यार्थ-यथार्थज्ञानवान् भ्रमाद्यजन्यवाक्यप्रयोक्तृत्वात्' इत्यनुमानात् वक्तृज्ञानावच्छेदकतया तदुत्तरं वा 'एते पदार्थाः परस्परं संसृष्टाः वक्तृयथार्थज्ञानविषयत्वात्' इत्यनुमानाद्वा साक्षात् संसर्गसिद्धिः। तदनन्तरं वाक्यार्थमर्यादया संसर्गबोधेपि शब्दे ज्ञातज्ञापकत्व-रूपम् अनुवादकत्वमेव इति पूर्वपक्षे प्राप्ते तन्निराकरणाय 'निर्णीतशक्तेर्वाक्याद्धि' इत्यादि कारिकायाः आरम्भः।

सिद्धान्तपक्षस्यायमाशयः यत् लौकिकवाक्येषु पदार्थसंसर्गबोधकत्वं निर्धारितपूर्वं तद्वदेव वैदिकमिति निर्णीतशक्तेः वाक्यात् एव पूर्वं संसर्गनिर्णयः। अनुमाने च 'व्याप्ति-स्मृतिविलम्बेन' पश्चात् संसर्गनिर्णयः इति 'लिङ्गस्यैव अनुवादकत्वं न शब्दस्य' इत्युक्तं कारिकायाम्।

> निर्णीतशक्तेर्वाक्याद्धि प्रागेवार्थस्य निर्णये।
> व्याप्तिस्मृतिविलम्बेन लिङ्गस्यैवानुवादिता ॥ १४ ॥ (स्पष्टः कारिकार्थः)

लौकिकस्यापि शब्दप्रामाण्यस्यानुवादकत्वं निराकरोति (का० ३-१५)—

वैदिकवाक्यानां प्रामाण्यं लौकिकवाक्यानां चानुवादकत्वमिति प्राभाकराणां पूर्व-पक्षः 'निर्णीतशब्दे वाक्याद्धि' इत्यादिकारिकया पूर्वं निरस्तः। इदानीं पूर्वपक्षी पुनरपि तमेव पूर्वपक्षमुत्थापयति प्रकारान्तरेण। तत्र तस्य इयं वाचोयुक्तिः यत् लौकिकवाक्येषु आप्तोक्तत्वनिश्चयः प्रामाण्यग्रहणायावश्यकः। आप्तोक्तत्वञ्च 'प्रकृतवाक्यार्थगोचर-यथार्थधीजन्यत्वम्।' तथा च वक्तृज्ञानावच्छेदकतया संसर्गसिद्धे पुनः वाक्यमर्यादया संसर्गनिश्चयः अनुवादरूप एव। इति लौकिकं वाक्यमनुवादकमेव। अस्य पूर्वपक्षस्य निरा-करणाय 'व्यस्तपुन्दूषण०' इत्यादि कारिकायाः आरम्भः। सिद्धान्तपक्षस्यायमाशयः यत् लौकिकेषु वाक्येषु आप्तोक्तत्वनिश्चयो नावश्यमपेक्ष्यते (अनाप्तवाक्येषु तु योग्यता-ज्ञानाभावादेवान्वयबोधे विलम्बः)। अन्यथा वैदिकवाक्येष्वपि अपौरुषेयत्वनिश्चयो हेतु-र्वाच्यः तथा च सति 'अमी वैदिकाः पदार्थाः परस्परं संसर्गवन्तः व्यस्तपुन्दोषणाशंकैः पदैः स्मारितत्वात्' इति अनुमानात् संसर्गनिर्णये वैदिकवाक्यानामपि अनुवादकत्वं प्रसज्येत इत्युक्तं कारिकायाम्—

> व्यस्तपुन्दूषणाशंकैः स्मारितत्वात् पदैरमी।
> अन्विता इति निर्णीते वेदस्यापि न तत् कुतः ॥ १५ ॥

'अमी' वैदिकाः पदार्थाः 'अन्विताः' परस्परं संसर्गवन्तः 'व्यस्तपुन्दोषणाशंकैः पदैः स्मारितत्वात्' अपौरुषेयैर्पदैः स्मारितत्वात् इत्यर्थः इति संसर्गनिर्णये वेदस्यापि 'तत्' अनुवादकत्वं 'कुतो न' अवश्यं स्वीकार्यं भविष्यतीति भावः। तच्चायुक्तमिति लौकिकवाक्यानामपि नानुवादकत्वं किन्तु प्रामाण्यमेव इति सिद्धान्तपक्षस्याशयः। (का० ३-१५)

शब्दस्य ईश्वरबाधकत्वनिराकरणम् (का० ३-१७)—

सांख्यादयो ह्यनीश्वरवादिनः

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

इति गीतावाक्यमीश्वराभावबोधकं मन्यन्ते एवंविधान्यन्यान्यपि वाक्यानि यत्र कुत्रचिदुपलभ्यन्ते तदवलम्बेनानीश्वरवादिनः शब्दप्रमाणस्य ईश्वरवादकत्वं प्रतिपादयन्ति । तत्समाधानार्थं 'न चासौ क्वचिदेकान्तः सत्त्वस्यापि प्रवेदनात्' (का० ३-१७) इत्यादिकारिकायाः पूर्वार्द्धस्यारम्भः । तत्र सिद्धान्तपक्षस्यायमाशयः यत् आगमेषु सर्वत्रेश्वराभावबोधकान्येव वाक्यानि नोपलभ्यन्ते, किन्तु 'मत्तः सर्वं प्रवर्तते' इत्यादीनि वाक्यानि ईश्वरसत्तामपि प्रतिपादयन्ति । 'क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवत्' इत्यनुमानेन तत्सहकृतेन तर्केण चापि ईश्वरसिद्धिर्भवति । अतः ईश्वरसाधकानामागमानामनुमानतर्कादिभिरपि परिपुष्टिः जायते । अतः ईश्वरसाधकस्यागममात्रस्य मुख्यार्थत्वमवश्यमभ्युपगन्तव्यम्, तद्विरुद्धानामीश्वराभावबोधकानां वाक्यानाञ्च मुख्यार्थत्वं प्रबलतरप्रमाणविरोधादेव न सम्भवति । अतो यत्र तत्रोपलभ्यमानानामीश्वराभावबोधकानां वाक्यानां न मुख्यार्थत्वं न वा स्वार्थे तात्पर्यं किन्तु परमात्मनो निराकाररूपप्रतिपादनमेव तेषां प्रयोजनमिति 'निरञ्जनावबोधार्थो न च सन्नपि तत्परः' इति कारिकाया उत्तरार्द्धभागेन प्रतिपादितम् । ततश्च शब्दप्रमाणमीश्वरे बाधकं न भवति इति ग्रंथकर्तुरभिप्रायः (का० ३-१७) ।

अर्थापत्तेरीश्वरबाधकत्वनिराकरणम् (का० ३-१८)—

इदानीं पूर्वपक्षी अर्थापत्त्या ईश्वराभावं साधयितुमुपक्रमते । तस्यायमभिप्रायः—यदि ईश्वरः सर्वज्ञो भवेत् तथा वेदोपदेशं विनापि प्रवर्त्तयेत् इति ईश्वरसत्त्वे वेदोपदेशानर्थक्यं प्राप्तम् । अतो वेदोपदेशानुपपत्तिरूपा अर्थापत्तिरेव ईश्वराभावसाधिका इति पूर्वपक्षः । तन्निराकरणाय 'हेत्वभावे फलाभावात्०' इत्यादिकारिकाया आरम्भः ।

हेत्वभावे फलं न भवति इति प्रमाणरूपं हेतुं विना प्रमारूपं फलं नोपपद्यते इत्युक्तं 'प्रमाणेऽसति न प्रमा' प्रमाणाभावे च न प्रवृत्तिः प्रवृत्तेः ज्ञानसाध्यत्वात् इत्युक्तं 'तदभावात् प्रवृत्तिर्न' । अन्यथा कर्मपथेऽपि अदृष्टादेव सर्वकार्यसिद्धौ उपदेशानर्थक्यं स्यात् इत्युक्तं 'कर्मवादेप्ययं विधिः' । अतोऽर्थापत्तिर्न ईश्वरे बाधिका । वस्तुतस्तु अर्थापत्तिः प्रमाणमेव न भवति । अतो नास्याः ईश्वरे बाधकत्वमिति सिद्धान्तपक्षस्याशयः (का० ३-१८) ।

अर्थापत्तेः प्रमाणत्वं निराकरोति (का० ३-१९)—

अर्थापत्तिर्नेश्वरे बाधिका इति पूर्वकारिकायामुक्तम् । इदनीमर्थापत्तिः प्रमाणमेव न भवति इति प्रतिपाद्यते । अर्थापत्तिवादिभिः मीमांसकैः अर्थापत्तेः द्वे लक्षणे कृते—

१. 'अनुपपद्यमानार्थदर्शनार्थतदुपपादिकीभूतार्थान्तरकल्पनमर्थापत्तिः' इत्येकं लक्षणम् । तत्र च 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्युदाहरणम् । दिवाभुञ्जानस्य पीनत्वमनुपपद्यमानोऽर्थः । रात्रिभोजनं च तदुपपादिकीभूतं इति दिवाभुञ्जानस्य पीनत्व-

दर्शनात् रात्रिभोजनमर्थापत्त्या गृह्यते इति अर्थापत्तिवादिनां मतम्। तन्निराकरणाय 'अनियम्यस्य०' इत्यादि कारिकायाः पूर्वार्द्धः। तत्र सिद्धान्तपक्षस्यायमाशयः यत् अनुपपद्यमानोऽर्थः सर्वदा व्याप्यो भवति। उपपादिकीभूतश्चार्थः सर्वदा व्यापको भवति तथा च अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् उपपादिकीभूतस्य अर्थस्य यद् ज्ञानं तत् व्याप्यात् व्यापकज्ञानमेव अतोऽनुमानान्तर्गतमेव इति न अर्थापत्तिः पृथक् प्रमाणम्। इत्युक्तं कारिकायाम् 'अनियम्यस्य नायुक्तिः'। 'अनियम्यस्य' अव्याप्यस्य 'नायुक्तिः' नानुपपद्यमानता। व्याप्यस्यैवानुपपद्यमानता इत्यर्थः। 'नानियन्तोपपादकः'। 'अनियन्ता' अव्यापकः 'न उपपादकः' व्यापकस्यैव उपपादकत्वमित्यर्थः। अतोऽर्थापत्तेर्विषयः व्याप्तिगम्यः इत्यर्थः।

'विरुद्धयोः प्रमाणयोर्विषयव्यवस्थया विरोधापादनमर्थापत्तेर्विषयः' इति द्वितीयमर्थापत्तिर्लक्षणम्। तत्र च 'मा हिंस्यात्सर्वभूतानि' 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इति वाक्यद्वयमुदाहरणम्। अस्य निराकरणाय कारिकायामुक्तं—'ना मानयोर्विरोधोऽस्ति' इति। न हि वास्तविकयोर्मानयोर्विरोध उपपद्यते। तथा सति एकं मानं भज्येत। एवंविधे स्थले विषयव्यवस्था पूर्ववत् एव विद्येत। तस्याश्च ज्ञानमनुमानविधयैव संभवतीति न तत्कृतेऽपि अर्थापत्तिः प्रमाणमपेक्षते।

यदि च एवमपि अर्थापत्तिः पृथक् प्रमाणमिष्यते तथा 'प्रसिद्धे वाप्यसौ समा'। 'प्रसिद्धेऽपि' अनुमानस्थले 'असौ' अर्थापत्तिरेव स्यात् इति अनुमानविलोपः। धूमो हि अनुपपद्यमानोऽर्थः। वह्निश्च उपपादिकीभूतोऽर्थः अतो धूमात् वह्निज्ञानम् अर्थापत्तिविधयैव भवेत्। अनुमानविलोपश्च स्यात्। स चानिष्टः इति न अर्थापत्तिः पृथक् प्रमाणम्। (का० ३-१९)

उपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वखण्डनम् (का० ३-२०)—

तृतीयस्तबकस्य प्रारम्भे अनुपलब्धिर्नाभावसाधिका किन्तु योग्यानुपलब्धिरेव इति अनुपलब्धेः ईश्वराभावसाधकत्वं निरस्तम्। इदानीं स्तबकान्ते अनुपलब्धिः प्रमाणमेव न भवति इति तस्या ईश्वराभावसाधकत्वं कारिकात्रयेण पुनर्निरस्यते। अनुपलब्धिप्रमाणवादिनः अभावग्रहणाय अनुपलब्धिं प्रमाणं मन्यन्ते। किन्तु नैयायिकमते अभावग्रहणे इन्द्रियमेव करणम्। अतः प्रत्यक्षेणैव अभावग्रहणम् इति नानुपलब्धिः प्रमाणम् इत्येवाग्रे कारिकात्रयेण साध्यते। तत्र, द्वितीयकारिकोक्तम् 'इन्द्रियाणि अभावग्रहे करणानि' इति प्रतिज्ञावाक्यम् तत्साधनाय चत्वारो हेतवः प्रथमकारिकायां (३-२०) चत्वारश्च द्वितीयकारिकायाम् (३-२१) उक्ताः।

१. 'प्रतिपत्तेरपारोक्ष्यात्' इति प्रथमो हेतुः। तस्यायं भावः यत् अभावप्रतीतिरपरोक्षः भवति। जन्यापरोक्षज्ञानस्य च इन्द्रियजन्यत्वनियमात् अभावग्रहणम् इन्द्रियजन्यमेव।

२. 'इन्द्रियस्यानुपक्षयात्' इति द्वितीयो हेतुः। अनुपलब्धिप्रमाणवादिनोऽधिकरण-

ग्रहणे इन्द्रियस्य शक्तिरुपक्षीयते इति नेन्द्रियमभावग्रहणे समर्थमिति वदन्ति। तन्निवारणाय कारिकायाम् 'इन्द्रियस्यानुपक्षयात्' इत्युक्तम्। अधिकरणग्रहणात्मके अवान्तरव्यापारे इन्द्रियस्य शक्तिर्न क्षीयते। अन्यथा घटग्रहणस्थलेऽपि इन्द्रियार्थसन्निकर्षरूपे अवान्तरव्यापारे इन्द्रियशक्तेरुपक्षीणत्वात् इन्द्रियं घटग्रहणे समर्थं न स्यात्।

३, 'अज्ञातकरणत्वाच्च' इति तृतीयो हेतुः। ज्ञानकरणं ज्ञानं परोक्षं भवति। अनुमाने लिङ्गज्ञानम् उपमाने सादृश्यज्ञानं शाब्दबोधे च पदज्ञानं करणमिति ज्ञानकरणत्वात् अनुमाने उपमानशब्दप्रमाणजन्यानि सर्वाण्यपि ज्ञानानि परोक्षाणि अभावस्य ग्रहणं तु न ज्ञानकरणकम्। इति अपरोक्षम् इन्द्रियजन्यं च।

४. 'भाववैशाच्च चेतसः' इति चतुर्थो हेतुः। सर्वं ज्ञानं भावभूतकरणसहकृतेन मनसा जन्यते, अत एव अभावग्रहणेऽपि भावभूतं करणम् इन्द्रियमेव मनसः सहकारित्वेनाभ्युपेयम्। अतः इन्द्रियमेवाभावग्रहे करणम् नानुपलब्धिः इति प्रथमकारिकाया भावार्थः (का० ३–२०)।

१. अभावग्रहणे इन्द्रियमेव करणम् इत्यस्याः एव प्रतिज्ञायाः साधनाय अस्यामपि कारिकायां चत्वारो हेतवः उपन्यस्ताः। तत्र 'प्रतियोगिनि सामर्थ्यात्' इत्ययं प्रथमो हेतुः। अनुमानस्थले यथा अनुमानेनैव घटस्य तदभावस्य च ग्रहणं भवति। एवमभावग्रहणस्थले इन्द्रियं प्रतियोगिनो घटस्य ग्राहकमिति घटाभावस्यापि ग्राहकमिन्द्रियमेव।

२. 'व्यापाराव्यवधानतः' इति द्वितीयो हेतुः। अवान्तरव्यापारेण इन्द्रियस्य शक्तिः न क्षीयते इति पूर्वकारिकायामुक्तम् अन्यथा इन्द्रियसन्निकर्षादिरूपे अवान्तरव्यापारे उपक्षीणमिन्द्रियं घटग्रहणेऽपि नालं स्यात्।

३. 'अक्षाश्रयत्वाद्दोषाणाम्' इति तृतीयो हेतुः। भ्रमस्थले कारणदोष एव सर्वत्र कारणं मन्यते। अतोऽभावभ्रमस्थलेऽपि करणदोषस्यैव प्रयोजकत्वं स्वीकार्यम्। अभावग्रहे इन्द्रियं चेत् करणं तदा इन्द्रियदोषः अभावभ्रमे कारणम्। अनुपलब्धिश्चेत् करणं तर्हि अनुपलब्धिनिष्ठो दोषस्तत्र कारणम्। अनुपलब्धेश्चाभावरूपत्वात् न दोषाधिकरणत्वमुपपद्यते। पाण्डुरोगादौ च इन्द्रियमेव दोषाधिकरणं भवति इति अभावभ्रमे इन्द्रियाश्रितो दोष एव कारणम्। अत इन्द्रियमेवाभावग्रहे करणम्।

४. 'विकल्पनात्' इति चतुर्थो हेतुः। विशिष्टज्ञानात् इत्यर्थः। घटाभाववद्भूतलम् इत्यत्र घटाभावो विशेषणम्, भूतलं च विशेष्यम्। इति विशेषणविशेष्यभावयुक्तमेव विशिष्टज्ञानम्। तत्र यदि भावग्रहणाय प्रत्यक्षम् अभावग्रहणाय चानुपलब्धिः पृथक् प्रमाणमिति मन्यते तदा घटाभाववद्भूतलमिति विशिष्टज्ञानं न इन्द्रियजन्यमभावधीत्वात्। नानुपलब्धिजन्यं भावधीत्वात्। 'इति विशिष्टज्ञानस्य ग्रहणं केनापि प्रमाणेन न भवेत्। अतो घटग्रहणवत् घटाभावग्रहणेऽपि इन्द्रियमेव कारणम् इत्यस्याः कारिकाया अभिप्रायः (का० ३–२१)।



चतुर्थः स्तबकः

ईश्वरस्य प्रमाणत्वं तज्ज्ञानस्य प्रमात्वसाधनञ्च (का० ४–१)—

'सत्त्वेऽपि तस्याप्रमाणत्वात्' इति तुरीयः विप्रतिपत्तिर्दिगम्बराणाम् । तन्त्रतः 'अगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमा' इति प्रमालक्षणम् । ईश्वरस्य च सर्वज्ञत्वाभ्युपगमात् तज्ज्ञानं नागृहीतग्राहि अतो न प्रमा । स्वज्ञानस्य प्रमात्वाभावाच्च ईश्वरो न प्रमाणमप्रमाणपुरुषस्य च वचः कः श्रद्दधीत इति 'सत्त्वेपि तस्याप्रमाणत्वात्' इत्यस्याः विप्रतिपत्तेरभिप्रायः । सा च 'अगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमा' इति प्रमालक्षणमाश्रित्य उत्पद्यते । अस्याः निराकरणाय 'अप्राप्तेरधिक०' इत्यादिकारिकायाः आरम्भः ।

नैयायिकमते 'अगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमा' इति प्रमालक्षणं नाभ्युपगम्यते । 'अयं घटः अयं घटः' इत्यादि धारावाहिकबुद्धिस्थले द्वितीयादिज्ञानमगृहीतग्राहि ज्ञानं न भवति इति तत्र प्रमालक्षणस्य अव्याप्तिः । 'इदं रजतम्' इति भ्रमस्थले च तज्ज्ञानस्यागृहीतग्राहित्वात् प्रमालक्षणमतिव्याप्तमित्युक्तम् 'अप्राप्तेरधिकप्राप्तेरलक्षणमपूर्वदृक्' । धारावाहिकबुद्धिस्थले अव्याप्तत्वात् भ्रमस्थले च अतिव्याप्तत्वात् 'अपूर्वदृक्त्वम्' अगृहीतग्राहित्वे 'अलक्षणं' प्रमालक्षणं न भवतीत्यर्थः । सिद्धान्तपक्षः स्वमते प्रमालक्षणमाह । 'यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते' इत्यादि 'यथार्थानुभवः प्रमा' इति प्रमालक्षणमित्यर्थः । 'अनपेक्षतया' इति पदं स्मृतौ अतिव्याप्तिनिराकरणाय, 'यथार्थानुभवः प्रमा' इति प्रमालक्षणमीश्वरज्ञानेऽपि अविरुद्धमिति ईश्वरः प्रमाणमेव नाप्रमाणमिति ग्रन्थकारस्याभिप्रायः (का० ४–१) ।

ज्ञाततारवण्डनम् (का० ४–२)—

'अगृहीतग्राहिज्ञानं प्रमा' इति प्रमालक्षणमभ्युपेत्य ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वात् तज्ज्ञाने अगृहीतग्राहित्वं नोपपद्यते इति ईश्वरज्ञानं न प्रमा । अत ईश्वरः न प्रमाणमिति पूर्वपक्षः उपस्थितः आसीत् । अस्मिन् प्रमालक्षणे धारावाहिकबुद्धिस्थले अतिव्याप्तिं दर्शयित्वा पूर्वपक्षोऽयं प्रथमकारिकायां प्रत्याख्यात आसीत् । तत्र पूर्वपक्षी पुनः प्रत्यवतिष्ठते यत् धारावाहिकबुद्धिस्थले अगृहीतग्राहित्वस्य नाव्याप्तिः । प्रथमक्षणे यो घटः गृहीतस्तत्र विभिन्नो ज्ञातताधर्मः । द्वितीयक्षणे गृह्यमाणे च घटे पूर्वस्मात् ज्ञातताधर्मात् विभिन्नो ज्ञातताधर्माः इति ज्ञातताधर्मभेदात् घटद्वयेऽपि भेदोऽभ्युपेयः । ततश्च ज्ञातताधर्मभेदात् द्वितीयादिज्ञानमगृहीतग्राहिज्ञानमेव इति नाव्याप्तिः । इति पूर्वपक्षस्याशयः ।

अत्र घटे ज्ञातताधर्ममवलम्ब्य अव्याप्तिः परिहृता । ज्ञातताधर्मविषये मीमांसकानामयं सिद्धान्तः । यत् घटज्ञानस्य विषये घट एव भवति न पटः । इत्यत्र विषयतानियमार्थं घटज्ञानजन्यो घटनिष्ठो ज्ञातता नाम धर्मोऽभ्युपेयः, तञ्च धर्ममाश्रित्य धारावाहिकबुद्धिस्थले घटभेदात् अगृहीतग्राहित्वस्य नाव्याप्तिः अत्र नैयायिकाः ज्ञातता-

धर्मं परिहरन्ति। तन्मते घटज्ञानयोः स्वाभाविक एव विषयविषयिभावः। न ज्ञातताकृतः। ज्ञाततामूलके विषयविषयिभावेऽभ्युपगम्यमाने अतीतानागतयोर्विषयत्वं न स्यात्। वर्तमानेऽर्थे ज्ञाततासम्भवेऽपि अतीतानागतयोरर्थयोरेवाविद्यमानत्वात् न तत्र ज्ञातता इति न तयोर्विषयविषयिभावः। तस्मात् विषयविषयिभावः स्वाभाविक एव मन्तव्य इति सर्वमभ्युपेत्य कारिकायामुक्तं 'स्वभावनियमाभावादुपकारो हि दुर्घटः'।

विषयज्ञानयोः स्वाभाविक एव विषयविषयिभावो मन्तव्यः। अन्यथा स्वीकृतेऽपि ज्ञातताधर्मे 'उपकारो हि दुर्घटः' विषयविषयिभावव्यवस्था उपपादयितुमशक्या। 'सुघटत्वेपि सत्यर्थे' विद्यमानेऽर्थे ज्ञाततामूलके विषयविषयिभावे सुघटे सत्यपि 'असति' अविद्यमाने अतीते अनागते वाऽर्थे 'का गतिः' न हि तत्र ज्ञाततामूलको विषयविषयिभावः। अतीतानागतयोरर्थयोराधारभूतयोरभावात् न तत्राधेयभूता ज्ञातता। अतो विषयतानियमार्थं तत्रावश्यं स्वाभाविक एव सम्बन्धो नियामकः इति मन्तव्यम्। इति ज्ञातताावलम्बेन धारावाहिकबुद्धिस्थले द्वितीयादिज्ञाने नाव्याप्तिनिरासः। अतः तददुष्टमेव प्रमालक्षणम्। (का० ४-२)

पुनरपि ज्ञातताखण्डनम् (का० ४-३)—

'या या क्रिया सा सा कर्मनिष्ठकिञ्चिज्जनिका' इति व्याप्तिमवलम्ब्य पूर्वपक्षी ज्ञानक्रियया घटे ज्ञातताधर्मोत्पत्तिं साधयति, तन्निराकरणाय 'अनैकान्तादसिद्धेर्वा०' इत्यादिकारिकायाः आरम्भः। ज्ञानक्रियया घटनिष्ठज्ञातताधर्मसिद्धौ, हेतोरनैकान्तिकत्वं स्वरूपासिद्धत्वं वा इति क्रिया ज्ञातातासिद्धौ लिंगं न भवति। तथा हि क्रियाशब्दस्य १. धात्वर्थः, २. करणव्यापारः, ३. स्पन्दश्चेति त्रयोऽर्थाः सम्भवन्ति। तत्राद्ये 'शरेण गगनं युनक्ति' इत्यत्र युजधात्वर्थेन गगननिष्ठकिंचिदजननादनैकान्तिकत्वम्। द्वितीये चक्षुषा घटं पश्यति इत्यत्र इन्द्रियसंयोगादिना करणव्यापारेण घटनिष्ठकिञ्चिदजननात् अनैकान्तिकत्वम्। तृतीयज्ञानस्य स्पन्दनात्मकत्वात् 'यो हेतुः आश्रयेणावगम्यते स स्वरूपासिद्धः' इति लक्षणात् स्वरूपासिद्धो हेत्वाभासः। एवमनैकान्तिकत्वात् स्वरूपासिद्धत्वात् वा क्रिया इह ज्ञातातासिद्धौ लिंगं न भवति इत्युक्तम्—'अनैकान्तादसिद्धेर्वा न च लिङ्गमिह क्रिया।'

एवमनुमानेन न ज्ञातातासिद्धिः इति पूर्वपक्षे निराकृते पूर्वपक्षी 'ज्ञातो घटः' साक्षात् कृतो घटः इत्यादिप्रत्यक्षे ज्ञाततां विषयत्वेनाङ्गीकृत्य प्रत्यक्षबलेन ज्ञाततां साधयति, तन्निराकरणाय—'तद्वैशिष्ट्य०' इत्यादिकारिकायाः उत्तरार्द्धः। तस्यायं भावः—ज्ञातो घटः इति बुद्धिः 'दण्डिपुरुषः' इति बुद्धिवत् विशिष्टबुद्धिः। विशिष्टबुद्धौ च विशेषणं विशेष्यं तयोः सम्बन्धश्चेति त्रयमेव भासते। यथा दण्डी पुरुषः इत्यत्र १. विशेषणभूतो घटः २. विशेषभूतः पुरुषः ३. तयोः संयोगसम्बन्धश्चेति त्रयं भासते। एवं ज्ञातो घट इत्यत्र १. विशेषणभूतं ज्ञानम् २. विशेष्यभूतो घटः, ३. स्वरूपसम्बन्धश्चेति त्रयमेव भासते। अतोऽधिकं

ज्ञातताधिकं किंचिदत्र भासते इत्युक्तम्–'तद्वैशिष्टयप्रकाशत्वान्नाध्यक्षानुभवोऽधिके ।' 'अधिके ज्ञाततादिरूपे धर्मे 'नाध्यक्षानुभवः' न प्रत्यक्षानुभव इत्यर्थः । तस्मात् नानुमानात् नापि प्रत्यक्षबलात् ज्ञातता सिद्धयति । अतो ज्ञातताधर्ममवलम्ब्य यो विषयविषयिभावो मीमांसकैः व्यवस्थाप्यते । यच्च धारावाहिकबुद्धिस्थले अव्याप्तिनिराकरणं तैः क्रियते तदु-भयमपि न समीचीनम् इति ग्रन्थकर्त्तुरभिप्रायः ।

एवमपि चेत् ज्ञातो घटः इति प्रतीतिबलात् ज्ञाततामभ्युपगच्छति पूर्वपक्षी तदा 'कृतो घटः', 'दृष्टो घटः' इत्यादिप्रतीतिभ्यो घटे इष्टताकृततादयो बहवो धर्माः स्वीकर्त्तव्याः स्युः । ते चानुपपन्ना इति ज्ञाततापि अनुपपन्ना । 'ज्ञातो घटः' 'कृतो घटः', इत्यादिषु प्रतीतिषु घटस्यैक्येऽपि यो भेदो दृश्यते स क्रियासम्बन्धादेव भवति । न ज्ञानतादिधर्मसम्बन्धात् । यथा निराकारेऽपि ज्ञाने घटपटादिविषयसम्बन्धात् घटज्ञानं पटज्ञानं इति भिन्नाकारा प्रतीतिः । एवं एकस्मिन्नपि घटे दर्शनज्ञानादिक्रियाभेदात् 'दृष्टो घटः' 'ज्ञातो घटः' इत्यादि-भिन्नाकारा प्रतीतिः । न तु ज्ञाततादिधर्मबलात् इत्यस्मिन्नर्थे वृद्धसम्मतिं प्रमाणयति—

अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम् ।
क्रिययैव विशेषो हि व्यवहारेषु कर्मणाम् ॥ (का० ४–३)

